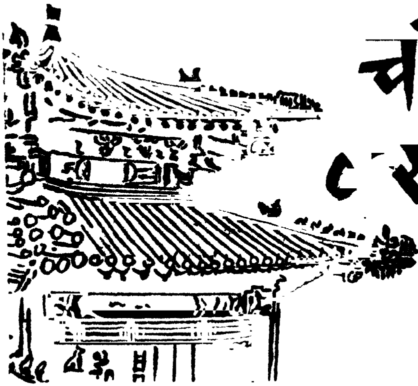
चीन में क्या देखा?



राहुल सांकृत्यायन

पीपिल्स पब्लिशिंग हाउस, 1960



चीन में क्या देखा

राहुल सांकृत्यायन

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड
रानी झांसी रोड, नई दिल्ली १.

प्रथम संस्करण
जनवरी, १९६०

मूल्य :
चार रुपये

डी. पी. सिन्हा द्वारा न्यू एज प्रिंटिंग प्रेस,
रानी झांसी रोड, नई दिल्ली में मुद्रित और
उन्हीं के द्वारा पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.)
लिमिटेड, नई दिल्ली की तरफ से प्रकाशित।

विषय सूची



भूमिका

चीन में साढ़े ४ महीने में मैंने क्या देखा, इस सबको यहां लिखना संभव नहीं था। तो भी हमारे देशवासियों को चीन की प्रगति मालूम होनी चाहिए, इसलिए मैंने यह पुस्तक लिखी है। प्रगति के बारे में जो कहना था, वह स्थान-स्थान पर आ गया है। साम्यवाद ने चीन में कितनी शीघ्रता से कायापलट की है, इसे देखकर मुझे बार-बार यही ख्याल आता था कि हमारे यहां भी उसकी आवश्यकता है। लेकिन, यहां पूंजीवाद पग-पग पर रुकावट डालने के लिए तैयार है। सच्चाई का जानना हर भारतीय के लिए सुलभ नहीं है, क्योंकि सभी प्रभावशाली अखबार करोड़पतियों के हाथ में हैं और उन्हींकी भाषा बोलते हैं। उनका उद्देश्य यही है कि झूठ का प्रचार करके लोगों को गुमराह करें। हमारे यहां कुछ ऐसे भी दल हैं जो समाजवाद की दुहाई देते हैं, लेकिन करते हैं "मुंह में राम, बगल में छुरी" वाली बात। उनका उद्देश्य समाजवाद का नाम ले समाजवाद को आने से रोकना है। कम्युनिस्ट देश, कम्युनिस्ट पार्टी या कम्युनिज्म वह कसौटी है, जिसके द्वारा सच्चाई-झुठाई का पता आसानी से लग सकता है। जो उनका विरोध करने को ही अपना सबसे बड़ा लक्ष्य मानते हैं, वे समाजवाद के आने में बड़े बाधक हैं और वे वही काम करते हैं, जिसमें पूंजीवादियों का हित है।

हाल में तिब्बत के झगड़े को लेकर यह बातें साफ हो गयी हैं। हमारे यहा के पूंजीवादी अखबार जो कुछ कह रहे हैं, उसी को श्रीमान जयप्रकाश, कृपलानी, अशोक मेहता जैसे सज्जन और दूसरे लोग दोहरा रहे हैं। तिब्बत में क्या हुआ और उसका कारण क्या था, यह निम्न पंक्तियों से मालूम हो जायगा।

फरवरी के दूसरे सप्ताह में तिब्बत में एकाएक गड़बड़ी शुरू हुई। पश्चिमी साम्राज्यवादी, विशेषकर अमरीकी पहले ही से तिब्बत को लेकर अपना प्रचार जारी किये हुए थे। इस झगड़े के बाद तो उन्होंने सर्वस्व की बाजी लगा दी।

तिब्बत का इतिहास बतलाता है कि दसवीं शताब्दी के बाद से १९११ ईसवी तक जब-जब भी चीन एकताबद्ध रहा, तब-तब तिब्बत बराबर चीन की छत्रछाया में रहा। दलाई लामा का शासन वहां शाहजहां के जमाने में, १६४० ईसवी के आसपास, स्थापित हुआ। तब से चीन में गणराज्य की स्थापना के समय तक तिब्बत में चीनी प्रतिनिधि—अम्बन—तिब्बती शासन की देखभाल करता था। हमारे सर्वेयर नैनसिंह, किशनसिंह की १८६२ और बाद की यात्रा-डायरियों को पढ़िए। उनमें बराबर तिब्बत की सीमाओं और राजधानी में भी चीनी सेना और चीनी अफसरों का उल्लेख आप पायेंगे। अपनी पहली यात्रा में तिब्बती सेना ने नैपाल से केरोङ् के रास्ते आगे बढ़ने नहीं दिया, तो नैनसिंह ने चीनी सेनापति के पास अपील की। जब उसने भी इनकार कर दिया, तो उन्हें दूसरा रास्ता पकड़ना पड़ा। इतनी दूर जाने की जरूरत नहीं। १९०३-४ में जापानी यात्री कावागूची के यात्रा विवरण को पढ़िए। उसमें भी हर जगह चीनी सेना के होने का उल्लेख मिलेगा। मंचू शासन के अंतिम दिनों में जो दुर्व्यवस्था चीन में हुई थी, उससे फायदा उठाकर अंग्रेज भीतर घुसने की कोशिश करने लगे और अन्त में यंगहसबैंड के नेतृत्व में १९०४-५ में उन्होंने सेना भी भेजी। रूस से ठन जाने का डर था, इसलिए तिब्बत के ऊपर चीन के आधिपत्य को दोनों देशों ने स्वीकार किया। १९११ से १९४९ तक चीन गृह-युद्ध में फंसा था, इसी समय अंग्रेजों और दूसरे साम्राज्यवादियों ने कोशिश की कि चीन और तिब्बत के पुराने सम्बन्ध को नष्ट कर दिया जाय। इतिहास तो हमें यही बतलाता है।

१६४८-४६ में तिब्बत के सामन्तों की यह कोशिश रही कि तिब्बत किसी तरह चीन के आधीन न हो पाये। उन्होंने अपना प्रतिनिधि मंडल अमरीका और इंगलैंड भेजा। दोनों साम्राज्यवादी देश इनकी सहायता करना चाहते थे, पर यह तभी हो सकता था यदि भारत सरकार सहयोग देने के लिए तैयार होती।

अमरीका करोड़ों डालर की वर्षा कर सकता था। लेकिन डालर तो चीनी जनमुक्ति सेना से नहीं लड़ सकते थे। आज जो लोग चीन के विरुद्ध बगावत के लिए खड़े हुए हैं, उनमें से दो-तीन प्रमुख व्यक्तियों ने मुझसे कुछ पूछा था। मैंने यही कहा कि चीनी सेना के सामने लड़ने का ख्याल भी बेवकूफी है। चीन और तिब्बत का सम्बन्ध बहुत पुराना है। उस सम्बन्ध को नवीन चीन फिर से स्थापित किये बिना नहीं रहेगा। आप लोगों के लिए दो रास्ते हैं: जब तक चीनी सेना सीमा के भीतर नहीं आ जाती, तब तक जो धन निकाला जा सके, उसे लेकर कलिंगपोंग में आ बसिए। यदि देश से प्रेम है, तो वहीं रहिए। चीनी कम्युनिस्ट आपकी सेवा और योग्यता का उपयोग करने से बाज नहीं आयेंगे। एक मंत्री के छोटे भाई तथा स्वयं जनरल ने कुछ समय बाद मुझसे कहा: हमने निश्चय कर लिया है कि हम तिब्बत ही में रहेंगे। चीनी यदि हमसे काम लेना चाहें, तो हम करेंगे, पर देश छोड़ेंगे नहीं।

अन्त में तिब्बत के प्रभुओं ने चीन से समझौता किया। चीन ने उसे स्वायत्त शासन का अधिकार दिया और तिब्बत की तत्कालीन सरकार ने चीन के आधिपत्य को स्वीकार किया।

कम्युनिस्ट चीन ने च्यांग काई-शेक की लड़ाई के समय लड़नेवालों में से चाहे कितनों ही को मारा हो, पर उसके बाद उनकी सारी नीति शांतिपूर्ण रही। करोड़पति मिल-मालिकों के कारखाने भी उनके हाथ में रहने दिये। पांच वर्षों बाद १६५४ में स्वयं पूंजीपतियों और उनसे भी अधिक उनकी सन्तानों की ओर से मांग हुई कि सभी निजी कल-कारखाने सरकार के हाथ में दे दिये जायें। करोड़पतियों ने १६५४ में इस विचार को कार्यरूप में परिणत किया और सभी कल-कारखाने सरकार तथा निजी संयुक्त प्रबन्ध में चले गये। तिब्बत में चीन सरकार ने और भी अधिक

उदारता से काम लिया। शायद तिब्बत में इतनी उदारता न दिखाई होती, तो उसे वर्तमान स्थिति का मुकाबला न करना पड़ता। १९५१ तक चीन में सब जगह भूमि-सुधार को कार्यरूप में परिणत कर दिया गया। जमीन पर जोतने वालों को अधिकार दे दिया गया। जमींदारी बिल्कुल खत्म कर दी गयी। पर तिब्बत में भूमि-सुधार का नाम भी नहीं लिया गया।

तिब्बत की भूमि-प्रथा साधारण अर्थ में जमींदारी प्रथा नहीं, बल्कि सामन्ती अर्धदासता की प्रथा है। जमीन और उसके जोतनेवाले दोनों पर भूमिपति का अक्षुण्ण अधिकार है। भूमिपति अपने अर्धदास किसान को जान से नहीं मार सकता, बाकी सब कुछ करने का अधिकार उसे है। जान से मारकर भी उसे मुक्त होने में कोई दिक्कत नहीं थी। भूमिपतियों के घरों में किसानों के बेटे-बेटियां बरसों बेगार करते हैं। उनकी कोई तनख्वाह नहीं। भूखे-प्यासे काम करते हैं।

ऐसी जघन्य भूमि-प्रथा पर चीनी राजनीतिज्ञों ने इसलिए प्रहार नहीं किया कि तिब्बत के सामन्तों को नाराज होने का मौका न मिले। तिब्बत में सारी भूमि का तीन हिस्सा से अधिक मठों और महन्तों का है और बाकी के स्वामी गृहस्थ सामन्त हैं। महन्तों में भी बहुत अधिक सामन्तों के पुत्र हैं। उनके इस अधिकार को अक्षुण्ण रखना सामान्य जनता के हित के विरुद्ध था। पर चीनी समझते थे कि अभी कुछ भी करने से अजान जनता को सामन्त भड़का देंगे। नाहक खून-खराबी होगी। इसकी जगह उन्होंने अपना सारा ध्यान मोटर की सड़कें बनाने, शिक्षा प्रचार और खनिजों के अनुसंधान में लगाया। तिब्बत में तीन हजार से अधिक मील तक मोटर की सड़कें बनीं। वे ऐसी दुर्लंघ्य पहाड़ों और बयाबानों से निकाली गयी हैं, जिनको देखकर आश्चर्य होता है। उत्तर से १३००-१४०० मील लम्बी रेलवे लाइन लाकर लासा से मिलाने का काम भी आरंभ होने वाला है। तिब्बत के हर स्थान पर लड़कों के लिए स्कूल खोले गये। कस्बों और शहरों में कुछ हाई स्कूल भी स्थापित किये गये। जहां क-ख पढ़ने की भी टाइप में छपी कोई पुस्तक तिब्बत में नहीं मिलती थी, वहां सभी क्लासों के लिए पाठ्य-पुस्तकें छापी गयीं। होनहार लड़के-लड़कियों की उच्च शिक्षा के लिए पेकिङ्, लन्-चाउ में और दूसरी जगहों पर प्रबन्ध किया गया।

पीकिङ्· के अल्पजातिक कालेज में १००० तिब्बती लड़के-लड़कियां पढ़ते हैं और लन्-चाउ में १२०० से अधिक। इन दोनों महाविद्यालयों को मैंने स्वयं देखा है। भावी तिब्बत के निर्माण के लिए वे वहां अपने को तैयार कर रहे हैं।

चीन ने तिब्बती सामन्तशाही को अभी तक ऐसा मौका नहीं दिया था कि वह उससे नाराज हो। पर, चीन में जब सारे किसान कम्यून में संगठित्त हो गये, जिसमें कृषि और उद्योग के प्रबन्ध और विकास के साथ-साथ चरम दर्जे की समानता देखी जाती है, तो इसका प्रभाव तिब्बत पर पड़े बिना कैसे रह सकता था? भूमिपति और महन्त सोचने लगे कि वह दिन हमें भी देखना पड़ेगा। यदि नई पीढ़ी शिक्षित होकर तैयार हो गयी, तो फिर हथियार उठाने का समय निकल जायेगा। इसीलिए उन्होंने यह प्रयत्न किया।

अभी आम जनता इतनी समझ नहीं रखती कि अपने हित को देखकर जमींदारों से अपने स्वार्थ को पृथक करे। दलाई लामा के बारे में अभी भी वहां की जनता को भ्रम है। लेकिन यह एक प्रकार का अंध-विश्वास है। साम्राज्यवादी और उनके लग्गू-भग्गू चाहे कितना भी कागजी तलवार क्यों न चलायें, पर तिब्बती जनता का कोई बाल-बांका नहीं कर सकता। अब वहां से सामन्तवाद का जनाजा निकल कर ही रहेगा। पहले कुछ देरी भी लगती, पर अब यह काम जल्द ही सम्पन्न हो जायेगा। हमारे यहां के कुछ नेता तिब्बत के सामन्तों की इसी बगावत को तिब्बती जनता की बगावत कहते हैं और उसे राष्ट्रीय विद्रोह का नाम दिया जा रहा है।

अब तिब्बत के सामन्ती विद्रोह को जरा हम भारतीय दृष्टि से देखें। भारत और चीन का सम्बंध दो हजार वर्ष पुराना है। हमारे दोनों देशों में कभी लड़ाई की नौबत नहीं आयी। सिर्फ एक बार ६४४ ईसवी के आसपास चीनी सेना नेपाली और तिब्बती सेना को साथ लिये उत्तर भारत में आयी थी।

सम्राट हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद अर्जुन ने जबर्दस्ती कन्नौज के सिंहासन पर अधिकार कर लिया था। चीनी राजदूत उसके दरबार में आया। अर्जुन ने उसका बहुत अपमान किया। चीन का अपमान समझकर राजदूत को सेना के साथ भेजा गया। जनता अर्जुन के पक्ष में नहीं थी,

नहीं तो चीनी सेना लड़ाई में हराकर अर्जुन को कन्नौज से पकड़कर चीन ले जाने में सफल नहीं होती। यदि कभी कटुता का भाव हमारे दोनों देशों में हुआ, तो सिर्फ यही अर्जुन की घटना है। आज चीन और स्वतन्त्र भारत का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ और मधुर है। किसी भी पार्टी या राजनीतिक विचार का भारतीय चीन में जाकर यह देख सकता है कि चीनी लोग भारतीयों को अपना घनिष्ठ आत्मीय समझते हैं, और उनके साथ वैसा ही बर्ताव करते हैं। हमारी उत्तरी सीमा लदाख से आसाम तक चीन से मिलती है। बीच में भूटान और नैपाल की सीमा आती है। भूटान वैदेशिक सम्बन्ध में भारत से वैधानिक एकता रखता है। नैपाल स्वतन्त्र होकर भी अपनी उत्तरी सीमा को भारत के बलपर ही सुरक्षित रख सकता है। इसलिए दो हजार मील से अधिक हमारी उत्तरी सीमा चीन गणराज्य से सम्बद्ध है।

द्वेष या मूर्खता से पागल हमारे कितने ही नेता आज इस कोशिश में हैं कि तिब्बत को लेकर हम चीन के साथ खुल्लमखुल्ला सक्रिय विरोध प्रकट करें। इसका क्या परिणाम होगा? दोनों देशों में वैमनस्य, सन्देह और खतरे की आशंका है। जहां दो हजार मील के सीमान्त पर हमें एक भी सैनिक रखने की आवश्यकता नहीं थी, वहां हर जगह बड़ी-बड़ी छावनियां और प्रतिरक्षा की तैयारी करनी पड़ेगी। एक पाकिस्तान ही हमारे सैनिक बजट को इतना बढ़ाये हुए है जिससे हम परेशान-परेशान हैं। क्या हम चीन को भी "आ बैल मुझे मार" कहने जा रहे हैं?

जिस दृष्टि से भी देखें, तिब्बत की आग में हमें हाथ डालने की आवश्यकता नहीं। सामन्तों का यह विद्रोह पानी का बुलबुला है। इसके फूटने में देर नहीं लगेगी। कलिंपोंग साम्राज्यवादी शक्तियों के सैकड़ों दूतों का अड्डा है। वहां सैनिक तैयारी नहीं की जा सकती, पर हथियार छोड़ बाकी सभी चीन-विरोधी कार्य वहां होते हैं। कलिंपोंग का बच्चा-बच्चा इन गुप्तचरों की कार्रवाइयों को अपने सामने होते देखता है। कल के भूखे मरते पचासों लोगों को साहब बने घूमते देख आदमी प्रश्न करते हैं, यह पैसा कहां से आया? मैं यह बातें कलिंपोंग के व्यक्तिगत परिचय के आधार पर कह रहा हूं। कलिंपोंग की आज वही स्थिति है, जो प्रथम विश्व युद्ध और बोलशेविक क्रान्ति के बाद रीगा (इस्तोनिया) की थी।

साम्राज्यवादियों को तिब्बत में अपनी चाल चलने के लिए कलिंपोंग से बढ़कर कोई अड्डा नहीं मिल सकता था। यदि हमारी सरकार इसको नहीं जान रही है, तो इसका मतलब है कि उसका खुफिया विभाग या तो अत्यंत अयोग्य है या अविश्वसनीय।

दलाई लामा मसूरी पहुंच गये। उनके साथ वही पुराने सामन्त हैं, जिन्होंने हजारों वर्षों तक तिब्बत के लोगों को अर्धदास बनाकर मौज की और जब भविष्य मटमैला दिखाई पड़ा, तो हथियार उठाने के लिए तैयार हो गये। दलाई लामा के दो भाई अमरीका में पहले से ही जमे हुए हैं। अमरीका इनका भी स्वागत करने के लिए तैयार है, क्योंकि उनको हथियार बनाकर चीन के खिलाफ वह खूब प्रचार कर सकता है। दलाई लामा को दो रास्तों में से एक रास्ता पकड़ना है, या तो दिन का भूला रात को घर आये और यदि चीन का विरोध करना है, तो वह भारत से नहीं हो सकता। उसके लिए अच्छा स्थान अमरीका ही है। दुनिया में अपने प्रचार के लिए अमरीका अरबों डालर बरसा रहा है। उसमें से १-२ लाख मिलना मुश्किल नहीं है। लेकिन ऐसा करने पर दलाई लामा तिब्बत में हमेशा के लिए विस्मृत हो जायेंगे—जैसे बाहरी मंगोलिया का बड़ा लामा जेचुन्-तम्बा। तिब्बत में एक भविष्यवाणी मशहूर है कि १३वें दलाई लामा के बाद दलाई लामों का खात्मा हो जायगा और ये हैं, १४वें दलाई लामा।

भारतीयों को इसके लिए चीन से वैमनस्य करना बहुत घाटे का सौदा पड़ेगा। मैं समझता हूं, यह चिल्ल-पों बहुत दिनों तक नहीं रहेगी।

देहरादून,
१ मई, १९५९

राहुल सांकृत्यायन



प्रस्थान

रंगून में

इधर नवीन चीन देखने की इच्छा कुछ वर्षों से हो रही थी। मैं तो समझता था, १९५७ के जाड़ों में जाने का मौका मिलेगा। १९५८ की गर्मियां आ गयीं। उससे बचने के लिए कश्मीर चला गया। वहीं निमन्त्रण मिला। दिल्ली में और बातों से भुगतते १० जून को कलकत्ता पहुंचा? रेल में पंखा था, लेकिन दम घुटा जा रहा था। कलकत्ता से भी छुट्टी मिलने में चार-पांच दिन लगे। १५ जून को चार घंटे की उड़ान से रंगून पहुंचा। मेरे बर्मी और भारतीय मित्र स्टेशन पर मिले। पूंजीवादी देशों में कस्टम की व्यवस्था परेशान करने वाली होती है। रंगून में तो वह पराकाष्ठा को पहुंची थी। कीमती जेवरों, धातुओं और दूसरी चीजों को छिपाकर ले जाने का जो बड़े व्यापक रूप में व्यापार हो रहा है, उसी का कारण यह कठोरता है। मुझे उतनी दिक्कत नहीं उठानी पड़ी, क्योंकि मेरे एम० पी० बर्मी मित्र ऊ थेन्-पे विमान से उतारकर मुझे ले आये। पर तीन महीने बाद जब मेरी पत्नी बच्चों के साथ यहां उतरी, तो उन्हें बहुत परेशान किया

गया। तलाशी लेनेवाली महिला ने नोटों के दिखाने पर पांच रुपये का नोट अपने पास रख लिया। रहने का प्रबन्ध गोयनका जी के घर मर्चेन्ट्स स्ट्रीट में हुआ था। गोयनका जी अब बर्मा के नागरिक हैं। जो भारतीय बर्मा में ही कारबार करते हैं और यहां के ही चिरनिवासी हैं, उनके लिए यही करना अच्छा है।

अड्डे पर उस दिन चीनी दूतावास के प्रतिनिधि भी आये थे। उन्होंने दूतावास में रहने का निमन्त्रण दिया, पर मैंने अपने भारतीय मित्रों के साथ रहना ही पसन्द किया। मारवाड़ी बन्धुओं की नई पीढ़ी अब बहुत आगे चली गयी है। योरप, अमरीका की सैर करना, होटलों में खाना, उनके लिए बिल्कुल स्वाभाविक बात हो गयी है। गोयनका जी भी विदेश घूम आये हैं। छुआछूत का उनमें कोई विचार नहीं है। हां, आमिष नहीं गृहण कर सकते। उनकी माता भी जानती हैं कि युग के अनुकूल रहना हमारे बच्चों के लिए अच्छा है, इसलिए बिल्कुल विरोध नहीं करतीं। मारवाड़ी और दूसरे भारतीय व्यापारी अपने घरों में बर्मी नौकर नहीं रखते, जिसका एक बुरा परिणाम यह है कि उनकी स्त्रियां वर्षों बर्मा में रहने पर भी बर्मी नहीं बोल पातीं। जब बर्मी उनके देश-बन्धु हैं, तो उनके साथ ऐसा भेदभाव रखना अच्छा नहीं। मेरे कहने पर एक महिला ने कहा कि वे मांस-मछली खाते हैं। पर, मांस-मछली तो हमारे देश के भी घरों में काम करने वाले नौकर खाते हैं। इसे उन्होंने भी माना। आशा करनी चाहिए कि कुछ ही समय में बर्मी स्त्री-पुरुष भी व्यापारियों के घरों में काम करने लगेंगे।

१५ जून को मैं पांच बजे शाम को रंगून पहुंचा था। उस दिन से २० जून तक के लिए गोयनका जी का सबसे ऊपर का कमरा अखंड गोष्ठी-स्थान बन गया। जितने भारतीय और बर्मी बन्धु मिल सकें, उतना ही मेरे लिए अच्छा था। मेरे बहुत पुराने मित्र महास्थविर उक्कट्ठा मिले। वह कितने ही साल तक भारत में रहे हैं। उनका परिचय २० बरस पुराना था। रंगून में दर्शनीय स्थान श्वेदगोन पगोडा, शांति स्तूप आदि देखे। अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध प्रतिष्ठान के संचालक ने अपने पुस्तकालय और कार्य-कर्ताओं को दिखलाया। म्युजियम के संचालक से बात करने में बड़ी

प्रसन्नता होती थी। कई सभाओं में भाषण देना पड़ा। गोयनका जी अपने टेप रिकार्ड पर सभी भाषणों को उतरवाते रहे। मेरे हिंदी भाषण ऐसे स्थानों पर भी हुए, जहां अंग्रेजी जानने वाले श्रोता थे। पारगू महाशय मेरी कई पुस्तकों के बर्मी अनुवादक हैं, वह अनुवाद करने के लिए तैयार थे। बर्मा लेखक संघ में श्री ऊ थेन्-पे ने भाषण और भोजन रखवाया। "वोल्गा से गंगा", "बौद्ध दर्शन", "सिंह सेनापति" आदि पांच-छै पुस्तकों के बर्मी में प्रकाशित होने के कारण मैं बर्मी लेखकों के लिए अपरिचित नहीं था। मुझे भी २० से अधिक लेखक बन्धुओं से परिचय प्राप्त कर बड़ी प्रसन्नता हुई। ६२ वर्ष के वृद्ध और मूर्धन्य साहित्यकार को देखने उनके घर गया। उन्होंने स्वतंत्र बर्मा के राजा थीबो (शिव) के शासन को देखा था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कांग्रेस आदि संस्थाओं ने भी अपनी आत्मीयता दिखाकर कृतार्थ किया। छै दिन जाते देर नहीं लगी। सबको और मुझे भी इतनी जल्दी जाने में सन्तोष नहीं हो रहा था। मैंने यह कहकर सन्तोष करना चाहा कि लौटते वक्त फिर रंगून आना होगा, उस समय अधिक समय तक यहां रहूंगा। पर, लौटते वक्त मुझे तीन घंटे भी रंगून में नहीं रहना पड़ा।

नभ में

चीनी दूतावास के सन् महाशय ने चीन के लिए प्रस्थान करने का सारा प्रबन्ध कर दिया। बर्मा से चीन रोज विमान नहीं जाता, उसके दिन निश्चित हैं। २१ को सात बजे सवेरे चीनी विमान को उड़ना था। सत्यनारायण जी, ऊ थेन्-पे आदि कितने ही मित्र अड्डे पर आये। ऊ थेन्-पे के रहने के कारण कस्टम और दूसरी कार्रवाइयों में हैरान होने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

सात बजे विमान ने धरती छोड़ी। बर्मा हरा-भरा देश है। समुद्र तट से हटने पर पहाड़ ही पहाड़ मिलते हैं जो बारहों महीने हरे-भरे रहते हैं। वर्षा हो गयी थी, इसलिए चारों ओर हरियाली गहगहा रही थी। जंगलों के बीच में गांव और खेत मिले। यह चावल का देश है। प्रायः १० हजार फीट की ऊंचाई पर उड़ता हमारा विमान उत्तराभिमुख जा रहा

था। कितनी ही दूर तक इरावती नदी पथ-प्रदर्शन करती रही। फिर पर्वत-श्रेणियों को लांघकर मेकांग नदी मिली। यह एशिया की बड़ी नदियों में है। इसी के बाद हम चीन की भूमि में प्रविष्ट हुए। नदी-पहाड़ और जंगल में बर्मा और चीन के युन्नान प्रदेश में कोई अन्तर नहीं। चीन का यह बहुजातिक भाग है। शान् लोग बर्मा में बसते हैं और चीन में भी। थाई लोग थाई भूमि (श्याम) में बसते हैं और युन्नान में भी। प्रदेश बहुत विशाल है। क्षेत्रफल को देखते हुए जनसंख्या बहुत कम है, अर्थात् उत्तर प्रदेश के बराबर के क्षेत्र में सिर्फ पौने दो करोड़ आदमी रहते हैं।

हमारा विमान भीतर और बाहर दोनों से बहुत सुन्दर था। चीन में उड़नेवाले विमानों की तरह यह भी रूस का बना था। पांच घंटे की यात्रा के बाद बारह बजे के करीब विमान धरती की तरफ उतरने लगा। नीचे दूर-दूर चारों ओर पहाड़ों से घिरी विस्तृत भूमि दिखाई देने लगी। भारत या दूसरे देशों के उड़नेवाले विमानों में विमान के उठते और उतरते समय कमरपेटी बांधने की सूचना दी जाती है। चीन के विमानों में कमर-पेटी होती ही नहीं। वह धीरे-धीरे जमीन पर उतरा। चीन की भूमि का स्पर्श किया। मेरा निमन्त्रक चीन बौद्ध संघ था। उतरते ही बौद्ध संघ के प्रतिनिधि तथा एक सरकारी प्रतिनिधि स्वागत के लिए आगे बढ़े और कार पर बैठा कर २० किलोमीतर दूर कुन्मिङ् ले गये।

प्रथम झांकी

नगर के एक छोर पर विशाल उद्यान के पास बने एक दुमंजिला नये होटल में जाने पर खयाल आया कि यहां दिन काटने से अच्छा है, कुछ देख आयें। रंगून में विमान पर चढ़ते समय एक और भारतीय श्री चेरियन थामस मिल गये। इतनी देर में हम बहुत आत्मीय बन गये थे। चेरियन विनोबा जी के संगठन में काम करते हैं और कितने ही समय से हिन्दू विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों में रहते थे। चीन के कृषि-विभाग ने उन्हें एक महीने के लिए बुलाया था। हमारे स्वागतकारी मित्रों ने हमारी इच्छा

सुनी तो तैयार हो गये। भाषा की दिक्कत चीन में नहीं होती, क्योंकि हिन्दी या अंग्रेजी के दुभाषिये आसानी से मिल जाते हैं (मुझे केवल अंग्रेजी के दुभाषियों से काम लेना पड़ा)। चेरियन केरल के रहनेवाले हैं, पर उत्तर भारत में रहते-रहते हिन्दी भी जानते हैं। देखकर खयाल आया कि कहीं मैंने उनको देखा है। अन्त में यह मालूम होते देर नहीं लगी कि सेवाग्राम में श्री आर्यनायकम् के यहां हमारी मुलाकात हुई थी। हम पश्चिम पर्वत का एक पुराना बिहार देखने निकले, जो पांचवीं सदी से पहले बना था। रास्ता दूर तक मैदान का था, फिर पहाड़ आ गया—हरा-भरा पहाड़। बिहार में तीस भिक्षु रहते थे। कलापूर्ण होने के साथ बिहार की स्वच्छता भी देखने लायक थी। पूछने पर पता लगा कि भिक्षुओं की जीविका उपासकों की दक्षिणा और स्वयं अपना कृषि या बगीचे का काम है। पर्वत के पार्श्व में बहुत रम्य स्थान को चुना गया था। भारत हो या अफगानिस्तान, सिक्यांग हो या जापान, कोरिया हो या चीन, सभी जगह बौद्ध बिहार सबसे सुन्दर स्थान में बनाये गये हैं। यह बौद्ध-भिक्षुओं के कला-प्रेम को बतलाता है। बिहार के नीचे की ओर विशाल कुन्मिङ् झील है, जो उसके सौन्दर्य को दुगना कर देती है। लौटते वक्त पहाड़ से निकलकर हम गांव से गुजर रहे थे। गांव को चेरियन महाशय ने देखने की इच्छा प्रकट की। कार सड़क पर खड़ी हो गयी। हम अपने दुभाषिया और पथ-प्रदर्शक के साथ थोड़ा नीचे पास ही एक घर में पहुंचे। उस वक्त वहां खाना तैयार हो रहा था। देखा, खाने में चावल है, भीतर चीनी डाली रोटी भी भाप पर बनी मौजूद है और साथ ही मुर्गी या मछली का मांस। यहां का किसान क्या खाता है, इसका परिचय मिला। चेरियन सन्तुष्ट होकर बोलने लगे: "गरीबी और अन्न का अभाव यहां से दूर हो गया है।" इधर के गांव में खेती भैंसों के बल पर होती है। भैंसे भी हृष्टपुष्ट थे। गांव के आदमियों की देह पर गन्दे कपड़े जरूर देखने में आये, पर नंगी हड्डियां कहीं देखने में नहीं आयीं।

आने-जाने में चालीस मील की यात्रा हुई। शाम को हम पास के बाग में भी गये। चीनी कला प्रकृति का बहुत नजदीक से अनुकरण करती है। इसीलिए बाज वक्त भ्रम होता है कि कोई चीज कृत्रिम है या प्राकृतिक।

इस बाग में आधे दर्जन सं अधिक टेढ़े-मेढ़े सरोवर थे। एक से दूसरे में जाने के लिए नाव का रास्ता था, जिस पर कुछ ऊंचे पुल बने थे। बगीचे के फूल और वृक्ष सरोवरों से आंख-मिचौनी कर रहे थे। घूमते-घामते अंधेरा हो गया। हम उद्यान पुस्तकालय में गये। शायद पहले यह किसी सैनिक सामन्त का विलास भवन रहा हो। भवन विशाल था और कमरे भी बड़े-बड़े थे। बीच में एक लम्बा-चौड़ा आंगन था। कमरों को देखकर हमें सन्देह हुआ कि यह कोई विद्यालय है। बहुत से लड़के-लड़कियां मेजों पर पुस्तकें रखकर वहां बैठे पढ़ रहे थे। किसी देश के पुस्तकालय को हमने इस रूप में नहीं देखा था। पूछने पर मालूम हुआ कि सारे चीन में विद्यार्थी अपने पुस्तकालयों या पाठालयों में पुस्तकें पढ़ते हैं। रहने के कमरे उनके सोने के लिए हैं, पढ़ने के लिए नहीं।

आज सनीचर को आमोद-प्रमोद का दिवस था। होटल के बड़े हाल में नृत्य-महोत्सव मनाया जा रहा था। हमें भी सूचना दी गयी। चेरियन बरसों पश्चिमी देशों, विशेषकर अमरीका में रह चुके थे। वह नौजवान थे, पर उन्हें भी नाचने का शौक नहीं था। मैं तो इस कला में सर्वथा निर्दोष था। हम कुर्सियों पर बैठकर देखने लगे। होटल संचालक हमें बीच-बीच में बतलाते जाते थे।

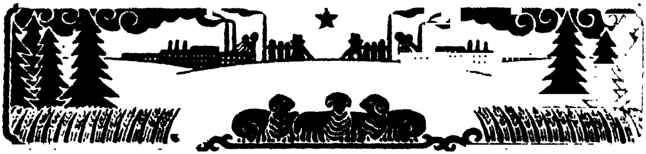
२२ जून को सवा सात बजे रंगून से आया विमान आगे के लिए उड़ा। नौ-दस सज्जन हवाई अड्डे तक पहुंचाने आये। विमान के सह-यात्रियों में तीन रूसी वैमानिक थे। चीनी विमानों के चालकों और सहचरों का देशी-विदेशी यात्रियों के प्रति बड़ा आत्मीय व्यवहार होता है। रास्ते में विमान चुंग्किङ्, सिआन् और तायुवान् में थोड़ी-थोड़ी देर के लिए ठहरा। भोजन सिआन् नगर में हुआ। इस समय हम नगर को नहीं देख सके। नगर चीन की ऐतिहासिक राजधानी छङ्-आन् का ही आधुनिक नाम है। इससे पहले पहाड़ों के भीतर से ही हम गुजरे थे। अब धान के खेत दिखलाई पड़ते थे। छङ्-आन् से आगे वह कम हो गये। रबी की खेती अधिक दिखलाई पड़ी। जगह-जगह कारखानों और फैक्टरियों का निर्माण हो रहा था। सहकारी खेती के कारण अब छोटे-छोटे खेत कहीं नहीं रह गये थे। इधर के पर्वतों में वृक्ष नहीं थे, लेकिन वन लगाने का

प्रयत्न हो रहा है। भूमि नगरों और कस्बों की मालूम होती थी। गांव बहुत कम दिखाई पड़ते थे। प्रायः दस घंटे की उड़ान के बाद पांच बजे शाम को हम पेकिङ् के हवाई अड्डे पर पहुंचे। अड्डा शहर से प्रायः सोलह मील दूर है। बौद्ध संघ के दो उपप्रधान श्री चाउ फू-छू और श्री चाउ शू-चिया दूसरों के साथ अड्डे पर पहुंचे हुए थे। श्री चाउ फू-छू से मैं नैपाल में मिल चुका था, जब कि वह बुद्ध की पच्चीसवीं शताब्दी महोत्सव में सम्मिलित होने के लिए आये थे। वह कवि हैं, संसद सदस्य हैं और बहुत प्रभावशाली व्यक्ति हैं। इसके साथ ही उनके मधुर और विनम्र स्वभाव में बौद्ध संस्कृति मानो साकार हो उठी है। चन्द मिनट के लिए भी सम्पर्क आने पर वह किसी व्यक्ति पर अपना प्रभाव छोड़े बिना नहीं रह सकते। वह बुद्ध-भक्त हैं, लेकिन उनकी भक्ति एक बुद्धिवादी की भक्ति है। चेङ्-चुङ् हमारे दुभाषिया थे।

श्री चेरियन के स्वागत के लिए कृषि मन्त्रालय के लोग आये थे। अब हम दोनों का चीन दर्शन का रास्ता अलग-अलग था, यद्यपि शिन्-चाउ होटल में दोनों के ठहरने के कारण हमारी मुलाकात हो जाया करती थी। शिन्-चाउ होटल पेकिङ् के निवनिर्मित अति सुन्दर विशाल होटलों में से है और छै-मंजिला है। यहां अतिथि के आराम का खयाल करके सभी चीजों की सुविधा है। बैंक भी यहीं है, डाकखाना भी और आवश्यक चीजों की दो तीन दूकानें भी। जून का चौथा सप्ताह चल रहा था। उस समय के तापमान को देखकर यह ख्याल नहीं हो सकता था कि पेकिङ् में हाथों मोटी बर्फ जाड़ों में पड़ जाती है। अक्तूबर के आरंभ से ही यहां माघ-पूस दिखाई देने लगता है। होटल में भोजनशालाओं के अतिरिक्त छतों में पंखे नहीं लगे हैं। पर मेज के पंखे मिल जाते हैं। हमें उसकी शरण लेनी पड़ी। चीन में ठंडा पानी मांगने पर चीनी मित्रों के मुंह से बहुत उपदेश सुनना पड़ता है— ठंडा पानी पीने से बीमारी हो जायगी। पर वहां की गर्मी में मेरा तो ठंडा पानी के बिना गुजारा नहीं हो सकता था। वेटर ने थर्मस में गरम पानी ला रखा। मैंने चेङ् महाशय द्वारा कहलवाया बर्फीला पानी मिलना चाहिए। रिफ्रीजरेटर से ठंडा पानी मिलने में कोई दिक्कत नहीं थी। लेकिन कई दिन दुहराने के बाद मेरे थर्मस में बर्फीला पानी

आने लगा। मैं ऐसे ही पानी को पीता रहा। महीने भर बाद जब हार्ट-अटैक हुआ, तो कभी-कभी मन कहता कि शायद यह चीनी मित्रों की सलाह न मानने का परिणाम है।

होटल में दो तरह की भोजनशालाएं थीं। एक में चीनी भोजन मिलता था और दूसरे में पश्चिमी भोजन। चीनी सिवइयों का सूप और मांस भरकर भाप में उबाले समोसे मैं बहुत पसन्द करता हूं। लेकिन बिना मसाले और बिना छौंक-बघाड़ के हरे सागों को पानी में लबालब देखकर मन फीका हो जाता था। चावल मुझे तभी पसन्द है जब उसके साथ हमारे यहां का रसेदार मांस या मछली हो। वह वहां मिल नहीं सकती थी। इसलिए मैं कभी-कभी ही चीनी भोजनशाला में जाता। भोजनशाला के परिचारकों में स्त्रियां और पुरुष करीब-करीब बराबर थे। आगन्तुक के साथ इतना स्नेह और सहानुभूति के साथ बर्ताव करने की विद्या उन्होंने कहां से सीखी? भाषा से अनभिज्ञ होने पर भी उनका बर्ताव मन मोह लेता था। मेहमानों के लिए नाना प्रकार की शराबें मौजूद थीं। मैं अपने रिकार्ड की रक्षा करने पर तुला हुआ था। इसके लिए कभी-कभी खेद भी होता था, क्योंकि मेरे शराब न पीने पर मेरे दुभाषिया साथी भी उससे अक्सर वंचित हो जाते थे। लेकिन मैं क्या करूं? शराब से मुझे घृणा नहीं है। शराब पीने को मैं अनुचित नहीं समझता। अति तो सभी जगह अनुचित होती है, पर जब मैंने जन्म से ही कभी शराब नहीं पी, तो मेरे मन में इस रिकार्ड को कायम रखने का बड़ा मोह है। मैं उसकी जगह ठंडा आरेंजक्रश या कोई और मीठा ठंडा पेय लेता। पश्चिमी भोजन मेरे अनुकूल था। शूकर मांस के कीमे को अंतड़ियों में भरकर स्टीम में पकाया भोजन चीन का अपना आविष्कार है। चीन ने दुनिया को बहुत सी चीजें सिखलायीं, जिनको छोड़ देने पर आज दुनिया असंस्कृत समझी जायगी। छुरी-कांटा-चम्मच चीन से ही योरप गया। चीनी मिट्टी की तश्तरियां-प्याले चीन से ही सारी दुनिया में फैले। आज भी चीन से बढ़िया चीनी बर्तन कहीं नहीं मिलते। चाय चीन से ही सारी दुनिया में गयी। वहीं से हमारे यहां रेशम आया, वहीं से गाल-ललाट रंगने की विधि हमने सीखी।



पेकिङ के नौ दिन

२३ जून से १ जुलाई तक मुझे पेकिङ् में ही रहकर उसे देखना था। इसमें श्री चेङ् मेरे दुभाषिया और मित्र थे। वह मध्य चीन के रहनेवाले थे, जहां का उच्चारण पेकिङ् से भिन्न है। मैं पहले पेकिङ् कहा करता था। उनके उच्चारण से मालूम हुआ कि वह पेचिङ् है। मैंने इस उच्चारण को लिखना भी शुरू किया। पीछे मालूम हुआ कि इस महानगरी और उसके प्रदेश के निवासी इसे बेइजिङ् कहते हैं। कितने ही दिनों तक चेङ् महाशय इसे मानने के लिए तैयार नहीं हुए। रोमन अक्षर में लिखे नाम को दिखलाने पर भी वह 'बी' का उच्चारण 'पी' करके अपनी जगह पर जमे रहना चाहते थे। किन्तु, सितम्बर से स्कूलों में रोमन अक्षर में चीनी प्राइमर चलने लगे और इसे माने बिना काम नहीं चल सकता था कि राजधानी के नाम का उच्चारण बेइजिङ् है। वस्तुतः ऐसे उच्चारणों का कारण यह था कि अंग्रेजों ने १८४० में हांगकांग को लेकर वहां अपना पैर जमा लिया। वहां कान्तन का उच्चारण चलता था, जो पेकिङ् की बोली से इतना अन्तर रखता है कि दोनों नगरों के निवासी एक-दूसरे की भाषा सीखने में असमर्थ हैं— यह दूसरी बात है कि बेइजिङ् की भाषा सारे चीन की सामान्य भाषा है। इसलिए उससे काम चल जाता है। रोमन लिपि में अब बेइजिङ् के उच्चारण को ही

लिया जाता है। दस बरस बाद सारे चीनी बेइजिङ् भाषा-भाषी हो जायेंगे। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि स्थानीय बोलियां मरने के लिए छोड़ दी जायेंगी।

२३ जून को चीन बौद्ध संघ के कार्यालय को देखना और वहां के मित्रों का स्वागत स्वीकार करना हमारा पहला काम था। पूर्वाह्न में चेङ् महाशय के साथ हम संघ कार्यालय गये। कार्यालय एक पुराना बिहार है, जो मिङ् वंश (१३६८-१६४४ ई.) में स्थापित हुआ था। आज से दस बरस पहले आकर यदि इस बिहार को कोई देखता, तो उसकी धूमिल बदरंगी कलाकृतियां उसे अपनी ओर आकृष्ट जरूर करतीं, पर गन्दगी को देखकर उसे परिताप भी होता। आज तो सारा बिहार, उसके कई खंड और बीसियों कमरे मरम्मत करके नये जैसे बना दिये गये हैं। सफाई के बारे में तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं, जब सारा चीन उसका व्रती है। कार्यालय में अच्छा पुस्तकालय है। कुछ पुरानी वस्तुओं का संग्रह भी है। संघ की तरफ से आज भोज दिया गया था। संघ के अध्यक्ष तथा मेरे पुराने मित्र गे-शे -शेरब-गयंछो इस समय अपनी जन्मभूमि अम-दो गये हुए थे। दो गृहस्थ और तीसरे भिक्षु, तीनों उपाध्यक्ष, पांच-छै अन्य सदस्यों के साथ वहां मौजूद थे। भोजन चीनी ढंग का था। भारत में अक्सर बौद्धों पर यह आक्षेप किया जाता है कि वे अहिंसा को मानते हुए भी मांस-मछली खाते हैं। बौद्ध खाने और मारने को अलग कहकर व्याख्या करना चाहते हैं। चीन में भिक्षु वस्तुतः इस आक्षेप का ठीक-ठीक उत्तर अपने आचरण से देते हैं। चीन में भिक्षु का मतलब है कट्टर निरामिषाहारी। चर्बी या मांस का उनके भोजन में कोई सम्पर्क नहीं। इसका एक सुफल यह भी हुआ है कि भिक्षुओं ने सैकड़ों भोजन-प्रकारों का आविष्कार किया। सोया-बीन के ही पचासों व्यंजन बनते हैं। सारा भोजन मिरच-मसाला न रहने पर भी बहुत स्वादिष्ट होता है। भिक्षुओं ने रंधन को एक कला का रूप दे दिया। भोजन के बाद हम लोग अपने होटल में लौट आये। चेङ् महाशय दूसरे कमरे में इसी होटल में रहते थे। मैं अपने कमरे के टेलीफोन से जब चाहूं उन्हें बुला सकता था। होटल कर्मचारियों में टूटी-फूटी अंग्रेजी जाननेवालों की संख्या भी बहुत कम थी। अंग्रेजी से अधिक रूसी

जाननेवाले वहां थे। मेरा काम कभी-कभी रूसी से भी चल जाता था। दोपहर के थोड़े विश्राम के बाद अपराह्न में हम मिङ्-प्रासाद गये। पहले उसके बाहरी विशाल प्रांगण के एक छोर पर अवस्थित जन-वीर स्मारक स्तंभ देखा। नये चीन के निर्माण में जिन वीरों ने सर्वस्व अर्पण किया है, उनसे सम्बन्धित घटनाएं इस विशाल स्तंभ पर पत्थर पर उत्तीर्ण हैं। प्रधान द्वार के नाम थ्येन्-आन्-मिन् का अर्थ है स्वर्ग शांति द्वार। चीन और रूस में शांति का जबर्दस्त आन्दोलन चल रहा है। हर जगह शांति का नाम सुनाई देता था। यह कैसा संयोग है कि मिङ्-प्रासाद के प्रधान द्वार का नाम स्वर्ग शांति द्वार है।

यह प्रासाद नहीं, एक छोटा सा नगर है, जिसका निर्माण १४१७ ईसवी में हुआ था। चार-छै घन्टे में इसको देख पाना असंभव है। द्वार के भीतर घुसते ही संगमरमर जैसे सफेद पत्थर के कलापूर्ण पांच पुल हैं। पत्थरों पर नाग की सुंदर प्रतिमाएं खुदी हुई हैं। उनको पार करने पर थाई-हो-थोन् महाशाला आती है, जो विशाल स्तंभों के ऊपर खड़ी है। सभी कामों के लिए काष्ठ का प्रयोग किया गया है। पत्थर के होने पर शायद यह शाला उतनी सुन्दर नहीं होती। चीन के सम्राटों का अभिषेक यहीं होता था। नववर्ष को यहां दरबार लगता था। महत्त्वपूर्ण युद्ध घोषणाएं यहीं रखे सिंहासन पर बैठे सम्राट किया करते थे। उच्च कर्मचारियों के पद की परीक्षा भी यहीं होती थी। शाला में घुसते ही तख्ती पर ये सब बातें लिखी मिलती हैं। चीनी इतिहास के विद्यार्थी को कितनी ही ज्ञातव्य बातें यहां से मालूम हो सकती थीं। आगे तो प्रासाद के बाद प्रासाद चले गये थे, जिनके चारों तरफ खुली जगह थी और दोनों छोरों पर एक-मंजिला बहुत से महल खड़े थे। महलों में सुंदर चित्र बने हुए थे। महल की छतें चमकते सोने जैसी पीली खपड़ैलों की थीं। कम्युनिस्टों के शासन संभालने से पहले ये महल बड़ी उपेक्षित अवस्था में थे। च्यांग काई-शेक को इनकी परवाह नहीं थी। वह तो यहां से राजधानी उठाकर नानकिङ् ले गया था। कम्युनिस्टों ने शासन की बागडोर संभालते ही इस प्रासाद की ओर ध्यान दिया और आज वे नयनाभिराम रूप में दिखाई पड़ते हैं। अंतिम छोर पर एक उद्यान था। उद्यान नहीं उपवन कहना चाहिए, क्योंकि यह

वस्तुतः वन जैसा था। उसी तरह के देवदार और दूसरी तरह के पेड़ थे। पांच-छै शताब्दियों के बूढ़े पेड़ दूसरे ही रूप में होते हैं। उनमें कोटर पड़ जाते हैं, जिनमें पानी जमा होता है और फिर कीड़े अपना काम शुरू कर देते हैं। यहां कोटरों को सीमेन्ट से बन्द कर दिया गया है। इससे कीड़े नुकसान नहीं पहुंचा पाते और वृक्षों को हजार वर्ष तक ले जाया जा सकता है। अकृत्रिम सौन्दर्य कैसा होता है, यह जंगल में ही देखा जाता है। उसे यहां शहर और प्रासाद के भीतर हम देख सकते थे। उपवन के अंत में कृत्रिम शैल था—शिलाएं स्वाभाविक रूप में रखी गयी थीं।

क्रीड़ा पर्वत से हम दाहिनी ओर को मुड़े और रानियों और दूसरी महिलाओं, शायद सम्राट के निवास महलों में घुसे। अब यह म्यूजियम का काम दे रहे थे। संग्रहालय के बहुत से कमरे थे। यहां ४००० ईसा-पूर्व से १९११ ई. तक का इतिहास क्रमशः प्रदर्शित किया गया था। इतिहास नवपाषाण युग से शुरू होता था। इतिहास के पोथों के पढ़ने से शायद इतना ज्ञान न होगा, जितना इन संग्रहालयों को देखने से। हर जगह पथ-प्रदर्शक भाषण देकर हरेक चीज के महत्व को बतलाते थे। एक जगह मैंने एक घोड़े के साथ सवार की लकड़ी या मिट्टी की मूर्ति देखी। चेङ् महाशय ने पथ-प्रदर्शक से उसके बारे में जानने की कोशिश की। उसे भी मालूम नहीं था। मैंने कहा यह तो कूचा (सिक्याङ्) की है। सवार की पोषाक कूचियों जैसी है। उसकी ऊंचाई सात-आठ इंच से अधिक नहीं थी, इसलिए मूर्ति से सारा विवरण नहीं मिल सकता था। कूची लोग पीले बालों, नीली आंखों और अत्यन्त गोरे रंग के होते थे। नृत्य, संगीत और कला से उनको बहुत प्यार था। इसके लिए वह चीन दरबार में अक्सर बुलाये जाते थे।

देखते-देखते हम घड़ियों के संग्रहालय में गये। योरपीय देशों से भेंट में या खरीदकर चीन सम्राटों के पास अठारहवीं शताब्दी से ही बहुत सी कीमती घड़ियां आने लगी थीं। उनको यहां रखा गया था। संख्या पचास से कम क्या होगी। घड़ियों में सुंदर मूर्तियां लगी हुई थीं जो चाबी घुमाते ही निश्चित समय पर नाचने लगती थीं। कुछ से भिन्न राग निकलते थे। प्रदर्शिका चाबी घुमाकर हर घड़ी की व्याख्या करती थी।

सब देखने में हमने उस दिन चार घंटा लगाया।

कलकत्ता से ही पता लगा था कि बाईं कांख में फोड़ा सा निकल रहा है। पेंसिलिन लेने का खयाल आया, पर आज-कल करते-करते वह नहीं बन पड़ा। अब अधिक रुका नहीं जा सकता था। फोड़ा पक रहा था। डायबेटीज (मधुमेह) वैसे कोई व्याधि नहीं है, पर फोड़ा या घाव के समय वह खतरनाक बन सकती है। उसी दिन शाम को अस्पताल में जाकर हमने फोड़ा चिरवा दिया। डाक्टर ने एक तरह के पानी का इस्तेमाल किया जिससे फोड़े की जगह सुन्न हो गयी और आसानी से उन्होंने चीर दिया। दो-तीन दिन तक उसके उपचार के लिए अस्पताल जाना पड़ा। अस्पताल होटल से बहुत दूर नहीं था। कार उसके संकरे दरवाजे से होकर भीतर चली जाती थी। जिस समय यह मकान बनाया गया था, उस समय यह ख्याल भी न होगा कि यहां मोटरें आया करेंगी। अस्पताल विशाल है और ऐसे कई अस्पताल इस नगरी में हैं, पर पेकिङ् की आवादी ६२ लाख है, इसलिए बीमारों को प्रतीक्षा करनी पड़ती है। प्रतीक्षा करने का प्रबन्ध बहुत अच्छा था। कम ऊंची बेंचें बैठने के लिए थीं और ढेर के ढेर चित्रमय कहानियों की पुस्तिकाएं वहां पड़ी थीं। प्रतीक्षक उन्हें लेकर पढ़ते रहते थे।

२४ जून को हम बौद्ध संस्थान देखने गये। यह बौद्ध उच्च शिक्षा का महाविद्यालय है। ग्यारह अध्यापक और एक सौ छात्र यहां रहते और पढ़ते हैं। छात्र सारे चीन से आये हैं। अध्यापकों में दो ऐसे भी अध्यापक थे जो दस वर्ष से अधिक तिब्बत में रह चुके थे। उनसे मुझे तिब्बती में बोलने की छूट हो गयी थी। यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि भारत के सर्वश्रेष्ठ नैयायिक धर्मकीर्ति के "प्रमाणवार्तिक" का तिब्बती से चीनी में आधा अनुवाद हो गया है। बीस से चालीस उम्र तक के तरुण भिक्षु इस संस्थान में प्रविष्ट होते हैं। उनका सारा खर्च संस्थान उठाता है। संस्थान में बौद्ध प्राचीन कलाकृतियों का एक अच्छा संग्रह है। हुएनसांग के कमरे में उनकी कुछ हड्डी और सारी अनुवाद की हुई पुस्तकें हैं। कम्युनिस्ट शासन की स्थापना से पहले ये पुरानी इमारतें ढह-ढिमला रही थीं। बौद्ध संघ ने छः भाषण करने के लिए भी मुझे निमंत्रित किया

था। पर मैं तीन ही भाषण कर सका। आज के भाषण का कई छात्रों ने नोट लिया। पूर्वाह्न और अपराह्न दोनों में मैं भिन्न-भिन्न जगहें देखने बाहर जाया करता। पीकिङ् की इमारतें दो तरह की हैं। एक सनातन और दूसरी अत्यन्त अभिनव। अभिनव इमारतें पंच-मंजिला, सत-मंजिला और अत्यन्त विशाल हैं और उनमें से अधिकांश पुराने नगर से बाहर बनी हैं। सनातन इमारतें एक-मंजिला हैं और चीनी लोगों के आकार के अनुरूप ही नाटी होती हैं। बाहर से देखने में तो वह और भी विशेषता शून्य दीख पड़ती हैं। सम्राटों के वक्त में दो-मंजिला मकान बनाना निषिद्ध था। सम्राट सड़क पर से अपनी सवारी पर निकलें और किसी का पैर उनके सिर के ऊपर रहे, यह भारी अपमान था। इसलिए इमारतें एक-मंजिला बनायी जाती थीं। राखी रंग की ईंटें इमारतों के बनाने में इस्तेमाल होती थीं। मालूम हुआ कि पकने पर ईंटें यहां भी लाल ही रंग की होती हैं। पर गरमागरम ईंटों को यदि पानी में डाल दिया जाय, तो इनका रंग राख जैसा हो जाता है। सारे चीन में ऐसी ही ईंटों का चलन है। अब ऐसी इमारतों को बहुत दिन तक बर्दाश्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि शहर को आसमान की ओर बढ़ाने से यातायात की लम्बाई कम हो जाती है। एक-मंजिला रखने पर वह कई गुना बढ़ जाती है। शहर के भीतर भी बहुत सी नई इमारतें बन गयी हैं। सभी बड़े होटल शहर के भीतर हैं। पेकिङ् शहर एक विशाल चहारदीवारी से घिरा हुआ है। इसकी दीवारें इतनी मोटी हैं कि उन पर तोप के गोलों का भी बहुत कम असर होता था। दीवार अठारह-बीस हाथ चौड़ी और करीब उतनी ही ऊंची है। बीच में मिट्टी भर कर चारों तरफ पक्की राखी ईंटों का कंचुक है। अब बहुत जगह दीवारें गिरा दी गयी हैं। जो बाकी हैं, वे भी चन्द दिनों की मेहमान हैं। हां, भव्य दरवाजे स्मारक के तौर पर सुरक्षित रखे गये हैं। शहर अब नगर प्राकार से बाहर बहुत दूर तक बढ़ गया है। कहीं कल-कारखाने बने हैं और कहीं शिक्षणालय।

साइकिल रिक्शा अभी भी पेकिङ् में देखने में आता है, पर उनकी संख्या कुछ सौ से अधिक नहीं है। जल्द ही वे नामशेष रह जायेंगे। यह गर्मी का दिन था, लेकिन इतनी नहीं कि बाहर जाने में कोई दिक्कत

होती। सड़क पर साइकिल रिक्शा दो तरह के दिखाई पड़ते थे। सवारी के रिक्शों में या तो एक आदमी के बैठने की जगह थी या उसको पालकी की तरह ऐसा बनाया गया था कि उसके भीतर की दो बेंचों पर आठ शिशुशाला वाले बच्चे आराम से बैठ सकते थे। इनसे अधिक माल ढोने वाले रिक्शे थे। शहर के एक-एक टुकड़े रद्दी, या मशीनों से काटकर फेंके कागज के टुकड़ों को लादकर ये रिक्शे फैक्टरियों में पहुंचाते थे। दूसरी तरह का भी माल ये ढोते थे। बैल गाड़ियां यहां नहीं थीं, न भैंसा गाड़ियां ही। गाड़ियों में अधिकतर खच्चर, घोड़े या गदहे जुते होते थे। गदहों को यहां गाली नहीं दी जा सकती, क्योंकि वह चलने में बहुत तेज होते हैं। जहां मेहनत ज्यादा पड़ती है, वहां वे अपनी पूरी ताकत लगा देते हैं। तब उन्हें मारने की कौन सोच सकता है? हां, यहां के गदहे हमारे यहां के गदहों से ज्यादा बड़े होते हैं। हलों में भी यहां एक गदहा या खच्चर या घोड़ा जुतता था। दक्षिणी और मध्य चीन में भैंस-भैंसे और गाय-बैल जोते जाते हैं। गाय-भैंस के दूध से चीनियों को कभी कोई वास्ता नहीं रहा है, इसलिए उनको गाड़ी या हल में जोतने से वे कैसे बाज आते।

२५ को हम लामा बिहार देखने गये। इस बिहार की स्थापना थाङ्-काल (६१८-६०५ ई.) में हुई थी। अनेक हाथों में जाते-जाते यह युवराज युङ्-चन् का महा-प्रासाद बना। राजा होने के बाद युवराज ने इसे बौद्ध बिहार में परिणत करवा दिया। तिब्बत और मंगोलिया के भिक्षु यहां रहते, इसीलिए यह लामा बिहार के नाम से प्रसिद्ध है। आजकल साठ मंगोल भिक्षु यहां रहते हैं। इनके प्रधान (नायक) भिक्षु नैपाल में मुझे मिल चुके थे। उन्होंने बिहार दिखलाया। इतनी विशाल इमारत के लिए साठ भिक्षु बिल्कुल कम थे, इसलिए अधिकतर मकान खाली पड़े थे। सफाई में कोई कसर नहीं थी। अतिविशाल मुख्य मूर्ति भावी बुद्ध मैत्रेय की थी। मूर्ति के सामने रात-दिन दीपक जल रहा था। छोटे मन्दिरों में से एक में तांत्रिक युगनद्ध मूर्तियां भी थीं। छः प्रतिमा गृह थे।

वहां से लौटते समय पे-हाई (उत्तर सागर) नामक कृत्रिम सरोवर के पास नवनागों की भित्ती देखने गये। नाना रंगों के चीनी मिट्टी के खंडों से ये नवनाग १४१७ ईसवी में बनाये गये थे। इनकी चमक देखने से ऐसा

मालूम होता था कि आज ही उनको दीवार में बैठाया गया है। दीवार २७ मीतर लम्बी, पांच मीतर चौड़ी, १.२० मीतर ऊंची है। पे-हाई सरोवर का निर्माण ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ था। सरोवर को चौकोर या गोल बनाने से वह कृत्रिम मालूम होता, इसलिए इसको टेढ़ा-मेढ़ा खोदा गया है। इस अति-विशाल सरोवर से जो मिट्टी निकाली गयी, उसको जमाकर पहाड़ बना दिया गया। उसमें स्वाभाविकता दिखलाने के लिए शिलाएं भी लगी हैं और आदमी के हाथ को छिपाने की पूरी कोशिश की गयी है। देवदार और दूसरी जाति के वृक्षों से पहाड़ ढका हुआ है। ऊपर १७५४ में बनवाया गया पेन्-छैन बुद्ध मन्दिर है। १९वीं सदी में जापान और योरप के सात राज्यों ने पेकिङ् पर आक्रमण किया था। उस समय उन्होंने कई बुद्ध मूर्तियों को खंडित कर दिया। सरोवर के किनारे समतल भूमि पर बने इस बिहार को मरम्मत करके नया करने की कोशिश की गयी। मरम्मत का काम १९५३ में पूरा हुआ। मन्दिर के साथ लगा हुआ एक छोटा सा संग्रहालय भी है।

अपराह्न में हम पंचस्तूप बिहार देखने गये। इसका दूसरा नाम वज्रासन (बोध गया) बिहार भी है। चौदहवीं सदी में किसी भारतीय भिक्षु ने आकर बोध गया के मन्दिर की नकल पर इस मन्दिर को बनवाया था। कला दर्शनीय नहीं है, पर यह एक ऐतिहासिक चीज है। बृद्ध मंगोल पुजारी ने जब सुना कि मैं भारत का हूं, तो वह गद्गद हो उठे।

रात को "रुधिर तूफान" नाटक देखने गये। यह १९२३ की घटना पर आधारित था। नाटकघर में पंखे का इन्तजाम नहीं था। लोग अपने पाकेट से निकालकर जरूरत पड़ने पर पंखा झलते थे। गर्मी के मारे मैं इतना परेशान था कि नाटक देखने में मन नहीं लगा।

२६ जून को मैं पूर्वाह्न में "चीन सचित्र" का कार्यालय देखने गया। यह एक विशाल कार्यालय है। यहां से हिन्दी ही नहीं, अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, स्पैनिश, रूसी, बर्मी, इन्डोनेशी, वियतनामी, जापानी, स्यामी आदि भाषाओं में पत्र-पत्रिकाएं तथा पुस्तकें छपती हैं। एशिया की भाषाओं में सबसे अधिक हिन्दी "चीन सचित्र" छपता है। एक ही साल में उसकी ग्राहक संख्या १२ हजार हो गयी। श्री जानकीबल्लभ जोशी चार-पांच हिन्दी

जाननेवाले चीनी तरुण-तरुणियों के साथ इसमें काम करते हैं। उनके साथी ओमप्रकाश कुछ महीनों बाद मेरे वहां रहते ही भारत से आ गये थे।

२६ को ही अपराह्न में हम राष्ट्रीय पुस्तकालय गये। इसका आरंभ बारहवीं शताब्दी (सुङ्-काल) में हुआ था, यानी यह आठ सौ बरस पुराना है। यह उस समय स्थापित हुआ था जब दिल्ली में मुसलमानी शासन कायम भी नहीं हुआ था। आठ शताब्दियों तक निरन्तर किसी संस्था का अस्तित्व हमारे लिए तो आश्चर्य की बात है। आज यहां पचास लाख किताबें हैं, जिनमें दो लाख हस्तलिखित हैं। प्रधान पुस्तकाध्यक्ष ने हर चीज को दिखाने की इच्छा प्रकट की, लेकिन आधी करोड़ पुस्तकों में घूमने के लिए समय निकालना मेरे लिए मुश्किल था। मैंने पूछा कि सबसे पुरानी हस्तलिखित पुस्तक कब की है। उन्होंने बतलाया कि ४४१ सन् की जो तुङ्-ह्वान गुफा से हमें मिली है। यह पुस्तक गुप्तकाल की ठहरी। तुङ्-ह्वान की आठ हजार कुंडलीकृत पुस्तकें यहां लाकर रखी हैं। गुफा से मिली हजारों पुस्तकें—तालपत्र या कागज की—विदेशी लूट ले गये। इतने पर भी आठ हजार पुस्तकों का बचा पाना छोटा काम नहीं है। तुङ्-ह्वान और दूसरे पुराने हस्तलिखित ग्रन्थों के बारे में चीनी विद्वानों ने पुस्तकें लिखी हैं। वे हमारे लिए भी बहुत लाभदायक हैं। देखें चीनी से उनका हिन्दी में अनुवाद कब तक हो पाता है। दसवीं सदी का छपा हुआ ग्रन्थ भी तुङ्-ह्वान से मिला। हान्-चाउ के एक स्तूप में ६७५ ई. में मुद्रित धारणी संग्रह प्राप्त हुआ। इस पुस्तकालय में उस समय के मुद्रित कई चीनी त्रिपिटक रखे हुए हैं। राष्ट्रीय पुस्तकालय को देखकर मेरे मन में ख्याल आता था कि क्या दिल्ली में भी कभी ऐसा पुस्तकालय स्थापित होगा।

२७ जून को अपराह्न में थ्येन-तिन बाग देखा। यह पेकिङ् का सबसे बड़ा उद्यान है, जिसमें पांच हजार देवदार के वृक्ष हैं। देवदार दुनिया का सबसे सुन्दर वृक्ष है। पर यह वहीं होता है, जहां साल में कुछ समय बर्फ पड़ती हो। भारत में हिमालय का नौ-दस हजार फुट से ऊपर का भाग इसका स्वाभाविक क्षेत्र है। पर अंग्रेजों ने मसूरी, शिमला, लैंसडौन, दार्जिलिंग आदि में भी देवदार लगाये हैं। अपनी स्वाभाविक भूमि में

हिमालय का देवदार अत्यन्त विशाल होता है। यहां की भूमि भी उसके लिए अस्वाभाविक नहीं थी, पर वे उतने विशाल नहीं थे। यहां लकड़ी से बने वृत्ताकार प्रार्थना मन्दिर में चीन सम्राट प्रार्थना करने के लिए आया करते थे। एक काठ का लघु मन्दिर बना है, जिसके आगे चहारदीवारी की एक तरफ की भीत से सटकर अगर आप धीमे से भी बोलें, तो आवाज उससे पचास हाथ दूर की दीवार के पास प्रतिध्वनित होकर साफ सुनाई देती है। बाहर एक गोल चबूतरा संगमरमर का बना हुआ है। यहां भी शब्द प्रतिध्वनि बीच में खड़ा होने पर सुनने में आती है। बड़ा मन्दिर १४२० ईसवी में बना था। १८८६ में बिजली गिरने से यह बिल्कुल जल गया। लकड़ी का होने से वैसा होना स्वाभाविक था। अब जो मन्दिर का ढांचा है, वह पुरानी बुनियाद पर फिर से बनाया गया है।

उस दिन रेलवे मन्त्रालय प्रदर्शनी देखी। दुर्गम पहाड़ों में रेल पथ का निर्माण कैसे हो रहा है, इसे इस प्रदर्शनी द्वारा दर्शक अच्छी तरह समझ सकता है। कई जगह पहाड़ के ऊपर पड़ी हिलने-डुलनेवाली शिलाओं से रेल को खतरा रहने के कारण कई सुरंगें बनाकर बारूद भरके पहाड़ी के ऊपरी भाग को बिल्कुल उड़ा दिया गया। कितनी ही जगहों पर टेढ़े-मेढ़े रास्ते से रेल पथ को ऊंचाई पर ले जाने की जगह सुरंगें बना दी गयी हैं। प्रदर्शनी का दर्शक और विद्यार्थी पूरी तौर से लाभ उठा सकें, इसके लिए हर कमरे में व्याख्यान का प्रबन्ध था।

२८ जून को पेकिङ् में बने नये कपड़े कारखाने को हम देखने गये। पहले एक, दो, तीन संख्या के कारखाने अलग-अलग थे। दूसरे नम्बर का कारखाना १९५५ में काम करने लगा था। आजकल इसमें सबेरे साढ़े छै बजे कार्य आरंभ होता है। कमकर तीन पालियों में काम करते हैं। बारह हजार कमकरों में ७० प्रतिशत स्त्रियां हैं। ६ हजार कमकरों के लिए यहीं घरों के एक सौ ब्लाक बने हैं। सबसे कम वेतन ६० युवान (१२० रुपया) मासिक है और सबसे अधिक पानेवाले इंजीनियर २०० युवान पाते हैं। कितने ही चतुर कमकर भी उनके बराबर तनख्वाह ले रहे हैं। कारखाने के सभी यंत्र स्वदेश में बने हुए हैं। कुल २ लाख ६० हजार तकुए और ७ हजार कर्घे हैं। सारा काम ऑटोमैटिक है। रुई डालने से लेकर कपड़ों

के थानों की गांठ बांधने तक मशीनें ही सामान को एक जगह से दूसरी जगह पहुंचाती हैं। कारखाने के शिशुशाला व बालोद्यान आदि में दस हजार बालक हैं और छै साल की पढ़ाईवाले स्कूलों में दो हजार। अस्पताल में एक हजार चारपाइयों का इन्तजाम है। प्रसूति गृह इनसे अलग हैं। २१ भोजनशालाएं हैं जिनमें से तीन में सिनेमा, नाटक आदि के लिए बड़े-बड़े हाल हैं। एक स्त्री २४६ तकुओं पर नियंत्रण रखती है। ७१ काउन्ट के सूत काते जाते हैं। ३२ करघों पर एक स्त्री का नियन्त्रण भी कौतूहलजनक था। हाल व कमरे वायुनियंत्रित हैं। प्रति दिन साढ़े पांच लाख मीतर कपड़ा यहां बनता है। दूध पिलाने वाली माताओं के लिए खास कमरे हैं। आठ मास के बाद दूध छुड़ा दिया जाता है। चीन में बच्चे या जवान किसी का भी दूध पीना सनातन धर्म के विरुद्ध माना जाता था, पर अब यह प्रथा धीरे-धीरे टूट रही है। भोजनशाला में एक बार के भोजन के लिए १०-२५ शतांक (सेन्ट) लिया जाता है। मांस-मछली लेने पर दाम अधिक होता है।

कारखाना देखने के बाद हम कमकरों के निवास गृहों में भी गये। प्रायः एक परिवार के लिए दो कमरे थे। रसोई, स्नानगृह और पाखाने का भी अलग प्रबन्ध था। रसोई भी लोग अक्सर अपने घरों में बनाते हैं।

ग्रीष्म प्रासाद

यह चीन का अत्यन्त दर्शनीय स्थान है। यह अति-विशाल और सुन्दर बना है। पेकिङ् नगर से बीस मील से कम दूर नहीं होगा। पर दर्शनार्थियों के लिए यह पेकिङ् का ही अंग मालूम होता है, क्योंकि हर समय बसें वहां जाने के लिए तैयार रहती हैं। यहां एक सागर जैसा महासरोवर है, जिसकी मिट्टी निकालकर चारों तरफ बिखेरने की जगह एक ओर पहाड़ी की तरह जमा कर दी गयी है। वह देवदार वृक्षों से ढकी है। पहाड़ी होने के भ्रम को पक्का करने के लिए जगह-जगह शिलाएं सावधानी के साथ बेतरतीव रख दी गयी हैं। इसका निर्माण बारहवीं शताब्दी में—आज से आठ सौ वर्ष पहले— किन वंश के समय हुआ

था। मरम्मत और विस्तार पीछे तक होता रहा है। इसमें सरोवर के किनारे पर्वत-पार्श्व में कई विशाल मन्दिर और बिहार हैं। मंचू वंश की कालरूपिणी वृद्धा साम्राज्ञी कीर्ति की बहुत भूखी थी। नौसेना को मजबूत करने के लिए करोड़ों युवान जमा किये गये थे। उसे जहाजों पर खर्च करने के बजाय बुढ़िया ने महल बनाने और मंदिरों पर खर्च किया। यह उन्नीसवीं सदी के अन्त की कृति हैं। प्रधान द्वार से ही दर्शकों का ध्यान वहां की प्रदर्शित चीजों तथा इमारतों की ओर आकर्षित हो जाता है। दूसरी बार आने पर मैं इस पहाड़ पर चढ़ने योग्य नहीं रह गया था, लेकिन पहली बार ऊपर तक गया था। बिल्कुल पहाड़ी यात्रा मालूम हो रही थी। ऊपर पहुंचने पर परले पार कई उद्योग नगर दिखाई पड़े, जिनमें उच्च कारखाने अभी बन रहे थे। रीढ़ पर से होते सबसे ऊपरी बुद्ध मन्दिर पर पहुंचे। आठ राज्यों ने १९०० ई. में चीन पर जो आक्रमण किया था, उसमें भीषण अत्याचारों के साथ-साथ उन्होंने मन्दिरों, प्रासादों और मूर्तियों को खोलकर लूटा। पेकिङ् के मिङ्-प्रासाद की लूट की तरह ग्रीष्म प्रासाद की भी बहुमूल्य चीजें लूटी गयीं। मन्दिर से अब सीढ़ियों द्वारा हम नीचे उतरने लगे। ये सभी एक ही मन्दिर की अनेक मंजिलें मालूम होती थीं। आज इतवार का दिन था, इसलिए दर्शकों की बड़ी भीड़ थी। नीचे उतरकर हम वहां पहुंचे, जहां छत के नीचे चला जाता दुनिया का विशाल पथ था। साम्राज्ञी के नीचे के महल में उसके जीवन सम्बन्धी बहुत सी वस्तुएं प्रदर्शित की गयी थीं। उसके शयन-कक्ष को पूर्ववत् दिखलाने की कोशिश की गयी थी। उसके एक भाग में तिङ्-ली-क्वांग भोजनालय स्थापित था। यहीं हमने मध्याह्न में भोजन किया। बाहर निकलकर कुछ देर तक सरोवर की बहार तट से देखते रहे। एक पत्थर की विशाल नौका बनी थी। देखने में वह अराली बजड़े सी मालूम होती थी। छोटी-छोटी नावें तो सरोवर में हजारों थीं। तरुण-तरुणियां हजारों की संख्या में तैराकी का आनन्द ले रहे थे। सैलानियों में कितने ही रूसी भी थे। वहां के दृश्य देखने से छुट्टी के दिनों में किसी पाश्चात्य नगर का स्मरण हो आता था। छोटी नाव को ले आते मल्लाह को देखकर आदमी को खयाल होता कि यह उसी की नाव

होगी। पर यहां कोई भी वैयक्तिक चीज नहीं थी। सभी किसी न किसी संस्था के साथ सम्बद्ध चीजें थीं। दोपहर का वक्त उतना प्रिय मालूम नहीं होता। पेकिङ् भी गरमी में गरम हो जाता है। वहां से नाव में हम सरोवर के बीच अवस्थित द्वीप पर गये। च्यांग काई-शेक के शासन के अन्तिम दिनों में यदि हम आते, तो सरोवर को न ऐसा स्वच्छ पाते और न महल और कृत्रिम पहाड़ी को इतना परिष्कृत और सुन्दर। राष्ट्र के नवनिर्माण के साथ-साथ कम्युनिस्टों ने इन कलाकृतियों, ऐतिहासिक स्मारकों की ओर भी ध्यान दिया है। लाखों-करोड़ों हाथ जब काम करने के लिए तैयार हों, तो वे जादू-मन्तर का प्रभाव रखते हैं। यह यहां देखने से मालूम होता है।

पश्चिमी देशों की बर्बरता

इंगलैंड, अमरीका, फ्रांस, जर्मनी, रूस, आदि सात योरोपीय और जापान इन आठों राज्यों ने मिलकर सन् १९०० में चीन पर आक्रमण किया था। उन्होंने कितनी क्रूरता और नृशंसता का परिचय दिया, इसे चीनी अब भी नहीं भूले हैं। अंग्रेजों ने इस लड़ाई के लिए हिन्दुस्तानी सेना को भेजा था। सातवीं राजपूत सेना (जिसमें ठाकुर गदाधर सिंह भी थे) २९ जून को कलकत्ता से रवाना हुई और ११ जुलाई को हांगकांग पहुंची। उन्होंने "चीन में तेरह मास" पुस्तक लिखी, जो १९०२ में छपी। आज उसका नाम कुछ बूढ़े लोग ही जानते हैं। पं० बनारसी दास चतुर्वेदी ने २२ फरवरी १९५९ के "साप्ताहिक हिन्दुस्तान" में इस पुस्तक से कई उद्धरण देकर एक लेख लिखा है, जिसमें कहा है: "जिस चीन की दुर्दशा पर ठाकुर साहब ने अपनी पुस्तक में जगह-जगह आंसू बहाये हैं, वह अब दिन-दूनी रात-चौगुनी उन्नति कर रहा है और कितने ही अंशों में भारत से कहीं अधिक आगे बढ़ गया है।"

ठाकुर साहब विदेशी सेना के अत्याचार के बारे में लिखते हैं:

> "सबेरा हुआ, जाग पड़े। फिर वही दृश्य, वही भस्म होते हुए गांव, घूमते हुए कुकुर, पड़े हुए मुर्दे। शायद पचास-साठ गज

भी आगे न बढ़ते होंगे कि दो एक लाशें किनारे पर पड़ी दीख जाती थीं।

"अनुमानतः सैंकड़ों लाशें ताकू से टीनसिन (ध्येन्चिन्) के मार्ग भर में मिलीं। किन्हीं को कुकुर चबाते-नोंचते हुए और कोई जल में बहती हुई और बहुतेरी किनारों पर विश्राम लेती हुईं।

"गांव तो प्रायः सभी फुंके हुए थे, ग्रामीण कोई भी नहीं था, परन्तु प्रत्येक भस्मढेरी पर एकाध झंडी फ्रांसीसी, रूसी या जापानियों की डोलायमान हो रही थी। कहीं-कहीं किसी गांव में कोई-कोई जीवित वृद्ध (कंकाल मूर्ति) लाठी के सहारे खड़े देखे गये। पत्थर हृदय भी उनकी अवस्था को देख पसीज जाता।"

आगे वह फिर लिखते हैं:

"हमारा हृदय द्रवित होने की कोई आवश्यकता तो नहीं थी, क्योंकि चीनी लोगों से युद्ध ही करने तो हम आये थे। परन्तु अपने से मिलते रंग को देखकर कर्तव्य में नहीं तो मन में अवश्य ही एक 'भाव' उत्पन्न हुआ था। चीनी लोग बौद्ध धर्मावलम्बी हैं, हिन्दुस्तान के सहधर्मी हैं। एशिया खंड के निवासी होने से निकट स्वदेशी भी हैं। रंग-राह रस्म-रिवाज में भी बहुत भेद नहीं है। फिर क्यों परमेश्वर ने इन पर विपद काल डाला? क्या इनका सहाय होना परमेश्वर को न चाहिए था?"

एक जगह वह लिखते हैं:

"चीन की कंगाली का हेतु और उन्नति की रुकावट जैसे अफीम है, उसी भांति हिन्दुस्तान की कंगाली का हेतु और उन्नति में रुकावट विदेशी वस्त्र आदि पदार्थों का व्यापार है।...

"सो उस छारखार जले-भजे खाकस्याह जनहीन टीनसिन (ध्येन्-चिन्) में भी मुझको कई कुलकलंक देश-कालिमा चीनी मूर्तियां रेशमी पोशाक पहने, लम्बी चोटी लटकाये दीख पड़ी थी। यद्यपि ये सब हमारे सहायक थे, भेदिये थे, जासूस थे, देश की सब प्रकार की खबरें देते थे, रस-पानी की भी सहायता करते थे और कटाकट अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाएं बोलते थे, परन्तु सच्चाई के अनुरोध से और अपने गुरु वर्ग अंग्रेजों के मुंह से भी ऐसा ही सुने रहने के सबब से

मैंने इन चीनियों को कुल-कलंक और देश की कालिमा कहा है। सभ्य जगत में सभी सभ्य लोग ऐसा ही कहते हैं और मानते हैं।...

"चीन में लूटखसोट और अत्याचार देखकर हम खूब अघा गये, देखने-सुनने की अधिक लालसा या कसर बाकी नहीं रह गयी।

"टीनसिन (थ्येन्‌चिन्‌, १६५८ में आबादी ३७ लाख) एक बड़ा समृद्धिशाली नगर था—बैंक, टकसाल सभी कुछ थे। सो वहां पर जापान रूस, फ्रांस, ने खूब हाथ लगाये। अन्य माल असबाब के सिवाय सैकड़ों टन चांदी ही रूसी और फ्रांसीसी फौजों ने लूटकर जमा की थी।"

उजड़े हुए टीनसिन में जब अंग्रेजी और हिन्दुस्तानी फौजें पहुंचीं, तब उन्होंने जिस अमानुषिकता का बर्ताव किया उसे स्पष्टतापूर्वक लिखने में ठाकुर साहब ने बड़े साहस से काम लिया है:

"शहर के सभी लोग भाग गये थे। उजाड़ हो रहा था। बचे-खुचे अपाहिज लोग जो रह गये थे, उनका यत्किंचित असबाब बन्दूक के सहारे छीन लाना सिपाहियों का अच्छा गौरव (?) प्रकट करता था। सिपाहियों की पार्टियां जाकर अपनी आवश्यकीय चीजें सन्दूक-बक्स, मेज, कुर्सी, कपड़े-पोस्तीन, खच्चर-टट्टू, रिक्शा-गाड़ी आदि सभी कुछ लाते थे। घड़ी-छड़ी, छाता-पंखा सभी कुछ लूटकर आता था—कहीं-कहीं चीनों को धमकाकर और कहीं यमपुरी भेजकर। किसी चीज की मांग होने पर तनिक भी विलम्ब होने से असहाय चीन को सशरीर अर्पण होना पड़ता था—अवश्य ही चीज का चाहनेवाला केवल चीज ही लेता था और लोथ को दयापूर्वक कुकुरों को भोजनार्थ दान कर देता था।

"कहा भी तो है:

"दान में दान देय,
तीन लोक जीत लेय।

"चीना सशरीर इनपर न्यौछावर होता था और ये लोग निर्जीव लोथ को कुत्तों को दान कर देते थे। हिन्दुस्तान की म्यूनिसिपैलटियां

में देखा था कि डोम को कुत्तों को मारने के लिए दो-चार आना फी मूंड मेहनताना देकर सालाना या छमाही कुकुर-मुक्ति की जाती थी। बस यही दृश्य वहां मनुष्य-मुक्ति का समझ लीजिए। जिसके पास थोड़ा भी माल मेहनताना भर को होता था, बस उसी को मुक्ति दे दी जाती थी। फरक यही था कि हिन्दुस्तान के कुकुरमार डोम होते थे —यहां के मानुषमार सुसभ्य लोग और भले-भले हिन्दू लोग भी थे।

"एक जगह देखा गया था कि एक जवान चीना को सात-आठ विदेशियों ने मिलकर लातों-लात मार डाला। बीस गज की भूमि पर बूट की ठोकरों से उसको लथाड़ते और फुटबाल की भांति फेंकते थे। जभी बेचारा उठना चाहता था, तभी ठोकरों से गिरा देते थे और सब ओर से ठोकरें मारकर घंटा-डेढ़ घंटा तक खेल-खेलकर प्राण ले डाला। ये सभी खिलाड़ी सब सभ्य जातियों के थे।

"एक चीना दुभाषिये को धक्के मारकर जमीन पर गिरा दिया गया और फिर कंकरीली भूमि पर उसे घसीटा गया और जब वह अधमरा हो गया, तब पिस्तौल की गोली से उसका काम तमाम कर दिया गया।"

ठाकुर साहब लिखते हैं:

"कहते मुंह मलीन होता है कि इस पैशाचिक क्रूरता और हत्या में हिन्दुस्तानी सिपाही भी कहीं-कहीं सने हुए थे।"

हम ग्रीष्म प्रासाद से ही आज के प्रोग्राम की इतिश्री नहीं समझते थे। वहां से कार द्वारा थाङ्-कालीन (सातवीं-नवीं सदी) बिहार में गये जिसमें निर्वाण शैया में पड़े बुद्ध की मूर्ति थी। बिहार का नाम तुषित बिहार है। वहां से और कितनी ही दूर पर एक पुराना बिहार मिला जिसका चश्मा अपने शुद्ध और शीतल जल के लिए बहुत प्रसिद्ध है। मैं मुश्किल से जलपान के लोभ को दबा सका। इस बिहार को यह भी सौभाग्य प्राप्त है कि १९२५-१९२९ तक डाक्टर सन यात-सेन का शव यहीं रखा रहा। उनका देहान्त पेकिङ् में हुआ था। च्यांग काई-शेक ने नानकिङ को अपनी राजधानी बनाया। वहां पर जब उनके लिए समाधि

बन गयी तो शव यहां से चला गया। डाक्टर सन के लिए जो शवाधानी रूस ने भेजी थी, वह यहीं रखी हुई है। डाक्टर सन से सम्बन्धित कुछ चीजें भी यहां रखी हैं। विहार बहुत स्वच्छ और विशाल है। इतने बड़े विहार में सिर्फ दो भिक्षु हैं। वहां से फिर हम कार से पी-युन-स्स गये। यह भी एक पर्वत के सानु पर बसा है। यहां एक के पीछे एक कई मन्दिर हैं, जिनमें सबसे पीछेवाला मैत्रेय का है। भावी बुद्ध की मूर्ति पीतल की है। यही पांच सौ अर्हतों की मूर्तियोंवाली शाला है। समन्तभद्र, अवलोकितेश्वर, मंजुश्री, क्षितिगर्भ आदि की मूर्तियां बड़ी सुन्दर हैं और सन्देह किया जाता है कि कुबलेखान के समय नेपाल से आये महान कलाकार अनिको ने इन्हें बनाया था। वहां से फिर हम वज्रासन विहार देखने गये, जिसका निर्माण १७४८ ईसवी में हुआ था। यहां बहुत से प्राचीन वृक्ष हैं जिनकी रक्षा के लिए उनके कोटरों को सीमेन्ट से बन्द कर दिया गया है।

२० जून महीने का अन्त था। वृष्टि का पता नहीं था। गरमी के लिए हमें मेज के पंखे का सहारा था।

अनाथ बाल-गृह

उस दिन सबेरे-सबेरे हम नगर के भीतर एक बाल संस्था देखने गये। योरप ने एशिया के किसी देश में प्रवेश पाकर जहां व्यापार और राज्यविस्तार करने का प्रयत्न किया, वहां साथ ही अपने धर्म को फैलाकर जातीय एकता को नष्ट करने की भी कोशिश की। इस भवन का निर्माण फ्रेंच-ईसाई भिक्षुणियों ने १८६२ में किया था। अकाल के मारे या गरीबी के कारण जो माता-पिता अपने बच्चों की परवरिश नहीं कर सकते थे, उनको यहां लाकर रखा जाता था। कभी-कभी ऐसे बच्चों की संख्या हजार तक पहुंच जाती थी। १९४८-४९ में पेकिङ् कम्युनिस्टों की राजधानी बन गया, तब भी उन्होंने इस संस्था को फ्रेंच साधुनियों के हाथ में ही रहने दिया। लेकिन साधुनियां या दूसरे पश्चिमी ईसाई प्रचारक कम्युनिस्टों को फूटी आंखों भी देखने के लिए तैयार नहीं थे। वे अपने स्थानों को कम्युनिस्ट-विरोधी

प्रचार का अड्डा बनाना चाहते थे। वही बात इस संस्था के लिए भी थी। कम्युनिस्ट शासन में ऐसी निजी संस्था की आवश्यकता नहीं थी, पर सरकार को इस संस्था को अपने हाथ में लेने के लिए दूसरे ही कारण से बाध्य होना पड़ा। यहां रहनेवाले बालकों के साथ बड़ा बुरा बर्ताव किया जाता था। अब चीन का कोई बालक इसे सहने के लिए तैयार नहीं था। १९५१ में उन्होंने सरकार से अपने कष्टों का बयान किया और यह संस्था नये प्रबन्ध में आ गयी। मकान वही पुराने हैं। उनको साफ रखने की कोशिश की गयी, पर पुनर्निर्माण की कोशिश नहीं हुई है। शायद शहर के गर्भ में अवस्थित इस भूमि का कोई और ही उपयोग हो।

२१० बालकों में आधी लड़कियां हैं जिनकी आयु ७ से १६ वर्ष की है। यहां से गये ४८० तरुण-तरुणियां नवनिर्माण के काम में लगे हुए हैं। संचालिका श्रीमती लूं आरंभ से ही इस संस्था का संचालन कर रही हैं। फ्रेंच भिक्षुणियां अपने देश को लौट गयीं, लेकिन उनकी २१ चीनी शिष्याएं अब भी हैं। बच्चों के पढ़ने के लिए यहां भी स्कूल है, कुछ बाहर के स्कूलों में जाते हैं। बालक स्वयं अपना संगठन करते हैं, अपने नेता चुनते हैं। एक कमरे में कई सिलाई की मशीनें रखी हुई थीं। दूसरे में कसीदे का काम सिखाया जाता था जिनमें लड़कियां ही थीं, लड़के मिस्तरीखाने में काम करना अधिक पसन्द करते हैं। सोने के लिए पहले जमीन पर इन्तजाम था, पर अब साफ-सुथरी चारपाइयां हैं।

चिन-शाङ उद्यान

उसी दिन अपराह्न में हम इस बगीचे को देखने गये। यह पे-हाई (उत्तर सागर) से बहुत दूर नहीं है। ११वीं सदी में इसका निर्माण हुआ था। इतनी अधिक संख्या में प्राचीन स्मारकों की रक्षा हमारे यहां नहीं हो सकी। राजवंशों और राजधानियों के परिवर्तन के साथ उस समय की कीर्तियां भी विस्मृत और लुप्त होती गयीं। मौर्यों ने पाटलिपुत्र को बहुत सजाया था, यह मेगस्थनीज़ के उल्लेखों से मालूम होता है। ईसवी सन् के आरंभ में पाटलिपुत्र (पटना) का स्थान मथुरा ने लिया। कुषाणों ने

इस नगरी को भी बहुत संवारा, लेकिन उनके बाद वह भी विस्मृत हो गयी। चौथी-पांचवीं सदी में पाटलिपुत्र को फिर भारत की राजधानी बनने का अवसर मिला। लेकिन छठी सदी में राजलक्ष्मी उससे रुष्ट होकर कन्नौज चली गयी। कन्नौज छः शताब्दियों तक भारत की सबसे विशाल राजधानी रही। वहां न जाने कितनी स्मरणीय पुष्करिणियां, क्रीड़ापर्वत, महान उद्यान और देवालय बने होंगे। पर उनकी जगह अब कुछ उजड़े हुए टीलों ने ले रखी है। फिर दिल्ली का भाग्य जगा। एक के बाद एक सात दिल्लियां बसीं। फिर कलकत्ता ने उसका स्थान ले लिया। आठवीं दिल्ली अभी बन ही रही है। सात सौ वर्षों के अवशेषों में अब भी यहां कुछ मौजूद हैं। पर पेकिङ् प्रायः हजार वर्षों से प्रमुख नगर रहता आया है। यद्यपि वहां भी स्मारक अधिकतर मिङ्-वंश (१३६८-१६४४ई.) से ही आरंभ होते हैं। कुबलेखान की राजधानी पेकिङ् के किस भाग में थी, उसका अब पता लगाना भी मुश्किल है। पर, कितने ही स्थान अब भी हमारे सामने बहुत ताजे से मालूम होते हैं।

उद्यान की पृष्ठभूमि के क्रीड़ा पर्वत को कोयला पहाड़ी भी कहते हैं। शायद लकड़ी के किसी भस्म या कोयले पर मिट्टी की राशि जमा की गयी, इसीलिए इसका यह नाम पड़ा। उद्यान अधिकतर देवदार के वृक्षों से ढका है। कोयलागिरि के पार्श्व में वह पतला-दुबला देवदार अब भी मौजूद है, जिसकी शाखा से लटककर अन्तिम मिङ् राजा ने १८ मार्च १६४४ ईसवी को आत्महत्या की थी। उसके सेनापति ने बिना लड़े ही राजधानी का दरवाजा मंचुओं के लिए खोल दिया। इससे सम्राट को यह कदम उठाना पड़ा। इस कृत्रिम पहाड़ी की रीढ़ पर पांच बौद्ध देवालय हैं। सबसे ऊंचे भागवाले देवालय में बुद्ध मूर्ति अब भी मौजूद है। दूसरों की प्रतिमाएं आठों राज्यों के आक्रमण के समय तोड़ दी गयीं। यहां सफेद छालवाले चिलगोजा जैसे देवदार-जातीय वृक्ष बहुत हैं। पहाड़ी के किसी अंश में वृक्ष नहीं रह गये थे। स्कूलों के छात्र उनमें नये वृक्ष लगा रहे थे। यहां वन-महोत्सव का मजाक नहीं किया जा रहा था। दो-तीन बरस के पेड़ गड्ढे खोदकर लगाये जा रहे थे और कांवरों में पानी भरकर तरुण-तरुणियां उनमें डाल रहे थे।

मिङ· वंश का शासन (१३६८-१६४४) चीन के लिए इसलिए भी महत्त्व रखता है, क्योंकि इसी वंश ने मंगोलों के शासन को हटाकर चीन को स्वतंत्र किया था। मिङ· सम्राटों की समाधियां पेकिङ· से कुछ दूरी पर बनी हुई हैं (वर्तमान पेकिङ· का निर्माण भी उन्हीं के हाथों हुआ था)। जिन पहाड़ों की गोद में ये समाधियां हैं, उनमें से होकर एक छोटी सी नदी दूसरी ओर को जाती है। वहां हाल ही में एक विशाल बांध बांधकर नहर और बिजली के लिए एक जलनिधि तैयार की गयी है। शाम को "मिङ· समाधि" नाटक एक खुली रंगशाला में किया जा रहा था। यहां पांच हजार दर्शकों के बैठने का स्थान था। नाटक में यही दिखलाया गया था कि जिस नदी को बांधकर एक विशाल जलाशय के रूप में परिणत करना कुबलेखान और मिङ· सम्राटों ने असंभव समझा था, उसे मई-जून के एक डेढ़ महीने में अब बांधकर तैयार कर लिया गया है। पृष्ठभूमि में कुबले और उसके मन्त्री को इस सागर के निर्माण के बारे में सलाह करते और निराश होते दिखाया गया है। फिर मिङ· सम्राट आते हैं। अपने सारे वैभव के प्रदर्शन के साथ वह भी मन्त्रणा करते हैं, लेकिन हताश होकर छोड़ देते हैं। माओ ने इस जलाशय के निर्माण को इतना महत्वपूर्ण समझा कि निर्माण के समय वह स्वयं वहां जाकर बैठ गये। इतना ही नहीं, उन्होंने स्वयं और चाउ एन-लाई ने मिट्टी की टोकरियां उठायीं। उस उत्साह में लोग कितने बह गये, यह इसी से मालूम होगा कि मिस्र, भारत और दूसरे राष्ट्रों के दूतावासों के लोग भी इसमें श्रमदान करने गये थे। समय बहुत थोड़ा था। वर्षा आ जाने पर काम नहीं किया जा सकता था, इसलिए इसमें बहुत जल्दी की गयी। मिङ·-समाधि सागर के काम की समाप्ति हाल में ही हुई थी। इसी को लेकर यह नाटक लिखा गया था। अभिनय में जनता के उत्साह को दिखलाया गया था। लोक गायकों ने मिङ·-समाधि सागर का पवाड़ा बनाकर मंच पर गाया। चेङ· महाशय हमको बतलाने के लिए तैयार थे, पर नाटकों को तो बिना भाषा के भी आदमी समझ सकता है, बशर्ते अभिनय उच्च कोटि का हो।

पहली जुलाई हमारा प्रथम पेकिङ· निवास का अन्तिम दिन था। उस दिन सबेरे हम यहां से बच्चों के अस्पताल में गये। बालक रोगियों की

चिकित्सा के लिए तीन डाक्टरों ने एक चिकित्सालय कायम किया था। यहां बीस चारपाइयां थीं और प्रति दिन तीन सौ बालकों को देखने का प्रबन्ध था। यह १६४६ की बात है। डाक्टर त्याग से काम कर रहे थे। १६५० में सरकार ने इसे अपने हाथ में लिया। नये मकान का निर्माण आरंभ हुआ। १६५५ में अस्पताल नये घरों में आ गया। अब वहां छः सौ चारपाइयां हैं। रोज बारह सौ बच्चों को देखा जाता है। शहर में इसकी दो और शाखाएं हैं जिनमें आठ सौ बच्चों के देखने का प्रबन्ध है। अस्पताल में एक सौ डाक्टर और चार सौ नर्सें हैं। बच्चों की बीमारी पोलियो की चिकित्सा का विशेष प्रबन्ध है। मेरा बच्चा (जेता) जन्म के पहले ही वर्ष में पोलियो से आक्रान्त हो गया था। आक्रमण हल्का था। पर उसके कारण उसका दाहिना हाथ कमजोर पड़ गया। इसलिए मैं यहां उसे विशेष तौर से दिखाना चाहता था। चीन में एलोपैथी और आयुर्वेदिकी चिकित्साओं का सुन्दर मेल कर दिया गया है। योग्य अनुभवी वैद्य डाक्टरों से किसी तरह भी कम नहीं समझे जाते। बड़े डाक्टर भी स्वीकार करते हैं कि कितनी ही बीमारियों में देशी चिकित्सा पद्धति अधिक लाभदायक साबित होती है। मुझे एक बालक को दिखाया गया, जो पोलियो के कारण हाथ-पैर से लुंज हो गया था। चीन की एक चिकित्सा सूई-स्पर्श है। सूइयों के नोकों को चमड़े से स्पर्श कराया जाता है। स्पर्श नहीं बल्कि इसे हल्का चुभाना कहना चाहिए। यह चुभाना इतना अच्छी तरह से हो रहा था कि बच्चे को मैं हंसता देखता था। इसी के बलपर अब वह ६५ प्रतिशत स्वस्थ हो गया था, चल-फिर सकता था, अपने प्रत्येक अंग से काम करता था। आधुनिक डाक्टर इसकी व्याख्या यह करते हैं कि सूई-स्पर्श से चमड़े के ज्ञानतंतुओं को उत्तेजित किया जाता है, जिसके कारण यह सफलता मिलती है।

यहां की महिला डाक्टर सेन ने हमें अस्पताल दिखलाया। उन्होंने बतलाया कि मेडिकल कालेज में डाक्टरी शिक्षा छौ बरस लेनी पड़ती है। नर्स की शिक्षा तीन वर्ष की है। नर्सों का वेतन चालीस से दो सौ युवान तक है और डाक्टरों का साठ से तीन सौ युवान तक। सफाई और व्यवस्था का सर्वत्र राज्य था। प्रायः नर्स और डाक्टर परस्पर विवाह सम्बन्ध कर

लेते हैं, इसलिए उनके गृहस्थ जीवन में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। डाक्टर सेन ने बतलाया कि अनिद्रा आदि कुछ रोगों में वैद्यों की चिकित्सा बहुत सफल देखी जाती है। यहां कुछ चारपाइयों को खाली देखकर मालूम हो रहा था कि पेकिङ् में बच्चों की चिकित्सा के लिए पर्याप्त प्रबन्ध है। पर पूरे देश में जितने डाक्टरों की मांग है, उसे पूरा करने में कुछ समय लगेगा। दवाइयां सभी देश में ही बनती हैं। बहुत थोड़ी सी विशेष दवाइयां बाहर से मंगायी जाती हैं।

चीन की राजधानी में पहली बार आने पर मेरे सारे दिन कितने व्यस्त रहे, इसका कुछ दिग्दर्शन इस लेख में मिलेगा। वहां देखने की बहुत सी चीजें थीं और उन्हें मैंने पीछे देखने की कोशिश की। पर ६२ लाख की आबादी की इस नगरी के हर दर्शनीय स्थान या संस्था को इतने समय में कहां देखा जा सकता है। चीन तो हमारे देश और नगरों से इतनी समानता और सदृशता रखता है कि वहां से हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। लेखक को इन्हें देखकर ही तुष्टि नहीं होती, बल्कि वह चाहता है कि हमारे नगर भी इसी तरह के हों। चीन के लोग भारतीयों के साथ असाधारण सौहार्द रखते हैं। उनका "हिन्दी-चीनी भाई-भाई" कहना बिल्कुल कृत्रिम नहीं है। अपना पृथक व्यक्तित्व रखते हुए भी चीन और भारत की संस्कृतियां सहोदरा हैं।





मंचूरिया में

आजकल मंचूरिया शब्द चीन में शायद ही कभी सुनने में आता हो। चार प्रदेशों—ल्याउनिङ्, हेइलुङ्क्याङ् किरिन, पूर्वी भीतरी मंगोलिया—वाले इस प्रदेश को पूर्वोत्तर प्रदेश कहते हैं। पूर्वी भीतरी मंगोलिया भीतरी मंगोलिया नामक विशाल प्रांत का एक छोटा सा अंश है जो पूर्वोत्तर प्रदेशों में नहीं गिना जाता। अपनी १९३५ की यात्रा में मैं मंचूरिया में एक महीने के करीब घूमा था। इसलिए तब से अब की तुलना अच्छी तरह कर सकता था। यही कारण था कि वहां जाने में मुझे बहुत दिलचस्पी थी। २ जुलाई को श्री चेङ् के साथ सवा ७ बजे स्टेशन पहुंचा। ७ बजकर २५ मिनट पर हमारी ट्रेन छूटी और पौने ९ बजे हम शिनयान नगर में पहुंचे। शिनयान का चीनी उच्चारण सैंया है। मंचू भाषा में इसे मुक्दन

कहते हैं और विश्व में अधिकतर वह इसी नाम से प्रसिद्ध है। मंचूरिया की विशाल भूमि में कभी मंचू भी रहे होंगे। मंचू प्रायः चीनी जनसमुद्र में क्षीरोदक हो गये हैं। बहुत थोड़े ही ऐसे मिलेंगे जो मंचू भाषा बोल सकते हैं। आज तो ये सारे ही तीनों प्रदेश हान (चीनी) भाषा बोलते हैं। तीनों प्रान्तों में मिलाकर सवा चार करोड़ लोग बसते हैं। अभी बहुत सी भूमि जंगलों से आच्छादित है।

नरम ऊंचे क्लास में एक आदमी का किराया २४.१४ युवान् (४८.२८ रुपया) था। पेकिङ् से बाहर हम चल रहे थे। नगर से निकलते ही दो स्तूप दिखाई पड़े। ग्रामों में घर मिट्टी की छत वाले थे। हरेक डब्बे में एक रक्षक था, जिसका काम था कम्पार्टमेन्ट और कोरीडोर को साफ रखना, मुसाफिरों को चाय और गरम पानी देना। दो-तीन पैसे में चाय की पुड़िया मिल जाती थी। कन्डक्टर उबला हुआ पानी लाकर कम्पार्टमेन्ट के थर्मस में भर दिया करता था। एक कम्पार्टमेन्ट में चार आदमियों की जगह थी—दो सीटें नीचे और दो सीटें ऊपर। खिड़की के साथ एक मुड़ने वाली मेज थी, जिस पर फूल का गमला जरूर होता था और साथ ही चार चाय के गिलासों की जगह भी। गिलास चीनी मिट्टी के भी होते थे और कांच के भी। चाय की पत्ती डालकर उबलता पानी छोड़ देने पर थोड़ी देर ढक्कन से ढके रहने पर अर्क उतर आता है। यही चाय सारे चीन में पी जाती है और इसका कोई समय निश्चित नहीं है। रेल में तो एक-एक आदमी बीस-बीस ग्लास तक पी डालता है। सीटें यद्यपि दो ऊपर भी होती हैं, पर दिन में सब लोग नीचे ही बैठते हैं। हर कम्पार्टमेंट में रेडियो का रहना भी आवश्यक है। उसे आप यदि बन्द न कर दें, तो वह चौबीस घन्टे बोलता रहता है। कभी समाचार, कभी गाना और स्टेशन नजदीक आने पर उसका नाम और उसकी विशेषता। मैं देख रहा था कि रास्ते का कोई स्टेशन ऐसा नहीं था, जहां नया कारखाना न बना या बन न रहा हो। हमारे डब्बे के एक कम्पार्टमेन्ट में दो रूसी थे। बाकी सभी यात्री चीनी थे। वर्षा होने लगी थी, इसलिए हरियाली अपने यौवन पर थी। कहीं-कहीं पहाड़ भी मिलते थे, जो बहुत ऊंचे नहीं थे। उन पर चार-छै हाथ ऊंचे पौदे लाखों की तादाद में लगाये गये थे। गांव में कहीं-कहीं हल भी चलते

देखे, जिनमें गदहे, खच्चर या घोड़े जुते हुए थे। यह भैंसों का देश नहीं है, क्योंकि वे यहां की सर्दी बर्दाश्त नहीं कर सकते। आगे शान-हाई-क्वान स्टेशन आया जिसका अर्थ है सागर-समुद्र-द्वार। सहस्राब्दियों तक पेकिङ् की प्रतिरक्षा का यह प्रधान स्थान रहा है। यहां शत्रुओं का मुकाबला करने में समुद्र और पहाड़ सहायक थे। बीच की थोड़ी सी खुली जगह को मोर्चाबन्दी करके सुरक्षित कर दिया गया था। लेकिन मनुष्य कभी ऐसी प्रतिरक्षाओं से रुक नहीं सका। वह कोई दूसरा रास्ता निकाल लेता है। इस रमणीय भूमि में समुद्र के किनारे अब बहुत से सैनीटोरियम बन गये हैं। मध्याह्न भोजन हमने ट्रेन में किया, जिसमें सवा युवान (ढाई रुपया) खर्च हुआ था। मुकदन स्टेशन पर स्वागत के लिए प्रदेश के बौद्ध संघ के अध्यक्ष तथा दूसरे बंधु मौजूद थे। ल्याउनिङ् होटल में ठहरने का बन्दोबस्त था। इस विशाल होटल को जापानियों ने बनवाया था। यद्यपि कमरों पर सौ से अधिक के नम्बर अंकित थे, लेकिन वे थे केवल पचास। चौबीस लाख की आबादी वाली इस महानगरी में नौ होटल हैं। अधिकांश मकान नवनिर्मित हैं।

मुकदन (सैंया)

पेकिङ् से मुकदन बहुत उत्तर है। यहां वैसी गर्मी नहीं थी। तीन जुलाई को आठ बजे सबेरे हम नाश्ते के बाद निकले। पहले सैंया-चुन्-शिन्-चीछीछङ् (बृहत् मशीनटूल-निर्माण फैक्टरी) देखने गये। जापानियों ने इसे मरम्मत करनेवाले मिस्तरीखाने के रूप में स्थापित किया था। १९४१ में वह रेल के चक्के भी ढालने लगी। १९४५-४८ में वहां जापान का शासन था। जाते वक्त उन्होंने कारखानों को तोड़कर बेकार कर दिया था। जो मशीनें रह गयी थीं, उन्हें बेच डालना कुओमिन्तांगी सैनिकों और शासकों का मुख्य कर्तव्य था। १९४८ में कम्युनिस्ट जब शासनारूढ़ हुए, तो इसे फिर से खड़ा करने की कोई आशा नहीं हो सकती थी। जापानी विशेषज्ञों ने तो यहां तक कह दिया कि बीस वर्ष में यह कारखाना खड़ा हो सकेगा। लेकिन चीनी ऐसी किंवदन्ती को मानने के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने

इसे फिर से जोड़ना शुरू किया। सोवियत विशेषज्ञों की सहायता मिली और १९५३ में कारखाने का पहले से भी अधिक विस्तार हुआ। आजकल १३० प्रकार के बड़े-बड़े मशीन-टूल (मूलयंत्र) यहां बनते हैं। इसमें १८०० कमकर काम करते हैं, जिनमें दो हजार इंजीनियर तथा टेक्नीशियन हैं। एक नयी शाखा बन रही है, जिसमें छै हजार कमकर काम करेंगे। अनशान, पाउथू, बुहान के विशाल इस्पात कारखानों के यंत्र यहीं से बनकर जाते हैं। रेल, खराद, धातु-पत्थर पीसने की चक्कियां यहां बनती हैं। मशीन-टूल के डेढ़ सौ टन भारी टुकड़े तक यहां ढाले जाते हैं। जल्दी ही एक हजार टन भार वाले मशीन-टूल बनने जा रहे हैं। किसी समय यहां सैकड़ों सोवियत विशेषज्ञ थे, लेकिन अब चीनियों ने सब सीख लिया है, इसलिए उनकी आवश्यकता नहीं रही। कारखाने में तीन पाली काम होता है।

ढलाईशाला अति-विशाल है। एक रोलिंग यंत्र दो हजार टन भारी था। १९६० में उत्पादन डेढ़-गुना होने की आशा की जा रही थी, लेकिन शायद यह १९५९ के अन्त में ही हो जाये। कमकरों का सांस्कृतिक प्रासाद देखा। उसमें सिनेमा और नाटक का भी प्रबन्ध है। इस कारखाने में क्रीड़ालय, वाचनालय, कलाशाला आदि बहुत सी संस्थाएं हैं। शिशु-शाला में दो-ढाई वर्ष के बच्चे देखे। वैसे तो सारे ही चीनी बच्चे स्वस्थ देखने में आते हैं। लेकिन मंचूरिया में उनका रंग ज्यादा सफेद है और वे अधिक सुन्दर भी हैं। इसका कारण यही है कि इनकी रगों में मंचू और मंगोल रुधिर भी काफी हैं। बच्चों के माता-पिता तीन युवान प्रति मास भोजनादि के लिए देते हैं। बाकी बोझ कारखाना अपने ऊपर उठाता है। हम हान-श्यू-फान के घर को देखने गये—नाम का अर्थ है सुन्दरी-सुगन्ध-हान। परिवार में माता-पिता, पुत्र और बहू के अतिरिक्त दो बच्चे हैं। घर में तीन कमानेवाले हैं, जिनका मासिक वेतन २४६ युवान (४९२ रुपया) है। खाने-पहनने आदि पर एक सौ चालीस युवान खर्च होते हैं। घर में एक अच्छा रेडियो, कुर्सी, और मेज-आलमारी थे।

लौटते वक्त हमने बाजार का भाव भी देखना चाहा। वह इस प्रकार था:

	किलोग्राम	युवान	रुपया
आटा	१	.४३	८६ न. पै.
शूकरमांस	"	१.४८	२.९६
गोमांस	"	१.२४	२.४८
बाजरा	"	.१२	.२४
मछली	"	.६०	१.२०
"	"	१.२०	२.४०
आड़ू (फल)	"	.३०-४०	.६०-८०
सेव	"	.८०	१.६०
अंगूर	"	.६०	१.२०
बियर	१ बोतल	.२५-२८	.५०-५४
कीमती मद्य	"	२.७०	५.४०

पुरुषों के कोट-पैन्ट दस युवान (बीस रुपये) के मिल जाते थे और स्त्रियों के तीन युवान में। जूता दो युवान से चौदह युवान (४ रुपये से २८ रुपये तक)। चार कमरे वाले फ्लैट का किराया १३ युवान (२६ रुपया)। इसी में बिजली और घर गरम करने का खर्च भी शामिल था। कुछ ही बरस पहले यहां के लोग बाजरा खाते थे। गेहूं अधिक भाग्यवानों के लिए ही था। आज बाजरा खानेवाले कहीं-कहीं मिलते हैं जो भी रोज नहीं खाते हैं। बाजरा को चीनी भाषा में कौलियान कहा जाता है। मैंने अंग्रेजी पुस्तकों में इसका नाम बहुत पढ़ा था। लेकिन यहां देखने पर मालूम हुआ कि यह अतिप्रसिद्ध अन्न और कुछ नहीं हमारे यहां का बाजरा ही है।

अपराहन में हम तार फैक्टरी (तेन नुन) देखने गये। यहां हारमोनियम, शीशे, ताम्बे आदि के बिजली के तार बनाये जाते हैं जो पतले सूत से लेकर प्रायः एक इंच तक मोटे होते हैं। यह नये ढंग की फैक्टरी है जिसमें सारा काम स्वयंचालित होता है। आरंभ में सात-आठ सोवियत विशेषज्ञों

ने यहां चीनियों को सारी विधि सिखायी। सारे कारखाने में घूमने पर कहीं कोई रूसी नहीं दिखाई पड़ा। पर संचालक ने बताया कि अभी भी एक विशेषज्ञ हैं। पर उनकी हर वक्त आवश्यकता नहीं पड़ती। इस फैक्टरी का आरंभ १९५३ में हुआ था और १९५६ से उत्पादन शुरू हो गया। ३० प्रकार के तार यहां बनते हैं। पतले तारों के बनाने में अधिकतर स्त्रियां काम कर रही थीं। इनमें १८ वर्ष की तरुणी थी। तीन पालियों में चार हजार कमकर काम करते हैं। ये सारे कमकर प्रतिज्ञा किये हुए हैं कि पन्द्रह वर्षों में हमें सभी बातों में अंग्रेजों को पीछे छोड़ देना है। इस कारखाने में यद्यपि तारों का उत्पादन बहुत ज्यादा होता है, पर सारे चीन के लिए पर्याप्त नहीं है। इसलिए ऐसे कई कारखाने चीन के भिन्न-भिन्न भागों में बने हुए हैं।

अब हम राज्य-प्रासाद देखने गये। मंजू राजवंश यहीं से गया था। प्रथम मंचू सम्राट इन्हीं प्रासादों में रहते थे। उनकी समाधि सैंया से कुछ दूर पर एक पहाड़ में अवस्थित है। मैं मंगोल सम्राटों के चित्रों को देखने के लिए बहुत उत्सुक था। पर वहां एक भी चित्र नहीं था। मैंने उन्हें १९३५ में देखा था। पूछताछ से तो इतना ही पता लगा कि शायद जापानी उन्हें उठा ले गये। प्रथम मंचू सम्राट का निवास एक बरस तक यहीं रहा था। उसी समय ये प्रासाद बने थे। मंगोलों के पहले ल्याउवंश (खितन) और किन्वंश ने भी उत्तरी चीन पर शासन करके मुक्दन को अपना केन्द्र बनाया था। मिङ् राजवंश में प्रथम मंचू सम्राट को अपने मांडलीक के तौर पर उपाधि पत्र दिया गया था। वह यहां प्रदर्शित था। आठ ध्वजा (सैनिक विभाग) और सात हजार पांच सौ सैनिकों की सहायता से मंचूओं ने मिङ् राज को जीत लिया। पुराने कमरों और शालाओं में ऐतिहासिक चीजें प्रदर्शित की गयी थीं जिनमें कलाकृतियां, चित्र, मूर्ति, बर्तन आदि थे। सभी संग्रहालयों की तरह यहां भी विद्यार्थियों और दूसरे दर्शकों की भीड़ लगी रहती है। हर कमरे में पथप्रदर्शक छोटा सा व्याख्यान दे प्रदर्शित वस्तुओं का परिचय देते हैं। एक प्रासाद को १६३२ ईसवी में द्वितीय मंचू सम्राट ने बनवाया था। छठे सम्राट की भी उपभुक्त वस्तुएं यहां रखी हुई हैं। ५०० किलोग्राम (आठ मन)

भारी कांसे की पट्टिका पर एक अभिलेख था। एक सम्राट का चोगा भी रखा हुआ था।

शाम को प्रादेशिक बौद्ध संघ ने भोज दिया। भिक्षुओं के लिए बिल्कुल निरामिष भोजन तैयार था।

अनशान

चीन का यह महान लौह-केन्द्र है। पहले तो यह एकमात्र केन्द्र कहा जा सकता था, पर अब पाउथू और वुहान भी विराट लौह-केन्द्र बन गये हैं। ५ जुलाई को हमने रेल से वहां के लिए प्रस्थान किया। दो घन्टे का रास्ता था। दिगन्त तक व्याप्त मकई और सोया के खेत थे। काली मकई बतला रही थी कि बस्तियों से दूर भी खेतों में खाद पूरी तौर से दी जाती है। चीन ने नंगे पहाड़ों को ही वृक्षों से ढंकना नहीं शुरू किया है, बल्कि रेल की सड़क के पास की खाली भूमि को भी उपवन में परिणत किया है। यह मंचूरिया है, पर जैसा कि पहले कहा, मंचू भाषा अब यहां के लिए अपरिचित सी हो रही है। इस भाषा का सम्बन्ध चीनी से नहीं बल्कि मंगोली भाषा से है। यह सुनकर आश्चर्य हुआ कि मंचू भाषा में मां को "नना" कहते हैं। ऋग्वेद में माता के लिए इस शब्द का प्रयोग हुआ है। मंचू-मंगोल भाषाओं का आर्य भाषाओं के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसे संयोग ही समझना चाहिए।

हमारी ट्रेन में रूसी युवकों का एक प्रतिनिधि-मंडल भी आ रहा था। उनके स्वागतार्थ हजारों चीनी तरुण स्टेशन पर खड़े थे। अनशान के बौद्ध प्रतिनिधि तथा दूसरे अधिकारी हमें होटल ले गये। यहां आस-पास दूर तक लौहमय पहाड़ हैं। सातवीं-आठवीं सदी में भी यहां लोहा निकाला जाता था। हां, कुटीर उद्योग के तौर पर। आधुनिक कारखाना १९१७ में जापानियों ने स्थापित किया। अनशान से और आगे जाने पर दैरिन और पोर्टार्थर आता है। १९३१ में मंचूरिया पर हाथ साफ करने से पहले जापानियों ने यहां की लोहे की खानों पर अधिकार किया। होटल के संचालक यान महाशय ने अनशान के बारे में कई बातें बतलायीं। १९४२

में—जापानियों के शासन काल में—नगर की आबादी ३ लाख थी। कुओमिन्तांग के शासन-काल (१९४५-४८) में वह कम होकर १ लाख रह गयी। भूख के मारे चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुई थी। १९४९ में जब कम्युनिस्ट शासन स्थापित हुआ, तो नगर की समृद्धि बढ़ने लगी। आजकल यहां आठ लाख आदमी रहते हैं और जल्दी ही उनके दस लाख हो जाने की उम्मीद है। सम्भावना तो और भी अधिक की है, पर सरकार अन्य उद्योगों की तरह लौह उद्योग को भी विकेन्द्रित कर रही है। सोवियत की सहायता से चार बरस के भीतर ही अनशान पहले से भी अधिक उत्पादन करने लगा। जापानी विशेषज्ञों का यह कथन झूठा हो गया कि कारखाने को फिर से खड़ा करने में बीस साल लगेंगे। सन् १९४५ में जापानियों के शासन में यहां की पैदावार सबसे अधिक थी। उस साल १३ लाख टन लोहा और साढ़े ४ लाख टन फौलाद पैदा किया गया था। १९५२-५३ में ६० प्रतिशत फौलाद और ९० प्रतिशत लोहा पैदा किया गया। फिर तो गाड़ी बड़ी तेजी से चल पड़ी। १९५७ में २९ लाख टन फौलाद और ३३ लाख टन लोहा बनाया गया। १९५८ में सारे चीन ने १ करोड़ १० लाख टन फौलाद बनाकर १९५७ के ५३ लाख टन को बहुत पीछे छोड़ दिया था। अनशान के कमकरों ने भी पीछे रहना पसन्द नहीं किया।

यहां १ लाख २० हजार कमकर काम करते हैं। १९५७ में नगर में ट्राम चलायी गयी। कारखाने में नौ बड़े भट्टे और दस छोटे हैं। सौ भट्टे जल्द ही बनने वाले हैं।

होटल में सामान्य परिचय पा लेने के बाद हम कारखाने में गये। १७०० सेंटीग्रेड तापमान में लोहा पानी बनकर गलने लगता है। नये प्रकार के भट्टों में सभी काम यंत्रीकृत हैं। कन्ट्रोल घर में बैठकर यंत्रों के सहारे आदमी सारी बातें जानता है। पहले एक चूल्हा बनाने में पन्द्रह मास लगते थे। अब कमकरों ने उसे घटाकर पांच मास कर दिया है। लोहे की धून भट्टे में पड़ने के बाद तीन घंटे में पिघल जाती है। पिघला लोहा ही मोटे-मोटे नलों द्वारा फौलाद के भट्टों में ले जाया जाता है। इसे फिर से जमाने की आवश्यकता नहीं रहती। २२० टन के फौलाद के भट्टे कुछ हटकर हैं। अग्नि-रोधक मिट्टी की ईंटें काम में लायी जाती हैं।

भला साधारण ईंटें १५०० के तापमान में कैसे टिक पातीं! अग्नि-रोधक ईंटों को भी बराबर बदलते रहना पड़ता है। लोहे के भट्टों के पास तो जाने से कुछ लाभ नहीं था, क्योंकि वे कुतुब मीनार की तरह बहुत विशाल थे। पर फौलाद के भट्टों को हमने नजदीक से देखा। एक खुली कर्मशाला में ये पांती से लगे हुए थे। मकान के तापमान को कम करने के लिए भारी पंखे से ठंडी हवा दी जा रही थी। फौलाद तैयार हो जाने पर पांच से दस टन की सिल्लियां ढाल दी जाती हैं। एक जगह दस और दूसरी जगह नौ भट्टे थे। यहीं दस-दस टन की रेलों की ढलाई हो जाती है। एक घन्टे में १५० टन रेलों का ढालना कम नहीं था। लोह कारखाने से सम्बद्ध और बहुत से कारखाने हैं। किसी कारखाने में लोहे के सिलों को भारी बोझ वाले यंत्रों से दबाकर बढ़ाया और विशेष आकार का बनाया जाता है। फिर खास लम्बाई में उन्हें वैसे ही आसानी से काट दिया जाता है जैसे दर्जी कैंची से फलालैन के कपड़े काटता है। लोहे को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में चुम्बक सहायता देता है। जोड़रहित नलों के बनाने का कारखाना दुनिया की एक अद्भुत सी चीज है। यहां कहीं भी आदमी के हाथ की जरूरत नहीं होती। लोहे को खास आकार और भार में काट दिया जाता है। उसे शक्तिशाली यंत्रों में लगाकर बीच से सूए आर-पार कर दिये जाते हैं। १० सेकेन्ड के भीतर एक मोटा छड़ नल के रूप में परिणत हो जाता है। यहां भी गर्मी की बचत के लिए गरम सिलें लायी जाती हैं। नल सभी आकार के बनते हैं। १९५७ में एक लाख नल बनाये गये।

विशाल कारखाने को देखकर श्रमिकों की अवस्था जानने की मेरी इच्छा हुई। वेतन के बारे में बतलाया गया कि सीखने वाले ४० युवान मासिक पाते हैं। शिक्षित श्रमिक ८० युवान और विशेष शिक्षित १५० से ३०० युवान तक पाते हैं। प्रविधिज्ञों (टैक्नोलौजी जाननेवालों) का वेतन ११० से २०० युवान तक है। इंजीनियर २०० से ३०० युवान तक पाते हैं। विभागीय संचालकों का वेतन २०० युवान है। प्रधान संचालक ३०० युवान मासिक पाता है। ६०० रुपल्ली को देखकर क्या टाटा का प्रधान संचालक क्रोध से पागल नहीं हो जायगा।

अनशान का अर्थ जीन पहाड़ हैं। शायद किसी पहाड़ की आकृति घोड़े की जीन सी होगी। नगर में मकान अधिकांश दुमंजिले, तिमंजिले और चौमंजिले हैं। उनमें से ६० प्रतिशत देश-मुक्ति (१९४९) के बाद बने हैं। श्रमिकों के बच्चों के लिए अनेक शिशुशालाएं तथा बालोद्यान हैं। एक शिशुशाला देखने गया जिसमें २६० साफ, सुन्दर और स्वस्थ बच्चे खेल रहे थे। श्याऊ (मित्रता) सड़क पर ८१५ नम्बर के घर में गया। घर में दादी मिली। तेरह बरस का पोता स्कूल गया था। पुत्र और पुत्रवधू भी नहीं थे। कमानेवाला सिर्फ पुत्र था, जिसका वेतन ११६ युवान (२३२ रुपया) था। घर में रेडियो था, सिलाई मशीन थी, बक्स और आलमारी थी, बहुत से कपड़े थे। इस घर में भाप से गरम करने का प्रबन्ध नहीं था, इसलिए जाड़ों में काङ् की शैय्या थी। काङ् खोखला चबूतरा होता है। जाड़ों में बाहर से ईंधन डाल कर आग जलायी जाती है जिससे चबूतरा गरम हो जाता है। दादी ७४ वर्ष की थीं। धर्म की चर्चा चलने पर कहा: "जवानी में मैं बौद्ध मन्दिर में जाती थी।" चीन में एक बात यह भी है कि विशाल नगरों को छोड़कर सभी जगह बौद्ध विहार बस्तियों से मीलों दूर रमणीय स्थान पर बनाये जाते रहे हैं। वहां हर वक्त आदमी को जाने की सुविधा कहां मिल सकती है?

अनशान देख लेने के बाद हम १५ किलोमीतर से अधिक दूर थाङ्-कङ्-च का गरम चश्मा देखने गये। रास्ते में पुराना "अनशान" कस्बा पहाड़ों में मिला। इसके चारों तरफ चहारदीवारी थी। वह गरम चश्मा बहुत सुन्दर स्थान में है। चीन के सामन्तों ने इसे सुन्दर बनाने की कोशिश की, लेकिन केवल अपने लिए। चाङ्-सोलिन् (सामन्त सेनापति) का महल यहां मौजूद है। अन्तिम मंचू सम्राट पूई ने भी अपने लिए यहां एक छोटा प्रासाद बनाया था। अब यह सामन्तों का विलास-उद्यान नहीं, बल्कि रुग्ण श्रमिकों का सैनीटोरियम है। यहां ११६० रोगियों के रहने का प्रबन्ध है। एक का प्रति मास ४२ युवान खर्च पड़ता है। श्रमिकों को उनका संघ यह खर्च देता है। साधारण रोगी भी २८ युवान मासिक देकर यहां रह सकते हैं। यहां की अधिकांश इमारतें १९५३-५४ में बनीं। जल-पंक मिश्रित एक छोटा सा तालाब है। यहीं बीच में गरम पानी निकलता

हैं। नल द्वारा पानी स्नान कोष्टकों में जाता है। १२० छोटे और ४ बड़े कोष्टक हैं। एक समय ढाई सौ आदमी नहा सकते हैं। गरम पानी को २ जलनिधियों में जमा किया गया है। वहां ७२ डिग्री सेंन्टीग्रेड का तापमान होता है। आदमी ४१-४२ डिग्री के पानी को ही सह सकता है। घर के भीतर और बाहर खेल का प्रबन्ध है। एक पुरुष घोड़े पर चढ़ा व्यायाम कर रहा था। यहां से १६ किलोमीतर दूर छैन्‌ज़ाङ् पहाड़ पर भी गरम पानी के चश्मे हैं।

हरे-भरे खेतों के बीच होकर चलती पक्की सड़क से हम अनशान लौटे। अभी ट्रेन के आने में देर थी, इसलिए चिड़ियाखाना देखने चले गये। चिड़ियाखाना शिक्षा का एक महत्वपूर्ण साधन है, इसलिए चीन के हर शहर में उसका होना आवश्यक समझा जाता है। वहां की विशाल जंगली शूकरी ने हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। वह एक पूरे भालू या गधे के बराबर थी। ग्राम शूकर के साथ उसके सम्बन्ध से अच्छी जाति के सूअर पैदा किये जा सकते हैं, पर शायद यह शूकरी ग्राम्य शूकर को देखते ही उसे मरोड़ दे। एक काला भालू भी उसी तरह विशालकाय था। पौने छः बजे शाम को रेल में बैठकर हम आठ बजकर दस मिनट पर सैंया (मुकदन) पहुंच गये।

फू-शुन

जाड़ों में मंचूरिया साइबेरिया के कान काटती है। यदि उस समय मैं यात्रा करता, तो इतने प्रशंसा वचन मुंह से न निकलते। इस समय तो यह सारा प्रदेश नन्दन-कानन बना हुआ था। सभी जगह हरियाली ही हरियाली दिखाई पड़ती थी। पहाड़ भी सर से पैर तक हरे वस्त्र पहने हुए थे। सैंया से फू-शुन को रेल भी जाती है। पर मोटर से जाने पर देखने में अधिक सुविधा रहेगी, इसलिए उसीका प्रबन्ध किया गया। शायद सभी मेहमानों को नयी और सुन्दर कारें दी जाती हैं? या यह भी हो सकता है कि हर टिकान पर जो ड्राइवर मोरछल ले कार साफ करने लगते हैं, इसलिए वे बिल्कुल नयी मालूम होती हों। ४५ किलोमीतर की

यात्रा हमने एक घंटे में समाप्त की। रास्ते में सड़क से हटकर पहाड़ भी आये। फू-शुन को भी पहाड़ी जैसी जमीन पर बसा कहना चाहिए। धार्मिक विभाग के अधिकारी श्री छोई यू-आई ने स्वागत किया। १९५७ में बने होटल के ६६ नम्बर के कमरे में स्थान मिला। फिर उनसे हमने नगर के बारे में परिचय पाया—८ लाख ६० हजार लोग नगर में बसते हैं और १ लाख ७ हजार उपनगर में। फू-शुन १९०५ में ही, रूस की पराजय के बाद जापान के हाथ में चला गया था और १९४५ तक रहा। ४० वर्षों में जापानियों ने इसे जापानी रूप देने की कोशिश की। चीन पर आक्रमण करने के लिए फू-शुन एक आधार स्थान था। १९३१ में यहीं से बढ़कर जापानियों ने सारे मंचूरिया पर अधिकार किया था। उनके शासन-काल में (१९४१ में) नगर की आबादी ३ लाख थी। १९४५ से १९४८ तक च्यांग काई-शेक ने इसपर अधिकार रखा। जापानी भी जिन कारखानों और मशीनों को नष्ट नहीं कर पाये थे, उन्हें कुओमिन्तांगियों ने बेच-बाचकर खत्म किया। मजदूर उनके विरोधी थे। उन्होंने कुछ मशीनें छिपा रखी थी। नवम्बर १९४८ में नगर च्यांग काई-शेक के हाथों से मुक्त हुआ। उस समय नगर में केवल १ लाख ८० हजार लोग रह गये थे। पुनर्वास और पुनर्निर्माण का काम बड़ी तेजी से होने लगा। नगर की जान, नगर का प्राण यहां का कोयला था। कोयले की खानों के पत्थरों से पैट्रोल निकालने का कारखाना भी यहां जापानियों ने कायम किया था। ये सभी ध्वस्त हो गये थे। एक साल के भीतर १९४९ में २० लाख टन कोयला और ५० हजार टन पैट्रोल निकाला गया। १९५७ में कोयला ९० लाख और पैट्रोल ४ लाख ९० हजार टन हुआ। १९५८ के लिए १ करोड़ २२ लाख टन कोयला और ६ लाख ४० हजार टन पैट्रोल का लक्ष्य रखा गया था। फू-शुन में कोयला और पैट्रोल के अतिरिक्त मशीन बनाने के कारखाने भी हैं। हमारे यहां, खासकर दिल्ली में तिनपहियां या स्कूटर रिक्शे चलते दिखाई पड़ते हैं। फू-शुन तिपहिया ट्रकें बनाता है जिनमें दो-तीन टन सामान ढोया जाता है। यहां बरस में दो हजार तिनपहिया ट्रकें और दो हजार ट्रैक्टर बनाये जाते हैं। अगले साल उत्पादन और बढ़ेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

युगों से पत्थर का कोयला यहां की धरती में मौजूद था और कुछ को तो ऊपर भी पाया जाता था। मंचू शासन में भी नगर का महत्व इसी बात से मालूम हो जायगा कि प्रथम मंचू सम्राट की कब्र यहां से सैंया जाने वाली सड़क के पास ही है। यहां १९०१ से कोयला खोदने का काम आरंभ हुआ था।

होटल एक पहाड़ी के ऊपर बहुत सुन्दर स्थान में बना है। अन्य होटलों में अभी तक भोजनशालाओं में ही स्त्रियों को काम करते देखा था, पर यहां उन्हीं के हाथ में होटल का प्रबन्ध था। नीचे के एक कमरे में छोटी सी दूकान थी, जिसमें १५-२० तरह की चीजें रखी हुई थीं। वहां कोई बेचनेवाला नहीं था। दाम लिखा हुआ था। ग्राहक पैसा देकर उसे उठा ले जाते थे। मालूम हुआ कि शहर में एक बड़ी दूकान इसी तरह चल रही है। उसे भी हम देखना चाहते थे, पर अभी तो हमें आठ किलोमीतर दूर कोयले की खुली खान को देखना था। यह खान ६६०० मीतर लम्बी, हजार मीतर चौड़ी और हजार मीतर गहरी है। इतनी गहराई में पानी बहुत होना चाहिए, पर वह बिल्कुल रूखी थी। रेल की लाइन के पास आफिस की इमारत की छत से यह विस्तृत खान या खन्दक दिखलाई पड़ रही थी। नीचे से कोयले भरी गाड़ियां बिजली के एक इंजन के सहारे ऊपर आतीं। रेलवे लाइन पर खड़े डब्बे में स्वयं ही कोयला भर जाता और ट्रेन फिर लौट पड़ती। कार्यालय में पता लगा कि यहां २६ हजार मजदूर काम करते हैं। १९४९ में २९ युवान मासिक वेतन था। १९५७ में श्रमिक ५२-१६० युवान तक और इंजीनियर २०५ से ११५ युवान तक पाते थे। संचालक का वेतन १९५ युवान है। खनकों के रहने के लिए घरों का प्रबन्ध कैसे किया जा रहा है, इसका पता इसीसे लगेगा कि जहां १९४९ में निवास स्थान पांच हजार वर्ग मीतर था, वहां अब २ लाख वर्ग मीतर हो गया है। तिमंजिले-चौमंजिले घर खड़े हो गये हैं। दूर हरे-भरे पहाड़ों में सैनीटोरियम के घर दिखाई पड़ रहे थे। मजूरों को रहने के लिए बिजली-पानी और मकान गरम करने के वास्ते चार युवान प्रति मास देना पड़ता है। बिजली की रेल में बैठकर हम नीचे के प्लेटफार्म तक गये। पेंदे में भी उतर सकते थे, पर हमने यहीं

से देखना पसन्द किया। नीचे से ऊपर तक भिन्न-भिन्न रंग के पत्थरों और कोयलों की तहें दिखाई पड़ रही थीं। खान कितनी समृद्ध है यह इसीसे पता लगेगा कि कोयले की तहें चालीस से एक सौ बीस मीतर तक मोटी हैं। ऊपर की मिट्टी और बालू भी बेकार नहीं जाता। नीचे हरे रंग के पत्थर साबुन के उपादान हैं। वहां पीले-लाल पत्थर थे जिनसे पैट्रोल निकाला जाता है। १९५६ से खानों को खोदने में जल-शक्ति का प्रयोग किया जाने लगा। यहां मजदूरों को हाथ चलाकर कोयला नहीं खोदना पड़ता। खोदने की मशीन एक बार में एक टन से अधिक खोद देती हैं।

वहां से लौटते समय हम पैट्रोल के कारखाने में गये। यह भी नगर से पांच किलोमीतर दूर है। २८ वर्ष के, पर देखने में २० वर्ष से कम के, तोङ्-सुङ् महाशय ने हमें अपना कारखाना दिखलाया। १९२८ में पत्थर से पैट्रोल बनाने का कारखाना जापानियों ने आरंभ किया था। उन्होंने १४० भट्टे लगाये, जिनसे १९,००० टन पैट्रोल निकलते थे। उनके समय में पैट्रोल की अधिकतम उपज २ लाख ५० हजार टन तक पहुंची थी। पराजय के बाद उन्होंने अपने कारखानों को नष्ट कर दिया। जो कुछ बचा था, उसे च्यांग काई-शेक के जेनरलों, कर्नलों, मेजरों, कप्तानों ने बेंच खाया। १९४८ से १९५३ तक पुनर्निर्माण का काम होता रहा। जापानी ३६ टन पत्थर से १ टन पैट्रोल निकाल पाते थे। अब ३१ टन में १ टन निकलता है। जापानियों के भट्टे छोटे-छोटे थे। अब बीस विशाल चूल्हे काम कर रहे हैं। कारखाने के पुनः स्थापित करने में सोवियत विशेषज्ञों का बड़ा हाथ रहा है। १९५७ में ३ लाख २५ हजार टन पैट्रोल निकला और १९५८ में ४ लाख १० हजार टन निकालने का लक्ष्य है। साढ़े ७ हजार मजदूरों में ५०० स्त्रियां हैं। मजदूरों का वेतन ५५ से लेकर १०८ युवान तक है। इंजीनियरों का ९९ से २२५ युवान और संचालक का २०० युवान मासिक। काम तीन पाली में चौबीसों घन्टे होता रहता है। अधिक गरम स्थानों पर काम करने वाले सिर्फ छौ घन्टे काम करते हैं। वहां चार पाली होती है। मजदूरों के रहने के लिए नये स्वच्छ मकान बने हैं। एक कमरे का किराया डेढ़ युवान है, जिसमें ३० सैन्ट बिजली-पानी आदि का भी शामिल है। खानों से पत्थर रेलों पर लाये जाते हैं। बड़ी-बड़ी

मशीनें उनको तोड़कर आटा सा बना देती हैं। फिर उन्हें भट्टों में डाला जाता है। पहले काले रंग का तेल निकलता है। उससे बहुत सी चीजें अलग की जाती हैं। रासायनिक खाद बनती है। सफेद और पीले रंग की सुन्दर मोम निकलती है। मधु के छत्ते की तरह का कोयला भी पैदा होता है। जल में उबाले जाने से पीला रस निकलता है। फिर उसे चीनी वैज्ञानिकों द्वारा आविष्कृत तरीके से तह पर तह लगाया जाता है। प्रदर्शनी भवन में ये सारी प्रक्रियाएं दिखायी गयी थीं।

लौटने के बाद हमने बाजार देखा। पूछने पर चीजों के निम्नलिखित दाम मालूम हुए :

वस्तु	मात्रा	युवान	रुपया
जूता (स्त्री)	एक जोड़ा	१० से १३.७५	२० से २७.५०
" (पुरुष)	"	१०.८२ से १७.१४	२१.६४ से ३४.२८
" (बच्चे)	"	४.७० से ६	९.४० से १२
चावल	१ किलोग्राम	.३३	.६६
बाजरा	"	.१३	.२६
आटा	"	.४४	.८८
कांगुन	"	.१४	.२८
उड़द	"	.१४	.२८
गुच्छियां (सूती)	"	१६.४२	३२.८४
मछली	"	.९८	१.९६
अंडा	"	१.५०	३
प्याज	"	.२६	.५२
बन्दगोभी	"	.१०	.२०
सौसेज	"	४.८८	९.७६
शूकर मांस	"	१.४६	२.९२

६ बल्ब का रेडियो २१७.३० (४३४.६० रुपया), ४ बल्ब का ६४ युवान (१२८ रुपया), फाउन्टेनपेन .६६ से ७.१० युवान, स्याही .३१ से .३५ तक

मिलती थी। ढक्कन के साथ आल्मूनियम के बड़े पात्र का दाम २.७७ है। कपड़ों में ऊनी कोट का ३७.६६ व कपास के कोट-पैन्ट का दाम ५ युवान था।

देखने से मालूम होगा कि जीवन की अत्यावश्यक चीजें महंगी नहीं थीं। जब सभी काम करनेवाले लोग काम करते और पैसा कमाते हैं, तो वह चीजों के खरीदने का अधिकार रखते हैं। जब तक उतने परिमाण में चीजें नहीं होतीं, तब तक नियन्त्रण करने का एक ही रास्ता होता है, यह कि जो चीजें पर्याप्त मात्रा में तैयार नहीं होतीं, उनका दाम अधिक रखा जाये।

हम फू-शुन के बाल-आश्रम देखने शहर से आठ किलोमीतर दूर पर्वतों की हरियाली के बीच गये। श्रीमती क्याउ १० अक्तूबर १९४९ से इस संस्था की संचालिका हैं। पहले इसका आरंभ अनाथालय के तौर पर हुआ था। लेकिन ऐसे बच्चों की जब कमी हो गयी, तो दूसरे बच्चों के लिए छूट कर दी गयी। इस वक्त १०६ बालक (४३ बालिकाएं) वहां हैं। इनकी आयु दो महीने से १८ वर्ष तक की है। १९४९ में बच्चों की संख्या २२० थी। फिर अनाथ बच्चे घटने लगे और दूसरों के लिए रास्ता खोला गया। इस समय ११ अनाथ, २९ अर्ध-अनाथ (जो ८ युवान मासिक देते हैं) और ४६ शिशु हैं। १३ धाइयां हैं। अध्यापकों में एक पुरुष हैं। आयु के अनुसार ७ से १८ वर्ष के २७ बच्चे हैं। ३ से ७ बरसवाले बालोद्यान के विद्यार्थी हैं। कितने ही लड़के पढ़कर घर चले जाते हैं। स्वच्छ दोमंजिले भवन अत्यन्त सुन्दर प्राकृतिक परिपार्श्व में अवस्थित हैं। सभी कमरे साफ-सुथरे हैं। एक कमरे में ११ बच्चे रहते हैं। छोटे बच्चों के बिस्तरे कुछ छोटे हैं और बड़ों के बड़े। चीन में युगों से दूध हराम रहा है। आठ-नौ महीने की उमर में माता का दूध छोड़ने के बाद फिर दूध चीनियों के मुंह में नहीं जाता था। यहां तीन बरस के बच्चों तक को दूध दिया जाता था। १९५७ में इस संस्था पर १८,६०० युवान खर्च हुआ था।

शहर लौटने के बाद अभी समय था। अतः हम यहां के वृद्धाश्रम को देखने गये। यहां ६० से ८२ बरस की उम्र के १६८ वृद्ध रहते हैं। इस आश्रम को मजदूर संघ ने १९४९ में स्थापित किया। आरंभ में

४४ के लिए जगह थी, अब १७० के लिए है। हर एक कमरे में प्रायः दो वृद्ध रहते हैं। सारे ८० कमरे हैं। अधिकतर वृद्ध पेंशन पाने वाले हैं। १६५७ में इस संस्था पर ३० हजार युवान खर्च हुआ था। खेलना, फुलवारी में काम करना, पढ़ना आदि उनके मन-बहलाव के साधन हैं। बूढ़े होने के कारण ६० प्रतिशत निरक्षर हैं, पर वे दूसरों से किताबें और अखबार पढ़वा कर सुनते हैं। मुफ्त में महीने में तीन बार सिनेमा-थियेटर देखने जाते हैं। भोजन का खर्च प्रति मास साढ़े तेरह युवान है। सिहवन-क्वान अस्सी वर्ष के हैं। वह पेकिङ् वाले प्रदेश होपे में जन्मे। सत्रह वर्ष की उमर में रोजी की तलाश में मंचूरिया आये। तीस वर्ष तक कोयला खान में काम करते रहे। शरीर स्वस्थ है, हां आंख-कान में कुछ कमजोरी अवश्य है। दूसरे ६७ वर्ष की आयु के वृद्ध शिक्षित और परिष्कृत रुचि के हैं। उन्होंने अपने कमरे को चित्रों, सुन्दर चीनी पात्रों से अलंकृत कर रखा था। वह आग्रहपूर्वक अपने कमरे में ले गये। वृद्धों के इस सुखी जीवन को देखकर मुझे अपने यहां के वृद्धों का खयाल आ रहा था।

शाम आ रही थी। हमारी कार सेंया की ओर लौट पड़ी।

पुनः सेंया (मुकदन) में

७ जुलाई के सबेरे भी वर्षा हुई और रात को तो काफी। सर्दी का मौसम मालूम हो रहा था। हमारा देखने का काम जारी रहा। वर्षा ने उसमें बड़ी बाधा नहीं की। पूर्वाह्न में हम लामा-बिहार देखने गये। यह बड़ा बिहार है। इसके अतिरिक्त तीन और लामा-बिहार मुकदन में हैं। नगर में तीन हजार से अधिक मंगोल रहते हैं। १६३५ की अपनी यात्रा में मैं इस बिहार में आया था। उसके बारे में अपनी पुस्तक "जापान" में लिखा भी था। उसकी स्मृति अब भी मेरे दिमाग में ताजा थी, क्योंकि गन्दगी में यह स्थान बाजी मार ले गया था। इसके पास टूटी-फूटी चहारदीवारी वाली एक बगीची थी, जिसके कूड़े के ढेर पर मैंने किसी कुत्ते या गधे को मरा देखा था। उस वक्त वहां जापान का शासन था।

जापानी लोग दुनिया में सबसे स्वच्छ जातिवाले माने जाते हैं· मुकदन में जिस अंचल में जापानियों ने अपने घर बनाये थे, वहां खूब स्वच्छता थी। पर चीनी मोहल्लों में मक्खियां भिनभिनाया करती थीं। जापानी अपने को धनी बनाने आये थे, न कि यहां के लोगों को दरिद्रता से मुक्त करने। सौ में दस-पन्द्रह चीनी ही ऐसे थे जिनके पैरों में जूता हो। शरीर पर गन्दे और फटे कपड़े थे। कहां गया वह पुराना मुकदन? कहां गयी पुरानी मंचूरिया? आज मच्छरों और मक्खियों का कहीं पता न था। लामा-बिहार में भी स्वच्छता की कोई सीमा न थी। बहुत ठंडी जगह होने के कारण तिब्बती और मंगोल लामा सफाई आदि के बारे में उतना ध्यान नहीं देते थे, पर वे ही लामा अब चारों ओर स्वच्छता बिखेरते चलते हैं। उन्होंने अपने मन्दिर और रहने के स्थान दिखाये। आंगन में अच्छी फुलवारी लगी हुई थी। वे स्वयं बगीचे में काम करते हैं। बिहार की आय भक्तों और मकानों के भाड़े से होती है। १९५७ में सरकार ने १० हजार युवान (२० हजार रुपया) मरम्मत के लिए दिया था। इस नगर में चालीस बौद्ध बिहार हैं। ताऊ मंदिर ११, इसाई १४ और कैथलिक ३ हैं। कैथलिकों को इसाइयों से अलग गिनाने की यहां परम्परा है।

लामा-बिहार से हम अन्-छन्-चुन्-स्स चीनी बिहार में गये। ५६ भिक्षु यहां रहते हैं। हमारे पहुंचने के समय पीले चीवर पहने हुए भिक्षु सूत्र (बुद्ध वचन) का स्वरसहित पाठ कर रहे थे। बुद्ध-मन्दिर में १८ स्थविरों (बुद्ध शिष्यों) की सुन्दर प्रतिमाएं थीं। वस्तुतः बिहार की स्थापना १७वीं सदी में हुई थी। पर यहां पर थाङ्-काल की मूर्तियों का भी संग्रह है। एक मूर्ति युन्-काङ् गुहा बिहार से आयी है। भिक्षु शिक्षित और संस्कृत रुचिवाले हैं, इसलिए उनका ध्यान कला तथा साहित्य की ओर जाना ही चाहिए।

हम नगर से बाहर विशाल क्षेत्र में स्थापित पोलीटेकनिक संस्थान को देखने गये। आठ विशाल महलों जैसे भवनों में पढ़ाई आदि का प्रबन्ध था। चार छात्रावासों में ६ हजार विद्यार्थी (८०० छात्राएं) रहते हैं। शिक्षकों की संख्या ८८७ है, जिनमें ४७ प्रोफेसर हैं। हाई स्कूल समाप्त कर यहां पढ़ने के लिए तरुण-तरुणियां आते हैं। पांच वर्ष की पढ़ाई

हैं। इस संस्था की स्थापना १९५० में हुई। इमारतें १९५२ में बनकर समाप्त हुईं। और जगह ईंट-चूने पर खर्च करने में चीन सरकार बहुत संकोच करती है, पर ऐसी संस्थाओं पर वह मुक्तहस्त हो पैसा बहाती है। मुक्दन का यह विश्वविद्यालय जिस सड़क पर है, उसका नाम संस्कृति मार्ग है। इसमें आठ विभाग और बीस उपविभाग हैं। ९० प्रतिशत से अधिक विद्यार्थी छात्रवृत्ति पाते हैं, जो ८ युवान के करीब होती है। अध्यापकों का वेतन ६२ से २५० युवान और प्रोफेसरों का २४० से २५० युवान तक है। टेक्नोलौजी—अनेक विज्ञानों का प्रायोगिक ज्ञान—एक विशाल विषय है। हमारे देश में शिकायत ही नहीं बल्कि आक्षेप भी किया जाता है कि हिन्दी को उच्च शिक्षा और टेक्नोलौजी का माध्यम कैसे बनाया जाये, जब कि उसमें पुस्तकें नहीं हैं। चीन में भी पुस्तकें नहीं थीं। लेकिन अब वहां के वैज्ञानिक संस्थानों और कालेजों में पुस्तकें लाखों की संख्या में मिलती हैं। चीनी भाषा की वह कमी तेजी से दूर हो रही है। चीन साइंस सिखाने के लिए अपने लाखों विद्यार्थियों के सामने अंग्रेजी सीखने की शर्त नहीं रख सकता था। पैर में कांटे न चुभें इसके लिए यह भी हो सकता है कि सारी भूमि को चमड़े से ढांक दिया जाये। दूसरा रास्ता यह भी है कि अपने पैरों को चमड़े से ढांक दिया जाये। चीनी शिक्षा-विशेषज्ञ पैरों के ढांकने के पक्षपाती हैं और हमारे भारतीय विशेषज्ञ धरती को ढांकने का सुझाव रखते हैं। यहां की हरेक बड़ी शिक्षण संस्था में अनुवाद का ब्यूरो है, जो २ हफ्ते में हजार पेज की पुस्तक का अनुवाद करके और साइक्लोस्टाइल से ३-४ सौ प्रतियां निकालकर आपके सामने रख सकता है। चीनी लोग रूस से सबसे अधिक सीख रहे हैं। रूस के साइंस को पिछड़ा कहनेवाला आज दुनिया में कोई नहीं है। रूसी भाषा अत्यन्त समृद्ध है। चीन के उच्च शिक्षणालयों में रूसी पुस्तकें बहुत भारी संख्या में आती हैं। अध्यापकों में कुछ रूसी जाननेवाले हैं। जिस पुस्तक की आवश्यकता समझी जाती है, अनुवाद के लिए ब्यूरो को कहने भर की देर है।

चीन ने रूसी पुस्तकों से ही भरपूर सहायता नहीं ली है, बल्कि रूसी अध्यापकों से भी इसी प्रक्रिया से लाभ उठाया। न रूसी अध्यापक को

चीनी पढ़ने की आवश्यकता थी और न चीनी विद्यार्थी को रूसी। हरेक रूसी विशेषज्ञ या अध्यापक के साथ एक दुभाषिया लगा दिया जाता। दुभाषियों को तैयार करना आसान है, पर लाखों की संख्या में छात्रों को रूसी का पंडित बनाना असंभव है। यह बात नहीं कि चीनी कम्युनिस्ट होने के कारण गैर-कम्युनिस्ट देशों से ज्ञान लेना नहीं चाहते। जर्मन, फ्रेंच और अंग्रेजी की पुस्तकें भी वहां आती हैं। हां उतनी संख्या में नहीं जितनी कि रूसी में। शाङ्हैं और दूसरे स्थानों में अंग्रेजी जाननेवालों की संख्या चीन में लाखों है, इसलिए अनुवाद की भी दिक्कत नहीं। वैज्ञानिक यंत्र जो देश में नहीं बन सके हैं, वे रूस से आये हैं, इसलिए रूस से ज्यादा सहायता लेना स्वाभाविक है।

छाङ-छुन् नगरी

मध्याह्न भोजन के बाद हम स्टेशन पर पहुंचे। १ बजकर २० मिनट पर ट्रेन छाङ्-छुन् के लिए चली। साढ़े चार घंटे की यात्रा के बाद यह मंचूरिया का केन्द्रीय नगर आया। यहां पर भी स्वागत के लिए भिक्षु और अधिकारी स्टेशन पर आये थे। ६ बजे हम एक बड़े होटल में पहुंचे। पहले मंचूरिया की रेलें रूसियों के हाथ में थीं। उन्हीं के रेल विभाग ने इस होटल को बनाया था। चूंकि भारतीय अतिथि के पास और भी लोग आया करते थे, इसलिए मुझे प्रायः दो कमरे वाले सूट में ठहराया जाता था।

छाङ्-छुन् को जापानियों ने सारी मंचूरिया की राजधानी बनाया। १९३५ में, जब मैं यहां आया, तब यह नगर अभी बस ही रहा था। पुराना कस्बा जरूर यहां था, पर वह देहात सा मालूम होता था। जापान ने उसे बढ़ाते हुए ७ लाख का नगर बना दिया था। आज १० लाख २० हजार आदमी बसते हैं। यह जापानियों का शासन-केन्द्र ही नहीं था, बल्कि यहां सबसे बड़ी सैनिक छावनी भी थी। सेना के अलावा ७० हजार जापानी नगर में बसते थे। नगर का प्रधान मार्ग स्तालिन मार्ग है जो १५ किलोमीतर लम्बा है। इसी के ऊपर बैंक और बड़ी-बड़ी दूकानें जापानियों ने स्थापित की थीं। नगर नवीन है। इसलिए इसकी सड़कें सीधी और चौड़ी

हैं। उस समय की स्मृति से मैं आज के शहर को पहचान नहीं सकता था। प्रदेश के बौद्ध संघ के अध्यक्ष हमें अपना बिहार दिखाने ले गये। इसमें थ्-येन-दाई संप्रदाय के ४२ भिक्षु रहते हैं। बिहार बहुत परिष्कृत है। बिहार से बाहर सड़क के दूसरे किनारे पर एक छोटी सी फुलवाड़ी है, जिसमें ५.३ मीतर (२० हाथ) ऊंची अवलोकितेश्वर की विशाल धातु प्रतिमा है, जो उतने ही ऊंचे चबूतरे पर स्थापित है। यहीं के मूर्तिकार ने जापानी शासन के समय कांसे से इस मूर्ति को ढाला था। बगीचे में फूल भी हैं और फल के वृक्ष भी। चीनी भिक्षु पहले भी हाथ से काम करने के उतने विरोधी नहीं थे। अब तो हाथ से काम करना गौरव की बात समझी जाती है। छाङ्-छुन् में हमें तीन दिन रहना था जिसे अधिक से अधिक स्थानों को देखने में लगाया।

८ जुलाई को हम मोटर-नगर देखने गये। चीन का यह सर्वप्रथम और विशाल मोटर कारखाना शहर से कई किलोमीतर दूर है। इस भूमि को पहाड़ी नहीं कहना चाहिए, पर वह नीची-ऊंची है। कार्यालय के संचालक ने कारखाने से परिचय कराया। १५ जून १९५३ में इसकी नींव डाली गयी, सितम्बर १९५६ में मोटरें बन कर निकलने लगीं। इसे कहने की आवश्यकता नहीं कि रूसी विशेषज्ञों ने कारखाने के निर्माण में बड़ी सहायता की। १९५७ में यहां १६ हजार कमकर थे जिनमें २० सैकड़ा स्त्रियां थीं। दूसरे कर्मी दो हजार थे जिनमें स्त्रियां १३ प्रतिशत हैं। १० इंजीनियर कारखाने की देखभाल करते हैं। १९५७ में ७ हजार ट्रकें बनकर निकलीं जिनका नाम मुक्ति-ट्रक रखा गया। पहले ट्रकों पर ही ध्यान दिया गया था। १९५८ में कई प्रकार की ट्रकें, बसें एवं कारें भी बनने लगीं। इस साल चार से पांच टन वाली २५ हजार ट्रकें, साढ़े चार टन वाली ३ हजार, साढ़े तीन टन वाली १ हजार, एवं ३०० कारें बनायी गयीं। शीशा, चक्का और बिजली के तार को छोड़कर मोटरों की सारी चीजें इसी कारखाने में बनती हैं। ये तीन चीजें भी स्वदेशी ही होती हैं। सभी कार्य स्वयंचालित यंत्र व्यवस्था से होते हैं। तारों पर लटकते एक-एक पूर्जे अपने गन्तव्य स्थान पर पहुंचकर कारीगर के हाथों क्रमशः जुड़ते हुए अन्त में पूरी कार बनकर बाहर निकलती है। एक जगह बड़े कड़े किस्म

का फौलाद पानी की तरह बह रहा था, जिसके छः हाथ नजदीक आदमी जा नहीं सकता था। सारा वायु-मंडल अत्यन्त उत्तप्त था। इंजन का मोटा भाग एक जगह ढालकर निकाला जा रहा था। वह कछुए जैसा मालूम होता था। खराद-पालिश कर उसमें दूसरे पुर्जे रास्ते में जुड़ते जा रहे थे। सारा इंजन तैयार होकर दूसरी वर्कशाप से बनकर आये ट्रक के ढांचे में जोड़ दिये जाते हैं। ड्राइवर की सीटें, रंग आदि से सज्जित ट्रक कारखाने के छोर पर थी। ड्राइवर आकर उसपर बैठा और उसे बाहर निकाल ले गया। हमारे यहां भी मोटर के कारखाने हैं। लेकिन उनके ७५ और ८० प्रतिशत पुर्जे इंगलैंड या अमरीका से आते हैं। उनको यहां जोड़ भर दिया जाता है। चीन में इतनी जल्दी हर तरह की मोटरें ही नहीं, बल्कि जेट विमान तक बनने लगे हैं, यह देखकर ईर्ष्या होती है।

मजदूरों के चार हजार परिवार मोटर-नगर में बने नये मकानों में रहते हैं। कुछ शहर में भी चले जाते हैं। तीन पालियां काम करने की हैं। वेतन शागिर्दों के साढ़े २५ युवान, कमकरों के १०५ युवान, इंजीनियरों के १२०-१९० युवान और संचालक का २६४ युवान है।

शिक्षा की ओर भी कारखाने का ध्यान है। सात शिशुशालाएं, एक बालोद्यान और नवीं श्रेणी का एक हाई स्कूल यहां चलते हैं। कमकरों को शिक्षित करने के लिए रात्रि स्कूल भी हैं। कारखाने में कुल १२ रेस्तरां हैं। बीच में पड़ी हुई जमीन में खेती होती है। ४०० छात्र बाहर के उच्च शिक्षणालयों से आकर यहां काम सीखते हैं। हम एक कर्मशाला के भोजनालय में गये। वहां १० प्रकार के भोजन तैयार थे—चावल, मांस का सूप, सब्जी, मुर्गी का मांस तथा चीनी रोटियां (मोमो)। भोजन का समय दोपहर में साढ़े ११ से १ बजे तक का था। इस भोजनालय में ११०० आदमी जलपान या नाश्ता के लिए और १२०० भोजन के लिए आते थे। एक बार के भोजन के लिए सवा ३ सेन्ट (साढ़े ६ नया पैसा) देना पड़ता था। ३ सेन्ट वाला भोजन भी बुरा नहीं था। उसमें चावल, सब्जी और निरामिष सूप होता था।

लौटते समय हमने एक बालोद्यान देखा, जिसमें ३ से ६ बरस के २०० बच्चे थे। भोजन का समय था। वे चावल, मांस मिला आलू और सब्जी

का सूप खा रहे थे। माता-पिता को बच्चों के लिए कुल मिलाकर आठ युवान मासिक देने पड़ते हैं। इसी में तीन बार का खाना भी शामिल है। हमारे पहुंचते ही बच्चों ने लकड़ियों को हाथ में रखे—"चचा कैसे हैं?" कहकर स्वागत किया। एक कमकर परिवार को भी हमने देखा। इसमें पांच व्यक्ति हैं, पति-पत्नी के अतिरिक्त तीन बच्चे। चीन में बच्चों की वृद्धि हमारे यहां से ढाई-गुने से भी अधिक है, इसलिए वे हर जगह बड़ी संख्या में देखे जाते हैं। इस परिवार को अपने घर के लिए बिजली-पानी आदि लेकर पौने तीन युवान मासिक देना पड़ता है। दो परिवारों की एक ही रसोई है। पति का वेतन ६५ युवान मासिक है। पत्नी छठी कक्षा तक पढ़ी हुई है, पर वह घर का ही काम करती है। माता-पिता इसी प्रदेश के चिलिन नगर में रहते हैं। उन्हें वहीं रहना पसन्द है। पुत्र उनके पास पैसा भेजता रहता है।

छाङ्-छुन् में छः विश्वविद्यालय या तत्समान संस्थाएं हैं। तीन बजे हम विज्ञान अकादमी से सम्बद्ध स्फटिक अनुसन्धान संस्थान को देखने गये। यह भी नगर से दूर था। यहां आठ संचालक और एक सौ गवेषणा करने वाले तरुण काम करते थे। स्त्रियों की संख्या २० प्रतिशत थी। लेंस और स्फटिक के सम्बन्ध में अनुसन्धान करना इसका काम था, अर्थात परिधि बहुत बड़ी नहीं थी। पर यहां के पुस्तकालय में ४० हजार पुस्तकें थीं। दुनिया के भिन्न-भिन्न देशों से १७० शोध पत्रिकाएं यहां आती थीं। यहां के अध्यापकों में कितने ही रूस से शिक्षा प्राप्त करके आये थे। इस विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली शायद ही कोई महत्वपूर्ण रूसी पुस्तक ऐसी हो, जो यहां न हो। चेङ् महाशय ने परिभाषाओं के कारण अनुवाद करने में दिक्कत देख एक रूसी जानने वाले तरुण को बुला लिया। लेकिन रूसी वैज्ञानिक परिभाषाओं का समझना मेरे लिए मुश्किल था। फिर भी वहां के काम को दिखलाने में संचालक ने कोई कसर नहीं रखी।

भूगर्भीय संस्थान इस नगर का दूसरा विज्ञान शिक्षणालय है। अन्तिम मंचू सम्राट तथा जापानियों की तरफ से बनाये गये कठपुतली राजा फुई के लिए यहां एक बहुत विशाल महल बनाया गया था। अभी वह पूरी तरह सम्पन्न नहीं हुआ था कि जापानियों को भागना पड़ा। फुई इसके सुख-

वैभव को नहीं देख सके। कम्युनिस्ट सरकार ने इसका सदुपयोग यहां भूगर्भीय संस्थान स्थापित करके किया। यह आधुनिक इमारत है, पर इसमें चीनी कला का सम्मिश्रण है। इस विश्वविद्यालय में ४ हजार अध्यापक और छात्र हैं। इसके संग्रहालय में चीन में पाये जाने वाले हरेक पत्थर और खनिज को जमा किया गया है। समझने के लिए चार्ट और नक्शे दीवार से टंगे हैं। यहां के विद्यार्थी और अध्यापक भूगर्भीय अनुसन्धान और परिमाप के लिए चीन के भिन्न-भिन्न स्थानों में जाते हैं। एक साल में ६००-८०० मंडलियां अनुसन्धान के काम के लिए बाहर जाया करती हैं। तिब्बत की खनिज सम्पत्ति के लिए भी अनेक अभियान यहां से किये गये हैं। संस्थान के बहुत से विभाग हैं, जिनमें दुर्लभ खनिजों का अनुसन्धान भी एक है। धातुओं का पता लगाने के लिए विमानों तक का प्रयोग होता है। १९५७ में हजार बार विमान इसके लिए उड़े थे। आय का स्रोत सरकारी अनुदान के अतिरिक्त स्वयं अर्जित चीजें और काम भी हैं। १९५८ में २० लाख युवान (४० लाख रुपया) अनुदान में मिला था और संस्थान ने स्वयं ३० लाख युवान अर्जित किया। १ करोड़ रुपया वार्षिक जिस संस्था का आय-व्यय हो, उसकी विशालता को आसानी से समझा जा सकता है। इसके विशाल संग्रहालय में २० हजार चीजें हैं।

मंचूरिया अपने बाघों के लिए दुनिया में मशहूर है। बंगाल का बाघ भी विश्व में ख्याति रखता है, पर यह मंचूरिया के बाघों के सामने बच्चा मालूम होगा। हमने पेकिङ् के चिड़ियाखाने में अफ्रीका के सिंह को मंचूरिया के बाघ के सामने बच्चा सा देखा। छाङ्-छुन् में विजय उद्यान एक विशाल उद्यान है, जिसमें चिड़ियाखाना भी है। वहां हमने मंचूरी बाघ भी देखा। रात को दक्षिणी सुङ्कालीन (१२वीं-१३वीं सदी) घटना पर फिल्म देखा। मंचू काल में उस घटना पर किसी ने उपन्यास लिखा था। अभिनय और दृश्य ही सुन्दर नहीं थे, बल्कि उसकी हरेक बात में ऐतिहासिक यथार्थवाद की झलक थी।

६ जुलाई को नगर की कितनी ही चीजें देखी, जिनमें रबर के जूते का एक कारखाना भी था। चीन के शत-प्रतिशत लोग जूते बिना नहीं रहते। गांव या शहर सभी जगह यह बात देखी जाती है। लेकिन चमड़े

के जूते बहुत थोड़े लोगों के पैरों में होते हैं। सभी ऊपर कानवेस और नीचे रबर के तल्ले वाले जूते पहनते हैं। ६५ करोड़ आदमियों के लिए जहां जूता बनाने का सवाल हो, वहां कितने बड़े पैमाने पर उसे तैयार किया जाता होगा इसे आसानी से समझा जा सकता है। सन १९३० में जापानियों ने अनतुङ् में छोटे रूप में यह कारखाना स्थापित किया था। कम्युनिस्ट सरकार ने नवम्बर १९५० में उसे यहां स्थानान्तरित कर दिया। जिस मकान में यह स्थापित है, उसमें पहले जापानी बैंक था। फरवरी १९५१ से यहां उत्पादन आरंभ हुआ। १९५७ में तल्ले के लिए एक हजार टन रबर खर्च हुआ। चीन में हाइनान टापू ही एक जगह है जहां रबर के बगीचे हैं। इसलिए बहुत सा रबर कृत्रिम रूप से बनाना पड़ता है या बाहर से मंगाना पड़ता है। लंका वालों की तब तक बुरी हालत रही जब तक कि चीन ने अपने चावल के बदले उसके रबर को लेना स्वीकार नहीं कर लिया। मलाया की सरकार चीन और कम्युनिज्म की विरोधी है, पर यदि चीन उसे न खरीदे तो उसका रबर भी मिट्टी के मोल बिकने लगे। इन्डोनेशिया के रबर का सबसे बड़ा ग्राहक भी चीन ही है।

कारखाने में १५०० कमकर हैं जिनमें ६०० स्त्रियां हैं। उनके ६०० परिवार कारखाने के बनाये मकानों में रहते हैं। १९५७ में ५२ लाख २० हजार जोड़े जूते तैयार हुए थे। १९५८ में ६१ लाख जोड़े तैयार हुए। वेतन का हिसाब निम्न प्रकार है: कमकर ३६-८१ युवान, इंजीनियर ६१-१२० युवान और संचालक (डायरेक्टर) १३० युवान। निर्माण की आरंभ से अन्त तक की प्रक्रिया हमें दिखायी गयी। सफेद पाउडर मिले रबर के तल्ले को मशीनें एक कमरे में काट रही थीं। फिर तल्ले को दाबकर उस पर अंक आदि डाल दिये जाते हैं। मजबूत जीन या कानवेस को मशीनों से सीकर जूते का ऊपरी ढांचा अन्य कमरों में तैयार हो रहा था। फिर तल्ले को उसमें जोड़कर ५६ मिनट दबाये रखते। जूता फिर अन्तिम परीक्षा के लिए एक कमरे में जाता और फिर बाहर भेजने के लिए पेटियों में बन्द कर दिया जाता। शू का दाम २ युवान (४ रुपया) और बूट का ५ युवान (१० रुपये) था। जूते बहुत मजबूत होने ही चाहिएं, क्योंकि यहां यह खयाल रहता है कि जूतों की चिरायुता से उनकी मांग

कम होगी। एक बक्स में तीस जोड़े बन्द किये जाते हैं। कमकर दो से तीन पाली में काम करते हैं। क्लर्क एक ही बार आफिस में आते हैं। मंचूरिया में तीन ऐसे बड़े-बड़े कारखाने हैं। छाङ्-छुन के अतिरिक्त हारबिन और हेनिङ् भी जूता बनाते हैं। वैसे इससे छोटे कारखाने सैंया आदि शहरों में भी हैं। सनातन काल से नंगे रहनेवाले किसान अब सदा जूता ही नहीं पहनते, बल्कि धान के खेतों में काम करने के लिए वह रबर के घुटने तक के गम बूट की मांग कर रहे हैं। कारखाना पूरी तौर पर स्वयंचालित हो जाय, तो जूतों का बनाना दूना हो जायगा।

जन-विश्वविद्यालय

यह चीन के बड़े विश्वविद्यालयों में है। वहां जाने पर कुलपति फिङ्-उ-मिङ् अपनी जरूरी बैठक छोड़कर भारतीय अतिथि से मिलने आये। उनका विषय दर्शन है। दर्शन पर उन्होंने काफी लिखा है। च्यांग काई-शेक के काल में चार बार जेल में बन्द रहे। उस समय का जेल अंग्रेजों जैसा जेल नहीं था। यदि उसकी कुछ समानता हो सकती थी, तो पंजाब के जेलों से ही। उसकी जेलों में न जाने कितने विचारक, साहित्यकार और कलाकार मर गये। फिङ् महाशय भाग्यवान थे जो जीवित बचे। पर वह इसके कारण नहीं बल्कि अपनी योग्यता के कारण इस बड़े विश्वविद्यालय के चांसलर (कुलपति) हैं। उपकुलपति थिङ्-तुंङ् इतिहास के माने हुए विद्वान हैं। उन्होंने विश्वविद्यालय की बहुत सी चीजें दिखलायीं। उनके चीन के इतिहास के दो खंड प्रकाशित हो चुके हैं। एक प्राग-ऐतिहासिक काल से ६१८ ई. तक और दूसरा तब से १८४० तक। तीसरा १८४० से ४ मई १६१६ तक का प्रेस में था।

चीनी भाषा में लिखे रहने से मेरे लिए उसका कोई उपयोग नहीं था। वैसे विश्वविद्यालय के आधे मन के करीब प्रकाशन मुझे भेंट किये गये थे। उन्हें मैंने उपयोगिता के खयाल से पेकिङ् में ही अपने मित्रों को दे दिया। मेरे मध्य एशिया के इतिहास में प्राग-ऐतिहासिक काल भी सम्मिलित है, अतः इस विषय में मेरी दिलचस्पी थी।

विश्वविद्यालय में सात विभाग हैं: गणित; रसायन; भौतिकी; साहित्य; इतिहास; अर्थशास्त्र; विधि (कानून)। फिङ् महाशय ने बतलाया कि जल्दी ही दर्शन और जीवविज्ञान के विभाग भी खुलने वाले हैं। विश्वविद्यालय के ३१०० छात्रों में ५९० छात्राएं हैं। अध्यापकों की संख्या ४०० है जिनमें २० प्रतिशत महिलाएं हैं। ४४ प्रोफेसरों में २ महिलाएं हैं। १ अध्यापक पर ९ से अधिक छात्र नहीं हैं। ९० प्रतिशत छात्र सरकारी छात्रवृत्ति से पढ़ते हैं। मैंने यह जानना चाहा कि सामान्य छात्रवृत्ति के अतिरिक्त प्रतिभावान छात्रों को कोई विशेष छात्रवृत्ति मिलती है या नहीं। 'नहीं मिलती है' कहने पर मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। पर डाक्टर फिङ् समझते थे कि उसकी कोई आवश्यकता नहीं। छात्रवृत्ति या पारितोषिक किसी रूप में भी प्रतिभावान छात्रों को विशेष कोटि में न रखना मुझे बहुत अच्छा नहीं लगा। रूस में भी इसका खयाल रखा जाता है। अपने २२ करोड़ लोगों की दुनिया में किसी विषय की कोई भी प्रतिभा बेकार न होने पाये, इसका रूस ने दृढ़ संकल्प कर लिया है। वहां साइंस में जो इतनी अभूतपूर्व उन्नति हुई है, उसमें एक कारण यही प्रतिभाएं हैं। यद्यपि इसको हर जगह इनकार किया गया, पर शिक्षा मन्त्रालय के प्रतिनिधि ने स्वीकार किया कि पेकिङ् विश्वविद्यालय के प्रोफेसर तथा चीन के सबसे बड़े गणितज्ञ हवा लो-केङ् को १२०० युवान मासिक दिया जाता है।

विश्वविद्यालय के ९०० छात्र छात्रावासों में रहते हैं। वे छात्रावास में रहें या अपने घर में, उन्हें साढ़े तेरह युवान छात्रवृत्ति मिलती है। अध्यापकों का वेतन ४१ युवान से शुरू होता है। प्रोफेसर ३५४ तक पाते हैं। ५० वर्ष की आयु में पेंशन लेने का उनको अधिकार है। पेंशन की रकम वेतन का ४० से ७० सैकड़े तक है। जो आगे भी काम करना चाहते हैं, उनकी सेवाएं सवेतन प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर ली जाती हैं। विश्वविद्यालय का हाल विशाल है। विश्वविद्यालय १९५० ईसवी में सैंया (मुकदन) से यहां लाया गया। सिद्धान्त और प्रयोग दोनों का समन्वय शिक्षा का सिद्धान्त माना जाता है। आयु या स्वास्थ्य के कारण मजबूर न हो, तो अध्यापक भी अपने विद्यार्थियों के साथ मिट्टी खोदने, बोझा ढोने जैसे कामों में

सहयोग देते हैं। हरेक विभाग और उपविभाग के साथ फैक्टरियों का होना आवश्यक है। ये दिखावे की फैक्टरियां नहीं हैं और न छोटी हैं। वे प्रायः ४ हजार व्यक्तियों को काम सिखलाती हैं।

फिल्म स्टुडियो। छाङ्-छुन् का फिल्म स्टुडियो चीन भर में मशहूर है। १९३९ में जापानियों ने मंचूरिया फिल्म स्टुडियो नाम से इसकी स्थापना की थी। १९४५ में स्टुडियो के कर्मियों ने इसे अपने हाथ में कर लिया। १९४६ से १९४८ तक च्यांग काई-शेक का शासन रहा। उस समय स्टुडियो के कर्मी इसे उत्तर के हेलुङ्-क्यांङ् में ले गये। वहां कम्युनिस्टों का शासन था। १९४८ में स्टुडियो फिर अपनी जगह पर आ गया। यहां दो प्रकार के फिल्म बनते हैं—एक मौलिक और दूसरे अनुवाद। अनुवाद का मतलब किसी विदेशी भाषा के फिल्म की तसवीरें रखकर भाषा में परिवर्तन करना होता है। पिछले १० सालों में ७० मौलिक और ४०० अनुवादित फिल्म यहां तैयार हुए, जिनमें २ भारतीय भी हैं। मौलिक फिल्मों में १२ प्रतिशत ऐतिहासिक हैं। चीन में छाङ्-छुन्, शाङ्है और पेकिङ् में फिल्म स्टुडियो हैं। पेकिङ् में उनकी संख्या २ है। जल्दी ही हरेक प्रदेश में एक फिल्म स्टुडियो स्थापित होनेवाला था। चीन में फिल्म आदि की साधन-सामग्री भी स्वदेशी होती है, इसलिए उनको विदेशी विनिमय की चिन्ता नहीं होती। छाङ्-छुन् स्टुडियो ने चीन की अल्पमत जातियों की भाषाओं में १३ फिल्म तैयार किये हैं। इस स्टुडियो का महत्व इससे मालूम हो सकता है कि विश्व प्रसिद्ध चीनी फिल्म "श्वेतकेशी बालिका" की हीरोइन बनने वाली फिल्म-तारिका ध्येन-वा इसी स्टुडियो में काम करती है। प्रसाधन प्रकोष्ठ को देखने गया तो वहां एक तीस वर्षीय तरुणी शीशे के सामने मेकअप करने में लगी हुई थी। भारत की तरह यहां के फिल्म कलाकार दूसरी दुनिया के लोग नहीं होते। वह सड़कों पर घूमनेवाले लोगों में से ही एक मालूम होते हैं। ध्येन पूंजीवादी देशों में होने पर लाखों-लाख कमातीं, पर यहां वह ढाई या तीन सौ युवान पाती हैं। उनकी अपनी कार नहीं है। चीन में किसी की निजी कार नहीं होती। हां, आवश्यकता पड़ने पर टेलीफोन करते ही कार आकर दरवाजे पर उपस्थित हो जाती है।

स्टुडियो में ११०० काम करनेवाले हैं जिनका वेतन ५० से २८० युवान तक है। संचालक २२० युवान तक पाता है। १९५७ में फिल्मों के बनाने में ३० लाख युवान (६० लाख रुपया) खर्च हुआ था और आमदनी दूनी हुई थी। प्रति फिल्म पर लगभग १ लाख ९० हजार युवान (२ लाख ८० हजार रुपया) खर्च होता है। आगे यह खर्च १ लाख १० हजार होने वाला था। संचालक यामा ४४ वर्ष के हैं। चार साल से वह अपने इस पद पर हैं। फूखा ३८ वर्ष के हैं। वह चीन के प्रसिद्ध अभिनेताओं में हैं। जब बीस वर्ष के थे, तभी से इसी स्टुडियो में काम करते हैं। आजकल "नदी पर उषा" फिल्म बन रहा था। एक बड़े हाल में नगर, पहाड़, गांव, बाग-बगीचे सबके दृश्य तैयार किये गये थे। वहीं फोटो लिया जानेवाला था। स्टुडियो के बाहर के मैदान में भी दृश्य तैयार किये जा रहे थे। कितनी ही बार स्वाभाविक स्थानों में फिल्म लिये जाते थे। फिल्म ज्ञान और शिक्षा के जबर्दस्त साधन हैं। पर उसमें मनोरंजन का तत्व भी होना चाहिए, इस बात को यहां वाले अच्छी तरह जानते हैं। स्टुडियो शहर के बाहर एक बड़े सुन्दर स्थान पर स्थित है।

न्यायालय। चेङ् महाशय से मैंने यहां की अदालत दिखाने के लिए कहा। टेलीफोन पर बात करके समय निश्चित हो गया और तीन या चार बजे शाम को हम वहां पहुंचे। चीन में न्यायालय चार श्रेणियों के होते हैं—निम्न, मध्यम, उच्च और उच्चतम। उच्चतम न्यायालय को अपने यहां का सुप्रीम कोर्ट समझिए। यह मध्यम न्यायालय, यानी जिले की जजी थी। मकान दो-मंजिला सड़क के किनारे था। मकान में तीन हाल थे। जजी में कुल मिलाकर १५ न्यायाधीश थे। उच्चतम न्यायालय में सभी न्यायाधीश होते हैं। बाकी में एक कानून जानने वाला न्यायाधीश और दो सहायक (असेसर) होते हैं। छाङ्छुन् में सात एडवोकेट हैं। १० लाख की नगरी के लिए सिर्फ सात एडवोकेट, हिन्दी पाठक आश्चर्य करेंगे पर मुकदमे भी तो यहां नाम मात्र के ही होते हैं। दीवानी मुकदमे एक तरह से शून्य हैं, क्योंकि निजी सम्पत्ति बहुत कम रह गयी है। निजी घर जो किराये पर चढ़ते हैं, सिर्फ उनके मुकदमे यहां आते हैं। भारत में यदि किसी अदालत या अफसर के पास दरख्वास्त देनी हो, तो

उसे खास प्रकार के फूलस्केप कागज पर रुपये के स्टाम्प के साथ देना पड़ेगा, नहीं तो दरख्वास्त रद्दी की टोकरी में फेंक दी जायगी। अंग्रेजों ने वह लक्ष्मण-रेखा खींची है, जिसे तोड़ने की शक्ति स्वतंत्र भारत में नहीं है। जो सैकड़ों टैक्स वसूल हो रहे हैं, उन्हीं में इस खर्च को भी शामिल कर दिया जाता है। पैसे-पैसे के लिए मोहताज गरीब बेचारा खर्च के साथ दरखास्त देने के लिए मजबूर है। तिब्बत में अफसर के पास कुछ रुपये और रेशमी साफा (कपड़े का टुकड़ा) जमा करना आवश्यक था। हां, वह अफसर की जेब में जाता था और हमारे यहां स्टाम्प सरकार के पेट में। माध्यमिक न्यायालय होने के कारण यहां सीधे मुकद्दमे बहुत कम आते हैं। अधिकतर अपीलों की सुनवाई होती है। मुकद्दमे की पैरवी के लिए एडवोकेट रखा जा सकता है, नहीं तो वादी स्वयं या उसके मित्र बहस कर सकते हैं। मुकद्दमें तलाक, सन्तानों की रक्षा का अधिकार और मकानों के किराये के सम्बन्ध के होते हैं। फौजदारी के मुकद्दमों में राजद्रोह, चोरी, रिश्वत, नारी का अपमान, मारपीट आदि शामिल हैं।

पिछले पांच सालों में कोई हत्या का मुकद्दमा नहीं आया। अपराध विभाग के संचालक फान चे-जिन, नागरिक विभाग की संचालिका श्रीमती ली, न्यायाधीश चाङ् चिसुन, दूसरे न्यायाधीश फूच-श्यान् वहां मुझे सारी सूचनाएं देने के लिए तैयार मिले। अदालत वाले कमरे में प्रमुख स्थान पर लाल कपड़े वाले मेज के पीछे तीन कुर्सियां न्यायाधीशों के लिए रखी हुई थीं। क्लर्क और पुलिस कर्मचारी के लिए दो कुर्सियां थीं। अभियुक्त और एडवोकेट के लिए भी दो कुर्सियां थीं। दर्शकों के लिए चार पांत में १५ बेंचें लगी हुई थीं जिनपर ६० आदमी बैठ सकते थे। यहां पर चेङ् महाशय कुछ नाराज हो गये, जब मैंने यह कहा कि आगे चलकर दीवानी मुकद्दमों से अपराध के मुकद्दमे ज्यादा हो जायेंगे। उन्होंने समझा कि तब लोग अधिक अपराध की मनोवृत्ति वाले होंगे। पीछे इसकी चर्चा पेकिङ् में श्री चाउ फू-छू और दूसरों के सामने हुई, तो बहुत मजाक हुआ। उन्होंने कुछ संशोधन किया। मैं दीवानी मुकद्दमों को शून्य बतला रहा था, लेकिन उन्होंने कहा कि ५०-७५ साल बाद भी देश में कभी-कभी विवाह-विच्छेद (तलाक) जैसा कोई मुकद्दमा हो ही जायगा, इसलिए सम्पत्ति

के वैयक्तिक न होने से दीवानी मुकदमे बिल्कुल शून्य नहीं हो जायेंगे। पर ऐसी अवस्था में यदि मार-पीट या और किसी तरह की फौजदारी मुकदमे दस-पांच भी होंगे, तो वह दीवानी मुकदमों से दस-बीस गुना हो सकते हैं। इसका अर्थ यह नहीं निकाला जा सकता है कि लोगों में अपराध की मनोवृत्ति बढ़ जायगी।

रात को "वह मारी गयी" ऑपेरा देखने गया। ऑपेरा चीन की बहुत पुरानी नाट्य प्रणाली है। योरप में भी यह मूर्धन्य नाटक प्रकार समझा जाता है। हमारे यहां उसका रिवाज नहीं है। मुझे स्वभावतः ही ऑपेरा बिल्कुल पसन्द नहीं। इसमें सभी संवाद कृत्रिम स्वर में गाये जाने वाले पद्यों में होते हैं। एक तो पद्य में स्वाभाविक जीवन को अभिनीत नहीं किया जा सकता, दूसरे ऑपेरा का स्वर मुझे अपने यहां के उस्तादों के गानों जैसा ही नीरस मालूम होता है। मुझे पीछे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि मेरी पत्नी कुछ दिनों बाद जब चीन पहुंचीं और वहां के आपैरा को देखा, तो कला और श्रम की बातें कहकर उसकी तारीफ करते नहीं अघाती थीं। ऐसी अवस्था में मुझे अपनी ही कमजोरी माननी पड़ेगी। पर अभिनय और साज-सज्जा अद्वितीय थी। मूक अभिनय मानकर मैं उसे बड़े चाव से देखता था। यह आधुनिक ऑपेरा था। इसमें एक प्रवासी चीनी तरुणी गुप्तचर बनकर मंचूरिया पहुंच कइयों से मित्रता स्थापित करती है, जिनमें एक देशभक्त सुन्दरी भी है। जब उसको पता लग जाता है, तो गुप्तचरों को भय लगने लगता है। एक देशभक्त तरुण पर उनकी सबसे कड़ी आंख है। वह निरपराध होने पर भी फंसाया जाता है। सुन्दरी उसको बचाने का प्रयत्न करती है, जिसमें गुप्तचर उसे मार डालते हैं, पर अन्त में अपराधी दण्ड पाये बिना नहीं बचते।

भिक्षुणी विहार। १० जुलाई के सबेरे हम ची चाङ्-स्स विहार देखने गये जिसकी स्थापना १९२६ में हुई थी। यह शहर के उस स्थान में है जहां पुराने ढंग के एक-मंजिले घर अधिक देखे जाते हैं। बाहर से देखने से उसकी कोई विशेषता नहीं मालूम होती, लेकिन भीतर बहुत बड़ा प्रांगण, अनेक मन्दिर और फुलवारी हैं। उस समय हवा चल रही थी। आधी मंचूरिया में हम घुस आये थे, इसलिए यदि वहां जाड़े की सर्दी मालूम

होती थी, तो आश्चर्य क्या? मुख्य मन्दिर में बुद्ध की सुन्दर प्रतिमा थी, जिनके दाहिने और बायें काश्यप और आनन्द की मूर्तियां थीं। एक पांत में क्षितिगर्भ, अवलोकितेश्वर की सुन्दर मूर्तियां स्थापित थीं। सभी जगह स्वच्छता और सुव्यवस्था देखने में आती थी। विहार में नौ भिक्षुणियां रहती हैं जिनकी आयु २२ से ८४ वर्ष की थी। मेरे लिए यह नया आविष्कार था, जब यह सुना कि चीन में भिक्षुणी संघ अविच्छिन्न रूप से आज भी चल रहा है। भारत में बौद्ध धर्म के विच्छिन्न होने के समय तेरहवीं सदी में भिक्षुणी संघ का अस्तित्व था, यह कहना मुश्किल है। शताब्दियां हो गयीं, दुनिया के सभी बौद्ध देशों से भिक्षुणी संघ लुप्त हो गये। लंका, बर्मा आदि में कई बार यह प्रश्न उठा कि भिक्षुणी संघ को फिर से जीवित किया जाय। लेकिन, करना संभव नहीं। बुद्ध निर्मित संविधान (विनय नियम) इसमें बाधक हैं। बुद्ध ने अपनी मौसी महा प्रजापति गौतमी को भिक्षुणी बना कुछ औरों के साथ भिक्षुणी संघ स्थापित किया था। वह प्रथम भिक्षुणी थीं। आगे के लिए यह नियम बना कि भिक्षुणी संघ आगे नयी भिक्षुणियों को बनायेगा। दूसरे संप्रदायों की तरह बौद्ध संघ में एक भिक्षु दूसरे भिक्षु को नहीं बना सकता। यह अधिकार संघ को ही है। मध्यमंडल (उत्तरप्रदेश-बिहार) में कोरम दस भिक्षुओं का माना जाता और इसके बाहर पांच का। मध्यमंडल में अगर दस से कम भिक्षु किसी को भिक्षु बनाते हैं, तो यह अवैध है। भिक्षुणी संघ जब किसी स्त्री को भिक्षुणी बनाये, तब भी वह बौद्ध भिक्षुणी तब तक नहीं मानी जाती जब तक कि भिक्षु संघ भी उसे स्वीकृत न कर ले। इस प्रकार भिक्षुणियों की उपसंपदा (दीक्षा) दोनों संघों में होना आवश्यक है। आज जब भिक्षुणी संघ ही नहीं है, तो भिक्षुणी दीक्षा कौन करेगा? एक बार मेरे लंका के मित्रों ने कहा था कि महायान देशों में भी पता लगाइये कि भिक्षुणी संघ अब भी कहीं मौजूद है या नहीं। तिब्बत में पूछने पर मालूम हुआ कि वह नहीं है। जापान में भी वही बात पायी गयी। वहां जो साधुनियां देखी जाती हैं, वे वस्तुतः उपसम्पन्न भिक्षुणियां नहीं हैं, बल्कि परिव्राजिकाएं हैं।

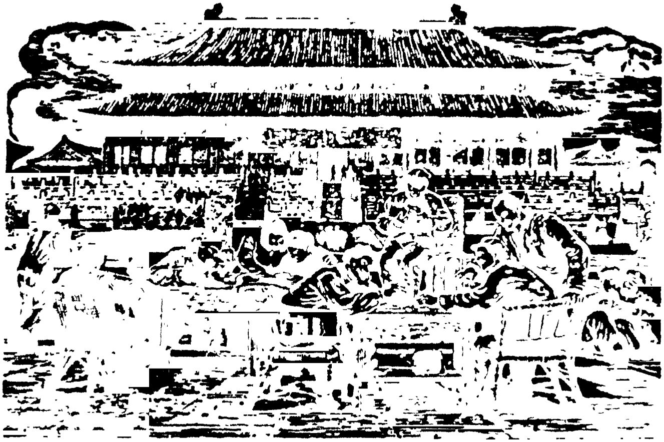
यहां की भिक्षुणियों की प्रधान ने मुझे सारी बातें बतायीं, और कहा कि पांचवीं या छठी सदी में सिंहल (लंका) से भिक्षुणी देवसारा यहां आयीं थीं।

उनके साथ दो बार में १९ भिक्षुणियां चीन आयीं। देवसारा धर्मगुप्तिक सम्प्रदाय की थीं। उन्हीं के प्रयत्न से चीन में भिक्षुणी संघ स्थापित हुआ। अध्यक्षा भिक्षुणी बहुत सुसंस्कृत और शिक्षित थीं। उन्होंने कहा कि कोई स्त्री जब यहां भिक्षुणी दीक्षा के लिए आती है, तो उसे कुछ महीने का परिवास (प्रतीक्षा समय) दिया जाता है। फिर संघ उसे उपसंपदा प्रदान करता है। उन्होंने अपने संप्रदाय के "प्रातिमोक्षसूत्र" को लाकर दिखाया और यह भी बतलाया कि भिक्षुओं के शिक्षा पद (विनय नियम) २५० होते हैं और भिक्षुणियों के ३४०। अध्यक्षा का नाम भिक्षुणी सीपाउ बई था।

धर्मविभाग ने बतलाया कि किरिन (चिलिन) प्रदेश में (जिसकी राजधानी छाङ्-छुन् है) बौद्धों के १० विहार, ३०० भिक्षु और ४०० भिक्षुणियां हैं। छाङ्-छुन् नगर में ही १६ विहार हैं। लामा-विहार सीमान्त स्थानों में हैं। ताऊ मत के ३० मठ हैं, किन्तु छाङ्-छुन् में एक भी नहीं है। मस्जिदें १००, कैथलिकों के गिरजे ३ और प्रोटेस्टन्ट के ५० हैं।

१ बजे दोपहर को हमने पेकिङ् जानेवाली ट्रेन पकड़ी। यहां से पेकिङ् ११४८ किलोमीतर है, जिसका प्रथम श्रेणी का किराया ६४.१७ युवान और द्वितीय श्रेणी का ३१.१८ युवान है।

रेल हमें दक्षिणाभिमुख ले चली। सड़क के पास कुछ दूर पर सीमेन्ट के मजबूत ब्लाक हाउस बने हुए थे। च्यांग काई-शेक की प्रभुता रेल की सड़कों तक ही थी, बाकी जगहों में कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में गोरिल्ले संगठित थे। च्यांग काई-शेक के सैनिक इन्हीं ब्लाक हाउसों में बैठे लाइनों की रक्षा करते थे। ब्लाक हाउस एक तरह से कंकरीट के मजबूत चौकोर खोखले चबूतरे से हैं, जिनमें बन्दूक या मशीनगन बनाने के लिए छेद हैं। अब यह किसी काम में नहीं आते। मैंने तो इन्हें च्यांग काई-शेक की कब्रें कहना शुरू किया, जो सारे देश में पचासों हजार होंगी। रेल का कम्पार्टमेन्ट बहुत सुखद और सुन्दर था, लेकिन गर्मी के निवारण के लिए पंखा नहीं था। खिड़कियां खोलने पर राख या कोयला भीतर आता। रात भर हमारी ट्रेन चलती रही और उसी में सोये-सोये हम मंचूरिया की सीमा पार हो गये।



पुनः पेकिंग में

११ जुलाई को साढ़े सात बजे जब पेकिङ् स्टेशन पहुंचे तो वर्षा हो रही थी। शिन्-चाउ होटल में २७० नम्बर के कमरे में जगह मिली। अब वर्षा पूरे रूप में आ गयी थी। यहां की गर्मी का खयाल नहीं किया था, इसलिए हमारे सभी कपड़े गरम थे। चेङ् महाशय उसी दिन डिपार्ट-मेन्ट स्टोर में ले गये, जिसमें पचीसों हजार तरह की चीजें थी। पंचमंजिला, छैमंजिला मकान स्वयं एक बाजार है। पर कौन चीज कहां मिलती है, इसे पता लगाने में कोई दिक्कत नहीं होती। हमने तसर की एक बुशशर्ट और एक पैंट खरीदा। दोनों का दाम २१ युवान (४२ रुपया) सिलाई सहित ज्यादा नहीं था। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह तसर रेशम चीन

का था। हमारे यहां की तरह यहां के जंगलों में भी तसर के कीड़े कोए पैदा करते हैं। एक फिल्म की धुलाई ६ पण (१८ नया पैसा) अधिक नहीं थी।

इस्लामिक संस्थान। १२ जुलाई को पूर्वाह्न में नगर के भीतर इस संस्था को देखने गये। संचालक ल्यू खफान हुई जाति के हैं। हुई लोग सिर्फ धर्म में ही हान (चीनियों) से भेद रखते हैं, नहीं तो उनका चेहरा-मोहरा और पोशाक साधारण चीनियों जैसी होती है। नमाज नंगे सिर नहीं पढ़ी जा सकती, इसलिए उनमें सफेद टोपी लगाने का रिवाज सा हो गया है। पर उसे वे बराबर नहीं लगाते। वे हराम-हलाल का ख्याल करते हैं, अतः भोज या रेस्तरां में उनके खाने का विशेष प्रबन्ध किया जाता है। मैंने समझा था कि इस्लाम धर्म में दीक्षित चीनी हुई कहलाते हैं, पर श्री ल्यू ने बतलाया कि यह आंशिक तथ्य है। मंगोल शासन के समय (१३वीं-१४वीं सदी) लाखों ईरानी, मध्य एशिया के तुर्क और दूसरे लोग सैनिक और सेनापति के तौर पर यहां लाये गये। मंगोलों की नीति अपने अधीन की गैर-चीनी जातियों के लोगों को ऊंचे से ऊंचे सैनिक व असैनिक पद देने की थी। पर उन्हें जन्म स्थान से दूर भेजा जाता था। ये ही विदेशी चीन में बसते गये। अधिकांश ने चीनी औरतों से ब्याह किया और इस प्रकार हुई जाति की सृष्टि हुई। हुई अधिकांश हान (चीनी) लोगों में बसे हुए हैं। इनकी जनसंख्या ३६ लाख है। इनसे कुछ अधिक अर्थात् ३७ लाख मुसलमान-उईगुर (तुर्क) हैं, जो चीनी मध्य एशिया (सिङ्‌क्याङ् प्रदेश) में रहते हैं। सारे चीन में ८० लाख के करीब लोग इस्लाम को मानते हैं। इन्हीं के लिए इस्लामिक संस्थान कायम किया गया। इमारत अत्यन्त भव्य और विशाल है। शहर के भीतर होने पर भी इसके चारों तरफ फूल व बगीचे के लिए काफी खुली जमीन है। इमारत १९५६ में बननी शुरू हुई और १९५८ में समाप्त हुई। थोड़ा हटकर विद्यार्थियों और अध्यापकों के लिए निवासगृह बने हुए हैं।

ल्यू महाशय ने परिचय दिया। संस्था में ६ अध्यापक हैं। भिन्न-भिन्न जातियों के क्रम निम्न हैं: उजबेक २, किर्गिज-कजाक-उईगुर ३०, हुई १२, तुङ्‌शान् २, सब मिलाकर १०० छात्र। यहां वे उच्च शिक्षा प्राप्ति के

लिए आये हैं, इसलिए शायद ही कोई २० बरस से कम उमर का हो। मैंने सोचा था, शायद कोई ताजिक भी मिले। ऐसा होने पर फारसी में बोलने का सुभीता हो जाता। पर कुछ ही हजार ताजिक परिवार चीन की सीमा में रहते हैं। यहां उनका कोई छात्र नहीं था। एक अध्यापक मिस्र के अजहर विश्वविद्यालय में आठ वर्ष पढ़कर आये थे। वह अरबी अच्छी बोलते थे। मैंने आगरा में डेढ़ बरस तक उसे पढ़ा था, जिस पर बहुत जंग लग गया था। मैं दस-पांच शब्द ही बोल सकता था। संचालक ने बतलाया कि हमारे यहां चार बरस की पढ़ाई है। इस वक्त पहले-दूसरे वर्ष में कोई विद्यार्थी नहीं हैं। तीसरे वर्ष में २१ और चौथे में २५ हैं। प्रवेशिका कक्षा में ४० पढ़ रहे हैं। उसी इमारत में एक किनारे पर मस्जिद भी है, जिसकी गुंबद नीली टाईल की है। इसमें ५०० आदमी बैठकर नमाज पढ़ सकते हैं। जब तीन ही बरस पहले खुले हुए विद्यालय के पुस्तकालय को दिखलाते हुए उन्होंने पुस्तकों की संख्या २० हजार बतलायी, तो मुझे आश्चर्य हुआ। इनमें कुछ हस्तलिखित पुस्तकें भी थीं। यहां के मुसलमान प्रायः सभी सुन्नी तथा हम्बली सम्प्रदाय के हैं। मुझे बतलाया गया कि कुछ मालिकी सम्प्रदाय के भी हुई हैं, जो घोड़े के मांस को हलाल मानते हैं। ये तरुण, संस्थान में शिक्षा पाकर अपनी जन्मभूमि में जा धार्मिक नेता बनेंगे। यहां शुद्ध इस्लाम की शिक्षा दी जाती है, पर दूसरे धर्मों के प्रति वैमनस्य नहीं सिखलाया जाता।

मैं केवल चीन देखने नहीं आया था, बल्कि मेरी इच्छा तिब्बत जाने की भी थी, यद्यपि निमन्त्रण पत्र पर यह साफ लिखा था कि अभी तिब्बत जाने का प्रबन्ध नहीं हो सकता। १२ जुलाई को उन्होंने फिर बतलाया कि कुछ दिक्कतें हैं, जिनके कारण हम आपको वहां नहीं भेज सकते। मुझे उन दिक्कतों का पता नहीं था, पर उन्हें था और आज तिब्बत के सामन्तों के खुल खेलने को देखकर सभी को मालूम हो सकता है कि तिब्बत उस समय शोध करने लायक स्थान नहीं था। फिर भी मैं हाथ-पैर ढीला करके बैठा नहीं रहा। पर हार्ट-अटैक हो जाने पर डाक्टर ने कहा कि आपका इतनी ऊंचाई पर जाना बड़े खतरे का काम है। हम आपको वहां जाने की इजाजत नहीं दे सकते।

भारतीय दूतावास। १३ को सबेरे भारतीय दूतावास गया। विदेश में आकर अपने दूतावास का दर्शन करना और उसके साथ सम्पर्क स्थापित करना शिष्टाचार है। मेरे तो वहां कुछ परिचित भी थे। सबेरे के समय वहां गया। होटल से दूर नहीं था। हमारे दूतावासों का अगर कहीं भाग्य मन्द हो, तो नेहरू परिवार के किसी व्यक्ति को दूत बनाकर भेज देना चाहिए। श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने मास्को के भारतीय दूतावास की कायापलट कर दी थी। उसके लिए फर्नीचर खरीदने वह स्वीडन तक उड़ीं और बढ़िया कालीन और दूसरी चीजें लाकर सजा दीं। उनके पुण्य-प्रताप से अमरीका और इंगलैंड के भारतीय दूतावास भी ऐसे बन गये कि भारत दुनिया में मुंह दिखाने लायक रह गया। पेकिङ् के भारतीय दूतावास का भी सौभाग्य था कि कुछ सालों के लिए श्री आर. के. नेहरू वहां आ गये। कितना फूहड़ दूतावास उन्हें लगा होगा। मकान अपना नहीं है। किराये का मकान होने पर भी बहुत अच्छा है और उस सड़क पर है, जिस पर रूसी और अन्य दूतावास हैं। सबसे पहले उन्होंने अच्छे फर्नीचरों को जुटाना शुरू किया। मालूम नहीं उन्होंने चीन के बाहर से भी कोई फर्नीचर मंगाया या नहीं। सिङ्क्याङ् के गलीचे दुनिया भर में मशहूर हैं। रेशम के पर्दे चीन से बढ़कर कौन बना सकता है? एक-डेढ़ वर्ष में ही दूतावास की कायापलट हो गयी।

युन-काङ के गुहा-मन्दिर

हमारे अजन्ता-एलोरा की तरह चीन में चार स्थानों में पहाड़ खोदकर गुफा बिहार बनाये गये हैं। इनमें युन-काङ्, तुङ्ह्वान तथा लुङ्-मन के गुहा-बिहार मैंने देखे। छ्युवान् की गुहाओं का भी बड़ा बखान किया जाता है, लेकिन वहां तक मैं नहीं पहुंच सका। १३ जुलाई को अपराह्न में साढ़े २ बजे की ट्रेन ता-थुङ् के लिए पकड़ी। रात के १२ बजकर ४५ मिनट पर हम गन्तव्य स्थान पहुंचे। प्रथम श्रेणी का किराया १२.४८ युवान था। एक घुमघुमौवा रास्ता था, पर हाल में सीधा करने के लिए १०५ किलोमीतर का नया रास्ता पहाड़ों के भीतर से बनाया गया, जिसमें सौ किलोमीतर में

६५ सुरंगें हैं। हर थोड़ी दूर पर एक सुरंग आन उपस्थित होती है। सुरंगों का बनाना बहुत खर्चीला काम है, इसलिए पुरानी सड़क पहाड़ से अलग-अलग गयी थी। कम्युनिस्ट चीन सुरंगों के खर्च से नहीं घबराता। वहां हर काम का हिसाब युवान में नहीं होता—बल्कि देखा जाता है कि कितने आदमियों को काम मिलेगा और कितना सीमेन्ट, पत्थर या लोहा काम में आयेगा, वह हमारे घर में मौजूद है या नहीं। अगर इन सवालों का जवाब हां में है, तो काम करने में आगा-पीछा करने की आवश्यकता नहीं।

हमारे पहाड़ी गांवों में सीढ़ीनुमा खेत होते हैं और बस्तियों के पास कई तरह के फलदार वृक्ष होते हैं। वही दृश्य यहां भी था। हर सूखे पहाड़ पर यहां वनमहोत्सव का स्पष्ट दृश्य दिखाई दे रहा था। श्वाङ-ह्वा नगर रास्ते में आया। यह अपने अंगूरों के लिए प्रसिद्ध है। चुन्-चा-खाउ कलगन का चीनी नाम है। पहले मंगोलिया आने-जाने वाला कारवां यहीं ठहरता था। इसके थोड़ी दूर से चीनी दीवार जाती है, जिसका किलाबन्द द्वार कलगन ही था। पेकिङ् से यह १६० किलोमीतर पर है। ४ लाख आबादी है। स्टेशन नगर से दूर है।

अतिथि को आधी रात के समय किसी के यहां नहीं जाना चाहिए, यह बात ठीक है; पर हम दूसरे ही तरह के अतिथि और हमारे मेजबान भी दूसरी तरह के थे। उस समय भी स्वागत के लिए दो सज्जन स्टेशन पर आये हुए थे। हम कार पर शहर के एक किनारे अवस्थित होटल में गये। इसका निर्माण १६५४ में हुआ था। तिमंजिला इमारत में १०० से अधिक कमरे हैं। होटल केवल अतिथियों के लिए ही नहीं बने हैं, बल्कि वहां सभा-समितियां-सम्मेलन हर वक्त हुआ करते हैं। उनमें आने वाले प्रतिनिधि भी यहीं ठहरते हैं।

१४ जुलाई का सबेरा आया। सोच रहा था कि पेकिङ् की तरह यहां भी बादल और वृष्टि गोड़-तोड़ कर बैठे होंगे। पर, यहां वृष्टि बहुत कम होती है। आखिर गोबी का रेगिस्तान यहां से बहुत दूर नहीं है। अगर वृष्टि होती, तो रेगिस्तान कैसे रहता? नगर की आबादी २ लाख ८० हजार है। पहले जापानियों ने इस पर अधिकार किया था। फिर १६४५ में यह च्यांग काई-शेक के हाथ में आ गया।

प्रातराश के बाद हम युन्-काङ् की गुफाएं देखने गये। रास्ते में गाड़ियों में बहुत लम्बे-चौड़े खच्चरों को जुते देखा। पूछने पर मालूम हुआ कि वे यहीं के हैं। गदहे भी बहुत बड़े-बड़े थे। गुफाएं २० किलोमीतर पर हैं। सड़क भी अच्छी थी। सारी भूमि पहाड़ी थी। पहाड़ के नीचे एक नदी थी जिसमें धारा के अनुरूप तो नहीं पर काफी पानी बह रहा था। इसी के पास के पहाड़ में एक किलोमीतर तक गुफाएं खुदी हुई हैं। उनकी संख्या तो अधिक है, पर ८१ बड़ी और विशेषता रखनेवाली हैं। पांचवीं सदी में उत्तरी चीन में हान-भिन्न उत्तर के गुमन्तुओं ने अपना राज्य कायम किया था। स्यान्पी तातारों ने ताथुङ् को अपनी राजधानी बनाया। उनका एक सम्राट तोपा बौद्ध धर्म में बहुत भक्ति रखता था। उसी के समय पहाड़ को खोदकर ये गुहा-मन्दिर बनाये जाने लगे। ४५३ से ४८० ईसवी तक उत्तरवेई राजवंश ने ताथुङ् से शासन किया। इसके बाद राजधानी लो-याङ् चली गयी। इन्हीं २७ वर्षों में यहां की अधिकांश गुहाएं बनीं। कितनी ही गुहाएं और उनके भीतर की बुद्ध मूर्तियां बहुत विशाल हैं। सबसे बड़ी मूर्ति १७ मीतर (६० हाथ के ऊपर) ऊंची है और सबसे छोटी २ सैन्तीमीतर की। छोटी-छोटी गुहाओं को भी जोड़ने पर संख्या १२०० पहुंचती है। किसी वर्ष यहां हजारों भिक्षु रहते रहे, पर अब यान सम्प्रदाय के तीन भिक्षु इन मन्दिरों की देखभाल करते हैं। सरकार पूरी सहायता देती है। यहां की मूर्तियों पर गन्धार, भारत, कूचा-तुर्फान की कला का स्पष्ट प्रभाव है। इन्हीं गुहाओं में से कुछ में बैठकर भारतीय ग्रन्थों के संस्कृत से चीनी में अनुवाद हुए। पांचवीं सदी गुप्तों का काल है। इस समय महायान अस्तित्व में आ गया था, किन्तु हीनयान भी बिल्कुल लुप्त नहीं हुआ था। इसीलिए यहां की मूर्तियों पर महायानी प्रभाव कम दिखाई देता है। उनके बोधिसत्वों की मूर्तियां भी कम हैं। त्रिरत्न का त्रिशूल से मिलता हुआ पुराना लांछन—जो सांची, भरहूत में मिलता है—यहां भी दिखाई पड़ रहा था। गुहाओं की भित्तियां किसी समय चित्रों से सज्जित थीं और वही बात पत्थर की मूर्तियों की भी थी। पर अब रंग बहुत से मिट गये हैं। इस पर्वत के पत्थर अजन्ता की तरह मजबूत नहीं हैं। यहां सर्दी बहुत तीव्र होती है, जो पत्थरों की शत्रु है। इसलिए पन्द्रह

शताब्दियों की चोट सहना इनके बर्दाश्त की बात नहीं है। थाङ्-काल (७वीं-६वीं सदी) में ये गुहाएं आबाद थीं। उस समय दक्षिण की ओर भिक्षुणियां रहती थीं और उत्तर की ओर भिक्षु, जिनकी संख्या १ हजार थी। ल्याउ काल (११वीं सदी) में भी यहां बहुत भिक्षु रहा करते थे।

यहां के विद्वान संचालक पे ने गुहा के इतिहास के बारे में बहुत सी बातें बतायीं। वह स्वयं एक अच्छे इतिहासज्ञ और बौद्ध संस्कृति के प्रति बड़ी आस्था रखने वाले प्रौढ़ पुरुष हैं। यहां से कुल १०० किलोमीतर पश्चिम स्थित ऊथाई (पंचपर्वत) बिहार सारे चीन में प्रसिद्ध हैं। पे महाशय ने उनके ऊपर एक पुस्तक लिखी है। पंचपर्वत बिहार अपने भिक्षुओं और बिहारों की संख्या के लिए ही प्रसिद्ध नहीं है, बल्कि वहां बुद्ध की दर्शन सम्बन्धी शिक्षा के अभ्यासी भी रहते हैं। इसीलिए वह सुशिक्षित और सुसंस्कृत चीनी विद्वानों को आकृष्ट करने में समर्थ हैं।

पे महाशय ने गुफाओं को दिखाने में हमारी बड़ी सहायता की। हमने भी उनसे काफी ज्ञान पाया और इसमें सन्देह नहीं कि कुछ बातें उन्हें मुझ से भी मिलीं। यहां की वृहत्तम बुद्ध मूर्ति पांचवीं गुफा में है, जिसके दोनों पार्श्व में अभयमुद्रा लिए दो खड़ी बुद्ध मूर्तियां हैं। बैठी मूर्ति से ये छोटी जरूर हैं, परन्तु स्वयं भी बड़ी हैं। छठी गुफा की मूर्ति अधिक सुरक्षित है। सबसे प्राचीन मूर्तियां सबसे अधिक सुन्दर हैं। ग्यारहवीं गुफा में यहां का प्राचीनतम शिलालेख है, जो कि खैं-हो के सप्तम वर्ष अर्थात ४९२ ईसवी में लिखा गया। पन्द्रहवीं से बीसवीं तक की गुहाएं सबसे प्राचीन हैं। अठारहवीं गुफा में सिर पर अमिताभ बुद्ध को धारण किये अवलोकितेश्वर बोधिसत्व खड़े हैं, जिससे महायान का प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। यह याद रखने की बात है कि ईसा की प्रथम शताब्दी में जो बौद्ध धर्म यहां आया, वह हीनयानी था। भारत की तरह ही महायान धीरे-धीरे यहां भी हावी हो गया।

ता-थुङ् के बिहार। यह बहुत पुराना नगर है। पांचवीं सदी में इसे चीन के एक बड़े भाग की राजधानी बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यहां की पुरानी इमारतों में कुछ बिहार दर्शनीय हैं। ऊपरी वायन बिहार का निर्माण ११४० ईसवी में हुआ था। इसकी महाशाला ५२ मीतर लम्बी, ७ मीतर

चौड़ी और २६ मीतर ऊंची है। इसकी विशालता और उसके साथ कला-पूर्णता स्पृहणीय है। महाशाला में पांच बुद्ध मूर्तियां हैं। २४ देवता तथा ४ महाराज (देवों के राजा) बड़े सुन्दर बने हुए हैं। बुद्ध मूर्तियां पीछे मिङ् काल में (१४२६-८७ ई.) बनीं। भित्ति चित्र और भी पीछे मंचू काल में अंकित किये गये। इस बिहार में १८ से ७२ वर्ष तक के छः भिक्षु रहते हैं। बिहार का सम्बन्ध ध्यान सम्प्रदाय से है। बिहार यद्यपि नगर के गर्भ में है, लेकिन उसमें काफी जगह है। उससे कुछ हटकर निम्न वायन बिहार है, जो पहले का ही पुस्तकागार था, पर अब प्रबन्ध में स्वतन्त्र है। इसका निर्माण पहले बिहार से भी पहले १०२८ ईसवी में हुआ था। यहां चीनी त्रिपिटक की दो प्रतियां सुरक्षित हैं। बहुत सी जगह और मकान बेकार पड़े थे। आगे की ओर छौ बरस की एक प्राइमरी पाठशाला चलती है। इसका हाल भी विशाल है, पर पहले की अपेक्षा छोटा है। मूर्तियां पहले ही जैसी हैं। यहां दो शिलालेख हैं। ध्यान सम्प्रदाय के दो भिक्षु इसकी देखरेख करते हैं। दोनों बिहार राष्ट्रीय निधि हैं।

सङ्-ह्वा बिहार। ता-थुङ् का यह बिहार सबसे पुराना है। इसका निर्माण थाङ् काल (७वीं-६वीं सदी) में हुआ था। हाल विशाल है। उसमें पांच बुद्ध और २४ देवताओं की मूर्तियां हैं। कला के उत्कर्ष के समय इनका निर्माण हुआ था, इसलिए इनके सौन्दर्य के बारे में क्या कहें। जापान की तरह चीन के मन्दिर भी काष्ठ के बने होते हैं। यहां के लिए देवदार के वृक्ष तुङ्-शान् पर्वत से लाये गये, जो आजकल वृक्षहीन सा है।

नव-नाग। पेकिङ् के नौ नाग की तरह यहां भी प्रोसलीन के रंग-बिरंगे नौ नाग बनाये गये हैं, जो एक दीवार के दोनों तरफ जटित हैं। दीवार साढ़े ४५ मीतर लम्बी, २.२ चौड़ी और ८ मीतर ऊंची है। भारत के पुराने नगरों की तरह चीन के पुराने नगरों की सड़कें बहुत संकरी हुआ करती थीं। नवीन चीन में कितनी ही सड़कों को चौड़ा किया गया। पर सड़क चौड़ा करने में नौ नाग बाधक थे। १९५५ में जब सामने की सड़क चौड़ी की गयी, तो नौ नागों को २८ मीतर हटाकर वहां स्थापित कर दिया गया। उसके चारों तरफ सुन्दर बगीचा है।

नगर के ६६ प्रतिशत घर निजी सम्पत्ति हैं। घरों के मालिक करोड़पति

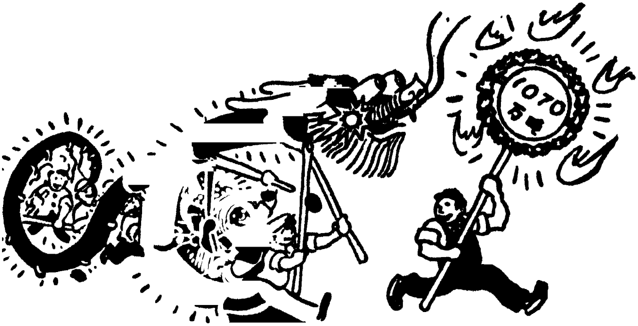
नहीं, साधारण मध्यवित्त लोग हैं। सरकार ने घरों का राष्ट्रीकरण नहीं किया है। हां, भाड़ा निश्चित होता है और मकान में रहने वालों की सुविधा और सुख का खयाल रखना पड़ता है। जब नये तरह के मकान शहर में भी बनने लगेंगे, तब सरकार कुछ क्षतिपूर्ति के तौर पर मकान मालिकों को देगी।

ता-थुङ् की आबादी ४ लाख को पहुंच रही है। शहर से बाहर नयी फैक्टरियां और लोगों के रहने के मकान बनते जा रहे हैं। हरेक पुराने नगर की तरह इसके चारों ओर भी नगर-प्राकार था। कला के प्रतीक के तौर पर उसके दरवाजे ही आगे रह जायेंगे, दीवारें शायद एकाध जगह देखने के लिए छोड़ दी जायें। शहर में दो नाट्यशालाएं और कई सिनेमा घर हैं, क्लब तो मुहल्ले-मुहल्ले में हैं। यहां की दवाइयों का कारखाना बहुत बड़ा है। ता-थुङ् के इलाके के पहाड़ कोयले की खानों से भरे हैं। यहां से कुछ दूर पर चीन का दूसरा लौह केन्द्र पाउथू है। ता-थुङ् भी एक बड़ा औद्योगिक केन्द्र बनकर रहेगा, इसमें सन्देह नहीं।

पेकिङ् से आने वाली ट्रेन यहां होते पाउथू तक जाती है। वही ट्रेन वहां से पेकिङ् लौट जाती है। अगले दिन पांच बजे तड़के ही हमें स्टेशन जाना पड़ा, क्योंकि ट्रेन बड़े सबेरे आती थी। इसी लाइन के एक स्टेशन से गोबी रेगिस्तान में होती मंगोलिया, फिर सोवियत साइबेरिया को मिलानेवाली रेलवे लाइन जाती है। गोबी के रेगिस्तान में रेल बनाना साधारण काम नहीं था।

आसमान में बादल घिरे हुए थे। जगह अत्यन्त सर्द है, पर १५ जुलाई को गर्मी मालूम हो रही थी। रास्ते में हमें एक ट्रेन मिली जिसमें कोरिया के युद्ध में भाग लेने वाले चीनी स्वयंसेवक लौटकर अपनी-अपनी छावनियों में जा रहे थे। इस ट्रेन पर सैनिकों के साथ-साथ टैंक और लारियां भी लदी हुई थीं। लारियों को इस ढंग से एक के ऊपर एक सहारा देकर खड़ा किया गया था कि खुले डिब्बे में कई आ सकती थीं। जहां भी ट्रेन खड़ी होती, वहीं स्वयंसेवकों के स्वागत के लिए ध्वजा-पताका लिए नारा लगाते हजारों नर-नारी जमा हो जाते।

डेढ़ बजे हमारी ट्रेन पेकिङ् पहुंची।



पेकिङ की संस्थाएं

१६ जुलाई को बौद्ध संस्थान में भाषण देना पड़ा। अनुवादक श्री ली थे। चीन में हिन्दी दुभाषियों की कमी नहीं है, पर जब भाषण में दार्शनिक बातें आयें, तो हिन्दी के जानकारों की शक्ति से बाहर की चीज हो जाती है। श्री ली अंग्रेजी के ज्ञाता होने के साथ-साथ बौद्ध धर्म और दर्शन के भी पंडित हैं, इसलिए उनके अनुवाद से अध्यापक और छात्र सन्तुष्ट हों तो कोई आश्चर्य नहीं। लौटते वक्त एक दूकान में जाकर चीजों का भाव देखा। साधारण कोट का दाम ४.२५ युवान (साढ़े ८ रुपया) था। भारत में तो उसकी सिलाई का ही उतना दाम लग जाता। यह साधारण पोशाक थी, नहीं तो महंगी होती। वेश-भूषा और सजाने के लिए चीन की बनी हुई लिपस्टिक (१.६ युवान), भौंपेंसिल (.४२ युवान), मुखचूर्ण (१.१३ युवान), डिलक्स जैसा साबुन (.४२ युवान), धोने का साबुन (.२६ युवान), कारबोलिक साबुन (.२७), रदफेन (.३१-४२), दन्तचूर्ण (.२८-.४५), सुगन्धी (.३६-३.५) भी देखी। चीन में स्वतंत्रता को बढ़ाने वाली

चीजें निषिद्ध नहीं हैं, यह इससे मालूम होगा। पहले सादगी पर अधिक जोर दिया जाता था, अब भी लोग अधिक सादगी पसन्द हैं। स्त्री-पुरुष, सब ही मौसमों में नीले रंग के बंद गले के कोट और पैंट पहनते थे। इसमें शक नहीं कि काम करते वक्त की यह बहुत सुन्दर पोशाक है। पर इसी को अनिवार्य बनाना नेताओं को पसन्द नहीं है और उन्होंने पोशाक की विविधिता पर जोर दिया। आजकल गरम दिन थे। पेकिङ् की सड़कों पर नाना प्रकार की पोशाक पहने स्त्रियां देखी जा सकती थीं।

अल्पमत जाति संस्थान। बहुजातिक चीन राष्ट्र की जनसंख्या ६६ करोड़ के करीब है, जिनमें डेढ़ करोड़ को छोड़कर हान् (चीनी) जाति के लोग हैं अल्पमत जातियों की संख्या और प्रदेश निम्न प्रकार हैं:

जातियां	जनसंख्या	स्थान
च्वांङ्	६६,00000	च्वाङ्सी प्रदेश
उइगुर	३७,00000	सिङ्क्याङ् स्वायत्त प्रदेश
यी	३३,00000	छ्च्वान्-युन्नान प्रदेश की सीमान्त पहाड़ियां
तिब्बती	२८,00000	तिब्बत, छम्दो, चिङ्है प्रदेश
म्याओ	२५,00000	क्वाईचाओ, पश्चिमी हुनान के प्रदेश
मंगोल	१५,00000	भीतरी मंगोलिया कान्सू, चिङ्है, सिङ्क्याग
पुयी	१२,५0000	दक्षिण पश्चिमी क्वैचाउ
कोरियन	११,00000	मंचूरिया के किरिन प्रदेश में

चीन में जो भाषाएं बोली जाती हैं, उनका विश्व भाषाओं से सम्बन्ध निम्न तालिका से मालूम होगा :

भाषा-परिवार	शाखा	समुदाय	भाषाएं
		च्वाङ्-थाई	च्वाङ्, थाई, पूई,
	चीन-थाई		नुङ्, शूई आदि
		तुंङ् शुई	तुङ्, शुई आदि
		ली	ली
			तिब्बती, छियाजुङ्,
		तिब्बती	छ्याङ्, सी फान,
	तिब्बती-		तूलुङ्, नू आदि।
	बर्मी	यी	यी, लीसू, नाशी, हानि,
			लाहू, अछज, पायी
चीनो-तिब्बती			(मिङ्छिया) आदि
		छिङ्पो	छिङ्पो
	म्याओ-याओ	म्याओ	म्याओ
		याओ	याओ
		पू. हूणी	उइगुर, कजाक, सलार,
	तुर्की		उजबेक, तातार आदि।
		प. हूणी	किरगिज, यूगू,
			याकूत
	मंगोलीय	मंगोली	मंगोली
		दहुर	दहुर
	मंगोलीय	मंगोली	तुङ्श्याङ्, तू,
			पाउआन
अलताइक	तुंगूसी	तुंगूसी	सोलुन ओलुन्छुन्,
		मंचू	मंचू, सिबो, ननाई
आस्ट्रो-	मोन्खोर	वा-पलौङ्	काबा, पलौङ्
एशियाई	(किरात)	बुलाङ्	बुलाङ्
हिन्दी-			
योरोपीय	ईरानी		ताजिक

इससे मालूम होगा कि भारत में बोले जानेवाले हिन्दी-योरोपीय और मोन्-ख्मेर भाषाओं से सम्बन्ध रखनेवाली कम से कम चार भाषाएं चीन में बोली जाती हैं।

इन्हीं अल्पजातिक लोगों के लिए यह संस्थान स्थापित किया गया है। यहां इस समय २२०० छात्र-छात्राएं हैं। अगले साल उनकी संख्या ६ हजार हो जायगी। छात्र १६ वर्ष से अधिक उम्र के हैं। अपनी भाषा और दूसरे विषयों का माध्यमिक कक्षा का ज्ञान उन्हें होता है। चुने हुए होने के कारण यहां तेज लड़के-लड़कियां ही प्रवेश पाते हैं। इतिहास, नृतत्व, भाषा, साहित्य, चीनी आदि इनके पाठ्य विषय हैं। पढ़ने का समय पांच वर्ष का है। विद्यार्थियों में सबसे अधिक संख्या (८००) तिब्बतियों की है, जिनमें आधी लड़कियां हैं। यहां से शिक्षा प्राप्त कर वे अपने-अपने प्रदेशों में लौटकर जनता का नेतृत्व करेंगे। तिब्बत के प्रतिभाशाली छात्र-छात्राओं को इस विद्यालय जैसी संस्थाओं में पढ़ाया जा रहा है। क्या ये लौटकर अपने यहां की अर्धदासता को कायम रहने देंगे? यह संस्था पेकिङ् नगर से काफी दूर विश्वविद्यालय के रास्ते में स्थित है। १८ नई, सुन्दर और कलापूर्ण इमारतें बनायी गयी हैं। पुस्तकालय में ४ लाख १० हजार ग्रन्थ हैं। तिब्बती छात्रों के रहने के स्थान को भी हमने देखा। इनका कमरा बुद्ध की मूर्ति और बौद्ध चित्रपटों से सुसज्जित था। उनको अपनी संस्कृति से पूरा प्रेम रहे इसे सिखलाया जाता है। मुस्लिम छात्रों के लिए एक कमरे ने छोटी मस्जिद का रूप ले लिया है। उसे भी जातीय ढंग से सजाया गया है। चीन की सभी जातियां अपनी-अपनी संस्कृति की भक्त हों, यहां की शिक्षा में यह ध्यान रखा जाता है। चीन गणराज्य की सारी जातियां सही अर्थ में अपने को भाई-भाई समझती हैं, इसलिए हां साम्प्रदायिक झगड़ों की सम्भावना नहीं। जातियों के अपने व्यक्तित्व के ए निजी स्वायत्तता कायम करना केन्द्रीय शासन का ध्येय है, जिसके कारण प्रतिशत जनता में शासन के प्रति दुर्भाव होने की गुंजायश नहीं। णी चीन में क्वाङ्-सी एक बड़ा प्रदेश है जिसकी आबादी १ करोड़ ६५ ०० हजार ८२२ है। यहीं ६६ हजार च्वाङ् लोग बसते हैं। १९५८ ; लोगों का स्वायत्त प्रदेश घोषित किया गया। च्वाङ् लोगों की

भाषा थाई (स्यामी) भाषा की भगिनी है। मूलतः स्याम और लाओस के थाई लोग १२वीं सदी में कुबलै खान के आक्रमण के कारण अपने देश से बाहर गये। अब भी चीन में दो स्वायत्त जिले थाइयों के हैं। वहां अब भी हीनयानी बौद्ध हैं।

इस संस्थान का एक विभाग भाषा और नृतत्व का गंभीर अध्ययन करता है। उसके संगृहालय में बहुत सी महत्वपूर्ण सामग्री, अनेक जातियों के स्त्री-पुरुषों की पोशाक, उनके रूप आदि को जमा किया गया है।

हमें तुङ्-ह्वान् देखने के लिए जाना था। ह्वाङ्-हो में बाढ़ आयी थी। रेलवे लाइन के टूटने की संभावना तो नहीं थी, लेकिन परास्त ह्वाङ्-हो कभी घेरे से बाहर हो सकती थी, इसलिए रेल से अतिथि को भेजा नहीं जा सकता था। हवाई जहाज से जाने के लिए डाक्टरी परीक्षा की गयी। हमारा रक्तदाब २०० था। ऐसे हृदय के साथ हवाई यात्रा नहीं की जा सकती थी। मैं पछताने लगा, क्यों परीक्षा करना स्वीकार किया। लेकिन अब तो परीक्षा हो चुकी थी। मुझे कोई बेचैनी नहीं थी। पर इसका एक परिणाम यह हुआ कि डाक्टरों के आदेश के अनुसार मुझे चारपाई पर पड़ा रहना पड़ा। आज मुझे भाषण देना था, उसे भी स्थगित कर दिया गया। उतने ही से छुट्टी नहीं मिली, बल्कि १८ को पेकिङ् के बड़े अस्पताल में जाना पड़ा। वहां भी २०० दाब निकला। अमरीका ने लेबनान में सेना भेजी थी, उसके विरोध में चीन का जन-गण क्षुब्ध हो गया था। लाखों आदमी अमरीकी साम्राज्यवाद के विरुद्ध नारा लगाते सड़कों पर प्रदर्शन कर रहे थे। अपार भीड़ थी। १६ जुलाई को भी उसी तरह प्रदर्शन होता रहा। बीसों लाख लोग उसमें शामिल थे। सारी रात वह चलता रहा। अमरीकी दूतावास यहां नहीं है, क्योंकि अमरीका ने चीन के साथ दौत्य सम्बन्ध कायम नहीं किया है। इंग्लैंड के दूतावास के प्रमुख को रात भर जागते रहना पड़ा। हरेक प्रदर्शन-समूह स्मरणपत्र उनके हाथ में देता था।

१६ को मेरे जोर देने पर "भारत में बौद्ध निकाय" विषय पर मेरा व्याख्यान हुआ। लौटकर भोजन के बाद अस्पताल गये। डाक्टर ने कहा रक्तदाब अभी भी मौजूद है।

२० जुलाई को १९० रक्तदाब रहा। डाक्टर ने दवा दी। २२ जुलाई को वर्षा होती रही, गर्मी भी थी। इस दिन फिर बौद्ध संस्थान में सबेरे जाकर एक भाषण दिया।

अफ्रो-एशियाई सेनीटोरियम। पेकिङ् का एक महत्वपूर्ण सेनीटोरियम है, जो य-क्ष्मा के विदेशी बीमारों के लिए शहर से बाहर १९५२-५४ में बनाया गया था। पृष्ठभूमि में सुन्दर हरे-भरे पहाड़ हैं। चारों ओर देहात जैसा दृश्य है। २२ जुलाई को हम उसे देखने गये। उस समय वहां २० भारतीय रोगी थे। २०० में हान, तिब्बती, उइगुर, च्वाङ्, कोरीय, मंगोल आदि जातियों के भी रोगी थे। यहां आठ डाक्टर, पैंतीस नर्सें और बयासी दूसरे कर्मचारी हैं। पिछले कुछ वर्षों में यहां से निरोग हो भारत के ५६ रोगी अपने देश को लौट गये। १०३९ दूसरे लोग निरोग होकर अपने देशों को चले गये। गंभीर आपरेशन हो, तो उसे शहर में ले जाना पड़ता है, नहीं तो वह यहीं हो जाता है। सेनीटोरियम पेकिङ् से ४० मील दूर है। इमारतें सुन्दर और नयी बनी हुई हैं। डाक्टर वू प्रधान चिकित्सक हैं, जिन पर रोगियों का बड़ा स्नेह है। सेनीटोरियम में एक हाल भी है, जिसमें ३०० आदमी बैठ सकते हैं। यहां सिनेमा और नाटक भी दिखाये जाते हैं। एक भारतीय तरुण चित्रकार है। सभी यहां के जीवन से बहुत सन्तुष्ट हैं।

लौटते वक्त हम आसपास की भूमि देखते आये। कांगुन, बाजरा, मक्का आदि की फसलें खेतों में खड़ी थीं। बिल्कुल अपने देश जैसा दृश्य दिखाई दे रहा था।

२३ जुलाई को सबेरे यहां के प्रसिद्ध ताउ मठ (पेयुनक्वान) देखने गये। इसकी स्थापना थाङ्काल में हुई थी। स्थापक का नाम थ्येन छन-क्वा था। वर्तमान महन्त मोङ्-मैङ्-हुइ ६६ वर्ष के हैं और चीन के ताउ सभा के उपसभापति हैं। भिक्षुओं की संख्या ४० है। नगर में २० भिक्षुणियां रहती हैं। सारे चीन में १०,००० ताउ देवालय हैं और भिक्षुओं की संख्या लाख से अधिक है। ताउ मत के संस्थापक लाउजे उसी समय पैदा हुए थे जिस समय भारत में बुद्ध। चीन में इस सम्प्रदाय का काफी सम्मान रहा है। कला तथा साहित्य में उसकी देन भी काफी है। लाउजे

के बाद उनका पुत्र गद्दी पर बैठा। उसके बाद आठ और सन्त बैठे। ये ताउ धर्म के नौ रत्न माने जाते हैं।

ताउ धर्म के नौ सन्तों में एक महिला भी हैं। इन नौ रत्नों के चित्र मठों और घरों में मिलते हैं। चंगेज खां के समय छू छाङ्-छुन् का सम्मान इतना था कि चंगेज ने स्वयं उन्हें दर्शन और उपदेश सुनने के लिए बुलाया था। ताउ सिद्धों के लिए प्रसिद्धि थी कि वे मृत-संजीवनी जानते हैं। चंगेज उस समय मध्यएशिया को विजय करके अफगान और भारत की तरफ बढ़ रहा था। उसी समय सन्त छू मध्य एशिया पहुंचे। कार्य से मुक्त होने पर चंगेज को उन्होंने उपदेश दिया। पर वह तो मृतसंजीवनी का भूखा था। तो भी उसने सन्त का बड़ा सम्मान किया। देश जाने का समुचित प्रबन्ध कर दिया। मैंने छू की यात्रा के बारे में अपने "मध्यएशिया के इतिहास" में लिखा है, पर उस समय मुझे क्या पता था कि पेकिङ् में उनके मठ को भी देखने का अवसर मिलेगा। एक शाला में छू छाङ्-छुन् की मूर्ति स्थापित है। सामने उनकी शव-समाधि है। ताउ सम्प्रदाय के भिक्षुओं में दाढ़ी बहुत प्रिय है, पर कितने ही बौद्ध भिक्षुओं की तरह वे बिना दाढ़ी-मूंछ के भी होते हैं।

दन्तकार सहकार। हाथी दांत की कला भारत में किसी समय अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंची थी। विदिशा के दन्तकार इतने धनी थे कि उनकी सभा ने सुन्दर मूर्तियों से मंडित सांची स्तूप के एक बड़े द्वार को बनाया। वह बहुत सुन्दर और सूक्ष्म था। वह धान्यकटक स्तूप की अनुकृति जैसा मालूम होता था। चीन में भी दन्तकला का बहुत विकास हुआ था। पर अन्य सुन्दर कलाओं की तरह दन्त कला भी मुमुर्षु हो चुकी थी। अगर पांच-दस वर्ष और कम्युनिस्ट न आये होते, तो यह बहुमूल्य कला वृद्धों के शरीर के साथ चल बसती। सामन्तों के अधिकार खत्म होने के बाद चीनी नौकरशाह और पूंजीपति योरोपीय सस्ती कला से अपने महलों को सुसज्जित करते। उनमें इतनी राष्ट्रभक्ति नहीं थी कि अपनी कला को जीवित रखने के लिए पुराने कलाकारों का संरक्षण करते। कम्युनिस्टों ने इस ओर ध्यान दिया। पेकिङ् के दन्तकारों ने अपना संगठन बनाया। इस संस्था में चार कलाकार, उनके सौ शिष्य और २० कर्मचारी

काम करते हैं। यहां हाथी दांत से कलाकृतियां ही नहीं बनायी जातीं, बल्कि विद्यार्थियों को शिक्षा भी दी जाती है। पहले से कुछ सीखे हुए छात्र यहां आते हैं और कम से कम दो साल यहां रहकर कला की शिक्षा गृहण करते हैं। पहली श्रेणी के छात्रों को १६ युवान और ऊपरी श्रेणी के छात्रों को २० युवान मासिक छात्रवृत्ति दी जाती है। पहली क्लास में साधारण ऊंट आदि की आकृति दांत पर उत्कीर्ण की जाती है। उसके बाद ज्यादा गंभीर मूर्तियों का नम्बर आता है। थाङ्कालीन महिला की बनी एक सुन्दर मूर्ति मुझे दिखायी गयी। थाङ् कला का चीन में वही स्थान है जो भारत में गुप्त कला का। दन्तकला के दो क्रम हैं। पहले दांत पर रेखाएं बनायी जाती हैं। फिर मूर्तियों, फूलों आदि को प्रस्फुटित किया जाता है। खू फुङ्-सन् चीन के बहुत प्रसिद्ध दन्तकला विशारद हैं। वही इस संस्था के मुख्याचार्य हैं। उनकी आयु ६० के करीब है। उनके लिए कार्य के समय का कोई बंधन नहीं है। वह घर पर थे, पर भारतीय मेहमान के आने की सूचना पाने पर चले आये। उनका जन्म गांव के एक साधारण किसान के घर में हुआ था। किसानों में जो चित्रकारी प्रचलित थी, उसको उन्होंने सीखा। २४ वर्ष की उम्र में उन्हें दन्त कला का पता लगा। फिर वह एक प्रसिद्ध दन्तकला विशारद ल्यो छाङ्-स्स के शिष्य हो गये। अपनी कला में वह मूर्धन्य माने जाने लगे। यह संस्था इस समय कला के सुन्दर नमूने तैयार करती है जिनकी मांग बराबर बढ़ती गयी। विदेशी मेहमानों और विदेश में जाने वाले चीनी प्रतिनिधियों को यहां की बनी दन्त-मूर्तियां प्रदान की जाती हैं। एक हाथी दांत पर दस हजार से अधिक मूर्तियों वाले एक नागरिक-दृश्य को मैंने अंकित देखा। यह अद्भुत चीज है। यहां के शिल्पकार ४० से २०० युवान तक मासिक पाते हैं। आज इस कला का पथ प्रशस्त है।

मालूम हुआ कि मेरे रक्तदाब से चिन्तित होकर मेजबानों ने चिकित्सालय में जाने का प्रबन्ध किया। तुङ्ह्वान की यात्रा कुछ समय के लिए स्थगित हो गयी।

अस्पताल में। यूनियन अस्पताल पेकिङ् का मशहूर और विशाल अस्पताल है। इसका आरंभ अमरीकनों ने किया था। अधिकांश इमारतें

उन्हीं की देखरेख में बनीं। चीनी खपरैल की छत तथा उसका ढांचा सुन्दर कलाकृति है। हम पूर्वाह्न में अस्पताल गये। कुछ मिनट एक कमरे में प्रतीक्षा करनी पड़ी। फिर उस मकान में ले जाया गया, जिसमें मेरे रहने का प्रबंध था।

२५ को कार्डियोग्राम से हृदय की परीक्षा हुई। मालूम हुआ, एक जगह क्षत है। फिर डाक्टर और हमारे मेजबान क्यों न चिन्तित होते? मुझे कोई तकलीफ नहीं हो रही थी। तकलीफ हो तो भी जीवन के बारे में मैं पूरा दार्शनिक हूं। अगले दिन एक्सरे से कई फोटो लिये गये, जिससे मालूम हुआ कि फेफड़े में कोई दोष नहीं है। हमारे विभाग के डाक्टर चेङ् चीन के बहुत बड़े हृदय विशेषज्ञों में हैं। उनके हंसमुख तथा सरल बर्ताव को देखकर कोई नहीं कह सकता कि ये इतने बड़े डाक्टर हैं। अस्पतालों में डाक्टरों और नर्सों में फर्क करना विशेषज्ञ का काम है। सभी एक से मालूम होते हैं। सिर्फ उनकी सफेद टोपी में कुछ अन्तर होता है। २४ जुलाई से १५ अगस्त तक पूरे २२ दिन मुझे इस अस्पताल में रहना पड़ा। डाक्टर चेङ् रोज दो मर्तबे देखने आते। यद्यपि वह एलोपैथिक डाक्टर थे, पर हमारे यहां के डाक्टरों की तरह आयुर्वेदिक (देशी चिकित्सा पद्धति) के प्रति नाक-भौं नहीं सिकोड़ते। उनका कहना था कि डाक्टर उसी को सिद्धान्त मानते हैं जो प्रयोग में ठीक उतरे। वैद्यों की ऐसी कितनी ही दवाइयां हैं, जो प्रयोग में बहुत सफल देखी जाती हैं। क्यों सफल देखी जाती हैं, इसे वैद्य नहीं बता सकते। आज का चिकित्सा विज्ञान औषधियों का रासायनिक विश्लेषण करके उसे बतलाता है। दोनों चिकित्सा प्रणालियां आज वहां मिलकर काम कर रही हैं।

रोज हमारी नई-नई परीक्षा होती रही। २४ की शाम को दन्त चिकित्सक ने दांतों को देखा। एक दांत में कुछ खराबी थी। मेरा अगला एक दांत खोखला हो गया था। मसूरी में बड़े विज्ञापन लगाये एक दन्त डाक्टर ने उसे भरा था। मैंने गलती की कि उनसे फीस नहीं ठहरायी। एक तो उनने मुंहमांगी फीस वसूल की, दूसरे कुछ दिनों बाद सफेद दांत काला हो गया। वह दूर से देखने पर टूटा मालूम होता था। देहरादून में प्रैक्टिस करने वाले एक जर्मन डेन्टिस्ट ने बतलाया कि ६० रुपये में इसको हम ढांक

सकते हैं। दांत में न जाने कैसा सीमेन्ट लगाया था कि वह काला हो गया। इस वक्त तो उसमें दर्द हो रहा था। पहले दिन डैन्टिस्ट ने आधे दांतों को साफ किया।

अस्पताल के मुहल्ले वाले सारे घर एक-मंजिला थे। चारों तरफ सड़कें घूमी हुई थीं। इसी बीच में अस्पताल के चौमंजिला और कोई-कोई पंचमंजिला मकान खड़े हैं। ऊपर चढ़ने के लिए अनेक लिफ्ट हैं। अपनी पहियादार गाड़ी में बैठ रोगी किसी जगह भी पहुंच सकता है।

२६ जुलाई को मेरी परीक्षा करने के बाद डाक्टर चेङ् ने कहा: "शायद २ अगस्त को आप यहां से बाहर जा सकें।" भारतीय मित्रों को बीमारी की बात मालूम हो गयी थी। श्री देशकर देखने के लिए आ चुके थे। आज श्री पुरुषोत्तम प्रसाद सपत्नीक और श्री अहमद सपत्नीक आये। प्रसाद जी को पेकिङ् यूनिवर्सिटी में हिन्दी पढ़ते चार-पांच वर्ष हो गये। श्री अहमद को भी कई वर्ष हो गये। दोनों की पत्नियां सुशिक्षिता हैं। उन्होंने चीनी भाषा सीखी है। श्री प्रसाद जी की पत्नी प्रेमचन्दजी की बेटी की ननद-पुत्री हैं। उन्होंने नागपुर से एम० ए० किया। विवाह जात-पांत तोड़कर हुआ है। पुरुषोत्तम प्रसाद जी त्रिपाठी हैं। उन्होंने जाति-व्यवस्था का विरोध करते हुए अपने नाम से त्रिपाठी निकाल दिया। मैंने कहा—प्रसाद से तो और जात-पांत का मोहर लग गया, क्योंकि पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में प्रसाद, सहाय और लाल पर कायस्थों का एकछत्र राज्य है। मुझे इस समय निराला जी की बात याद आयी। मैंने निराला जी से पूछ-पूछकर उनकी एक छोटी सी जीवनी लिखी थी। उसमें यह उधृत है: निराला जी की पत्नी पंडा की पुत्री थीं। उनका मांस-मछली से पुश्तैनी बैर था। उधर निराला जी कनौजिया ब्राह्मण थे, जिनके लिए मांस-मछली परमभक्ष्य है। पति-पत्नी में बहुत प्रेम था। खेद है कि पत्नी तरुणाई में ही चल बसीं। पत्नी ने महामानव से कहा—"आप मछली-मांस न खाया करें।" निराला जी ने पूछा—"इसके विरुद्ध कहीं कुछ लिखा भी है?" पत्नी की पहुंच प्रेमसागर तक थी। उन्होंने झट से कहा—"हां, प्रेमसागर में लिखा है।" महामानव ने मांस-मछली खाना छोड़ दिया। कई महीने छोड़े रहे। वजन घट गया। एक मित्र व सजातीय बन्धु ने कहा—"निराला जी आप दुबले

क्यों हो रहे हैं?" निराला जी ने कहा—"मांस-मछली छोड़ दिया है।" मित्र ने पूछा—"क्यों छोड़ दिया?" निराला जी ने कहा—"पत्नी ने कहा है कि प्रेमसागर में इसके विरुद्ध लिखा है।" मित्र ने हाथ पकड़कर कहा—"तब आप जरूर मांस-मछली खाइये।" निराला जी ने सरलता से पूछा—"क्यों? क्या इसके पक्ष में कहीं लिखा भी है?" मित्र ने बतलाया—"हां, हम कान्यकुब्जों के लिए जो सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ है, उसी 'कान्यकुब्ज वंशावली' में।"

फिर क्या था, निराला अपनी गमछी में बाजार से दो सेर मांस तौला कर घर पहुंचे। पत्नी ने कोप और आश्चर्य के साथ कहा—"यह क्या?" निरालाजी ने शांति भाव से कहा—"यह मांस है। हमारी कान्यकुब्ज वंशावली में इसे खाने के लिए लिखा है। वह हमारे लिए प्रेमसागर से भी अधिक प्रामाणिक है। ६ महीने से छोड़े हुए था, इसलिए दो सेर लाया हूं"। पत्नी बहुत रुष्ट हो गयी और बोलीं—"तो मैं अपने घड़े-चूल्हे छूने नहीं दूंगी।" निराला जी को घड़े-चूल्हे की जरूरत नहीं थी। बाहर ईंट के चूल्हे पर गोश्त बना। यह पत्नी की बर्दाश्त से बाहर था, इसलिए वह रूठकर पीहर चली गयीं।

मैंने प्रसादजीसे कहा—"निरालाजी की कान्यकुब्ज वंशावली की जात-पांत तोड़क वंशावली का प्रमाण है कि तुम अपने नाम में त्रिपाठी लगाओ। जो जात तोड़ चुका है, उसे त्रिपाठी लगने से कोई पाप नहीं लगता।" उनकी पत्नी भी मेरे मत से सहमत हुई। प्रसादजी पेकिङ् के भारतीयों में बहुत प्रिय हैं। उनका घर भारतीय क्लब सा बन गया है। अहमद प्रयाग के रहने वाले हैं। चीन के सामाजिक तथा विचार स्वातंत्र्य का प्रभाव उनकी पत्नी पर भी पड़े बिना नहीं रहा। महादीवार देखते समय उन्होंने सिर पर फैल्ट हैट लगा कर अपना फोटो खिंचवाया था।

उस दिन दन्त चिकित्सक ने देखकर बतलाया कि ठीक होने में देर लगेगी। नमाज छुड़ाने गये थे, रोजा सिर पर पड़ा। काले दांत को ढंकवाने का ख्याल था, मालूम हुआ भीतर ही भीतर उसमें घाव हो गया है। नेत्र चिकित्सक ने परीक्षा करके बतलाया कि आपका वर्तमान चश्मा काम नहीं दे सकता। दूसरा चश्मा चाहिए। उन्होंने नौ-दस दिन में

तैयार करने की बात कही, तो मुझे पसन्द नहीं आया, क्योंकि मैं चार-पांच दिन में अस्पताल के बाहर जाना चाहता था। सभी डाक्टर कार्य और व्यवहार में बड़े चतुर और सहृदय मालूम हुए। अगले दिन से आंख में चार बार दवाई डाली जाने लगी। डायबेटीज की परीक्षा करके उसका भी उपचार आरम्भ हुआ। नेत्र चिकित्सक ने बतलाया कि दूर और नजदीक दोनों के सम्मिलित लेंस न लेने हों, तो, चश्मा जल्दी बन सकता है। वह बना भी, पर पीछे अधिक दिन रहना पड़ा, इसलिए डबल लेंस वाला चश्मा बनवाया। पहले चश्मे का दाम लगा था २ युवान (४ रु.)। डाक्टरों को कालेज में अंग्रेजी की किताबें भी पढ़नी पड़ती हैं, इसलिए प्रायः सभी टूटी-फूटी अंग्रेजी बोल लेते हैं। हमारे वार्ड की इंचार्ज डाक्टर लेउ सर्-खून् थीं और नेत्र चिकित्सक डाक्टर रे। सभी परीक्षाओं की रिपोर्ट हमारी चिकित्सा फाइल में शामिल होती गयी। रक्तदाब के लिए प्रिसर्पिना की गोलियां दी जाने लगीं—सर्पगंधा औषधि हिमालय की देन है। उसके साथ-साथ भोजन को बिना नमक का कर दिया गया। अभ्यास हो जाये तो आदमी बिना नमक के भी खाने को स्वादपूर्वक खा सकता है।

३१ जुलाई को मालूम हुआ कि अभी आठ-दस दिन यहीं रहना होगा। इसके बारे में डाक्टर प्रमाण हैं, इसलिए हम क्या कर सकते थे। अमरीकी डाक्टरों की देखरेख में बने हमारे कमरों में सभी बातों का प्रबन्ध था। एक आलमारी थी और एक सिरहाने के पास कपबोर्ड। यद्यपि दो पलंग थे, लेकिन रहनेवाला मैं अकेला ही था। दो कमरों का एक सम्मिलित स्नान-कोष्ठक था, जिसमें लेटकर नहाने का प्रोसलीन टब था। कमोड भी वहीं था। गर्मी के लिए मेज का पंखा हाजिर था। चारपाई ऐसी थी कि मशीन घुमाने से उसका सिरहाना ऊपर उठ जाता था। पढ़ने के लिए मेरे पास चीन सम्बन्धी कितनी ही पुस्तकें थीं। चीन की बीस प्राचीन कहानियों का एक संग्रह "वेश्या का सिंगारदान" नाम से छपा था। इसमें हजार बरस पुरानी कहानियां थीं। उनके यथार्थवाद को देखकर मुझे आश्चर्य होता था। मैंने इनमें दस को हिन्दी में करने का सोचा था। पर मालूम नहीं, यह सोचना कभी कागज पर भी उतरेगा। शाम को दुपहिया पर अस्पताल के भीतर दूर तक घूमने जाता। बातचीत करने वाले बहुत कम

थे। भाषा की दिक्कत थी। डाक्टरों से पाव-आध घंटे बात हो जाती। एक दिन एक योरोपीय वृद्ध पुरुष से भेंट हो गयी। वह अंग्रेजों की तरह अंग्रेजी बोल लेते थे। उन्हें अस्पताल में एक साल हो गया था। हृदय की बीमारी ऐसी है कि आदमी के चेहरे पर उसका प्रभाव महाप्रयाण के अन्तिम चार-पांच क्षणों में ही दिखाई पड़ता है। देखने में विशेन महाशय भी ऐसे मालूम होते थे और मैं भी। वह अंग्रेज नहीं बल्कि स्पेन के क्रान्तिकारी थे। वहां से पूंजीवाद को खत्म करनेवाली सरकार ने जो काम शुरू किया था, उसे नाश करने के लिए इंग्लैंड और अमरीका तैयार थे। पर खुलकर मदद करने का साहस उनमें नहीं था। यह काम मुसोलिनी और हिटलर ने किया। हजारों कम्युनिस्ट और उदारवादी देश-भक्त मृत्यु के घाट उतारे गये। कुछ को अपनी जन्मभूमि छोड़नी पड़ी। उन्हीं में से विशेन परिवार भी था। उन्होंने स्पेन के बारे में बहुत सी बातें बतलायीं। वह बड़ी करुण और मनोरंजक थीं। मैंने उनकी छोटी सी जीवनी लिखने का विचार किया। आज वह नोट भी नहीं मिल रहा है। स्पेन में सामन्ती परिवार बहुत हैं। देश भी पुराना है। पर बहुत से नाम के सामन्त रह गये हैं, नहीं तो अपनी जमीन वाले किसानों जैसी अवस्था उनकी है। विशेन भी ऐसे ही एक खाते-पीते परिवार में पैदा हुए। यूनिवर्सिटी की शिक्षा प्राप्त की। इतिहास के विषय को लेकर डाक्टर हुए। साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव पड़ा, इसलिए वह राजनीतिक क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। पत्नी भी वैसी ही मिली। अन्त में क्रान्ति के असफल होने पर अपने बच्चों को साथ लिए मैक्सिको और दूसरे देशों में घूमते रहे। इधर कुछ वर्षों से पेकिङ् रेडियो पर स्पेनिश में प्रचार का काम करते हैं। पत्नी भी चीन में ही है। चीन सरकार उनका पूरा ध्यान रखती है। यहां साल भर से उनकी हृदय चिकित्सा हो रही है।

पहली अगस्त को दांत में असह्य पीड़ा शुरू हो गयी। अगले दिन वह और बढ़ी। रात को सोने के लिए इंजेक्शन लेना पड़ता। रात की जगह दिन में सोने का कार्यक्रम बना लिया। छै दिन की पीड़ा के बाद वह कम पड़ी।

डाक्टर ने बिना नमक का दो हजार किलोरी भोजन देना शुरू किया।

अस्पताल में तो सभी चीजें डाक्टर के आदेश के अनुसार बन सकती थीं। अलोनी होने पर भी वह स्वादिष्ट थीं। डाक्टर चेङ् ने बतलाया कि अधिक खाने की इच्छा हो तो कम किलोरी वाले साग आदि से पेट को पहले भर लेना चाहिए। अस्पताल के बाहर जाने पर इन नियमों का कहां तक पालन हो सकेगा, यह कहना मुश्किल है। हरेक के साथ कान में लगाने का रेडियो था। किन्तु चीनी भाषा न जानने से मैं उससे अधिक लाभ नहीं उठा सकता था। हरेक पलंग के साथ बुलाने के लिए घंटी भी लगी थी।

आदमी यद्यपि एक सीमित स्थान में रहता है, पर उसकी मानसिक दुनिया विशाल होती है। ऐसी दुनिया उसका सुख-दुख बढ़ाने में सहायक होती है। वाराणसी से न्यायाचार्य पंडित महेन्द्र कुमार शास्त्री (अब डाक्टर) का पत्र मिला। वह न्यायशास्त्र के अच्छे विद्वान हैं। बौद्ध, ब्राह्मण, जैन — तीनों न्यायशास्त्रों का उन्होंने अध्ययन किया। भारत के सर्वश्रेष्ठ नैयायिक धर्मकीर्ति ने न्यायशास्त्र पर सात ग्रन्थ लिखे थे। पांच को प्रकाश में लाने में मेरा भी हाथ था। एक (न्यायबिन्दु) पहले ही भारत में प्राप्त था। धर्मकीर्ति का प्रधान ग्रन्थ प्रमाणवार्तिक डेढ़ हजार श्लोकों का है। उसे मूल, टीकाओं, अनुटीकाओं, वृत्ति और भाष्य के साथ मैं प्रकाश में ला चुका हूं। प्रमाण-विनिश्चय उनका सातवां तथा बड़ा ग्रन्थ गद्य-पद्य दोनों में है। आचार्य महेन्द्र के ऊपर मैं सन्देह भी नहीं कर सकता था कि वह कभी तिब्बती भाषा की ओर झुकेंगे। पर ज्ञानपिपासा आदमी को कहां से कहां ले जाती है? यह सुनकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि वह तिब्बतीय के अध्ययन के साथ तिब्बती भाषा से "प्रमाण-विनिश्चय" को फिर से संस्कृत में करने लगे हैं। उसके समाप्त हो जाने पर धर्मकीर्ति की सारी कृतियां संस्कृत में आ जायेंगी।

श्रीलंका के राजदूत श्री गोपल्लवा ७ अगस्त को अस्पताल में आये। बड़ी देर तक बातचीत चलती रही। केवल सांस्कृतिक सम्बन्ध ने उनको आकृष्ट किया था। उसके बाद और भी मुलाकातें हुईं। मैंने उनको बतलाया कि चीन में भिक्षुणी संघ अब भी मौजूद हैं। लंका के लोगों ने एक बार भिक्षुणी संघ को पुनः स्थापित करने की चर्चा की थी। राजदूत भिक्षुणी बिहार देखने के लिए बहुत उत्सुक हुए। उन्होंने यह भी बतलाया

कि यदि चीन में भिक्षुणी संघ पर सप्रमाण एक पुस्तक लिखी जाये, तो हम उसे लंका में प्रकाशित करायेंगे। चीन बौद्ध संघ के उपप्रधान एक बड़े बौद्ध पंडित हैं। उन्होंने उसे लिखना स्वीकार भी किया। अगले दिन (१० अगस्त को) भारतीय दूतावास के प्रथम सचिव श्री सिंह भी मिलने आये। अन्य भारतीय बराबर ध्यान रखते रहे। शांति निकेतन के श्री बनर्जी और चीनी भाषा के अध्ययन के लिए आर्या कुमारी लतिका घोष ने भी आकर दर्शन दिये। यद्यपि मुझे अबकी हार्ट-अटैक के समय कोई दर्द नहीं मालूम हुआ था, पर उसका असर जबर्दस्त पड़ा था। बुखार या कोई दूसरी बीमारी नहीं थी, पर मैं अपने को बहुत निर्बल देख रहा था। दस कदम भी इत्मीनान से चल नहीं सकता था। मुझे यही ख्याल आता कि यहां के डाक्टर और नर्स इतने मधुर व्यवहारी कैसे हैं? सबमें यही बात क्यों पायी जाती है? इसका एक कारण यह भी है कि चीन में डाक्टरों को प्राइवेट प्रैक्टिस करने का अवसर नहीं है। उसकी जरूरत भी नहीं, क्योंकि अपने आवश्यक खर्च के लिए उनको कोई चिन्ता नहीं। न अच्छे घर के लिए, न बच्चों को पढ़ाने-लिखाने के लिए, न बीमारी या दूसरी असुविधाओं में पड़ने के लिए। वेतन में भी बहुत भेद नहीं है। चारों ओर का वातावरण ही ऐसा है जिससे आदमी का व्यवहार मधुर बन जाता है।

दांत की पीड़ा बिल्कुल खत्म हो गयी। अब घाव का कोई प्रभाव नहीं था। १२ अगस्त को खोखले काले दांत को भर दिया गया। रंग तो काला का काला ही था। उसके लिए विशेष प्रकार का खोल तैयार हुआ और १४ अगस्त को उसे चढ़ाकर काले दांत को सफेद कर दिया गया।

शिन्-चाउ होटल। १६ अगस्त को अस्पताल से मैं होटल में आया। अब की २७७ नम्बर का कमरा मिला। मेरा सामान होटल वालों ने सुरक्षित रख दिया था। कमरे को फंसाये रखना बेकार था। मेरे पहले के दुभाषिया श्री चेङ् दूसरे अतिथियों के साथ बाहर चले गये थे। अब श्री चाउ मेरी सहायता के लिए होटल में मौजूद थे। २२ दिन बाद मुझे अस्पताल जाना था, इसलिए अभी पेकिङ् से बाहर जाना हो नहीं सकता था। ८ सितम्बर तक (३ हफ्ता) यहीं रहा। कमजोरी बहुत थी। अस्पताल में तो मिलने-जुलने वाले भी थे, लेकिन होटल में हजारों आदमियों के

बीच भी मैं एकाकी था। कभी-कभी श्रीमती प्रभा त्रिपाठी, श्री देशकर या दूसरे मित्र आ जाते। १८ अगस्त को बौद्ध संघ के उपाध्यक्ष चाउ फू-छू आये। वह कई हफ्तों के लिए अपने निर्वाचन क्षेत्र मध्यचीन में चले गये थे। आगे का प्रोग्राम बन नहीं सकता था, जब तक कि अस्पताल से पुनः परीक्षा होकर छुट्टी न मिल जाये। यद्यपि दुभाषिया और कार तैयार थे, पर मुझ में चलने की शक्ति बहुत कम रह गयी थी, इसलिए अधिक साहस नहीं कर सकता था। पर होटल के कमरे में बैठे रहना भी पसन्द नहीं था।

१९ अगस्त को हम विश्वविद्यालय गये। एक मर्तबे पहिले आ चुके थे, पर विशाल विश्वविद्यालय की इमारतों में पुरुषोत्तम जी कहां रहते हैं, यह पता लगा सकना आसान नहीं था। चाउ महाशय पहले-पहल आये थे। हम इधर से उधर भटक रहे थे। इसी समय बहुत शुद्ध अंग्रेजी बोलने वाली एक चीनी महिला ने हमारी स्थिति भांप ली और कार पर चलकर हमें भारतीय अध्यापकों के भवन में पहुंचा दिया। पुरुषोत्तम जी ने और भारतीयों को भी सूचना दे दी थी। बहुत से अध्यापक और छात्र आ गये। घन्टे भर हमारी विचार गोष्ठी होती रही।

२० अगस्त हमारे लिए विशेष महत्व का दिन था। सबेरे श्री चाउ फू आये, तो मैंने उनसे कहा—"मैं जल्द ही भारत लौटना चाहता हूं। यदि प्रबन्ध हो सके, तो तुङ्-ह्वान देख लेना चाहता हूं।" वह मन से नहीं चाहते थे कि मैं इतनी जल्दी जाऊं, स्वास्थ्य का भी ख्याल कर रहे थे। पर, मैंने बहुत आग्रहपूर्वक चौबीस अगस्त को वहां से प्रस्थान करने के बारे में कहा, तो उन्होंने स्वीकार कर लिया। बीमारी शरीर को निर्बल करती है और निर्बल शरीर मन को। उसका प्रभाव मेरे ऊपर पड़ा था। इसीलिए मैंने बहुत जोर देकर श्री चाउ के सामने अपनी बात रखी थी। उनके चेहरे पर उसका जरा भी दुष्प्रभाव नहीं पड़ा। वह उसी तरह मुस्कराते बातें करते रहे। अंग्रेजी जानते हैं, अतः हमारे बीच दुभाषिया की आवश्यकता नहीं थी। वहां से वह अपने कार्यालय में गये। टेलीफोन द्वारा सिआन् के लिए हवाई जहाज में सीट रिजर्व करा ली और सिआन् वालों को तुङ्-ह्वान दिखलाने की हिदायत दी।

जब जाने का निश्चय देख लिया, तो श्री चाउ फू मेरे लिए आवश्यक पुस्तकें खरीदने के लिए चल पड़े। चौबीस पुस्तकें हमारे लिए खरीदी गयीं। मैंने अपनी पत्नी को भी आने की सूचना दे दी। पुस्तक की दूकान से आये आध ही घंटा बीता होगा कि चाउ फिर मेरे पास पहुंचे। अब की वह बहुत हंस रहे थे। उन्होंने बतलाया—"दिल्ली से हमारे दूतावास ने तार भेजा है कि आपकी पत्नी यहां आने के लिए तैयार हैं। हमारा संघ भी उन्हें निमंत्रित करना चाहता है। अब आपकी क्या राय है?" मुझे क्या राय देनी थी। सभी बदलना पड़ा। कमला, जेता, जया, नवीन चीन देख लेंगे, जेता के हाथ की चिकित्सा भी हो सकेगी। उसी समय श्री चाउ ने देहली तार भेजा, मुझे भी कहा और मैंने अपनी पत्नी को मसूरी तार दिया। एक और दिक्कत थी। हमारा पासपोर्ट सम्मिलित था, जो मेरे पास था। मैं उसी दिन भारतीय दूतावास के प्रथम सचिव श्री शंकर से मिला। शंकर जी गोरखपुर के रहने वाले हैं। वह हर तरह की सहायता के लिए तैयार थे। उन्होंने कहा कि पासपोर्ट यहां से भेजा नहीं जा सकता। लेकिन हम विदेश विभाग को जल्दी ही पासपोर्ट दिलवाने के लिए लिख रहे हैं। मैंने एक पत्र राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद को लिखा। पेकिङ्, दिल्ली, लखनऊ, चार जगहों से भुगतना था। यदि ऊपर का प्रभाव नहीं पड़ता तो पासपोर्ट मिलने में डेढ़ महीने से अधिक देर लगती।

उसी शाम को हम लंका के राजदूत श्री गोपल्लव जी से मिलने गये। वह कहीं गये हुए थे, पर उनकी पत्नी और पुत्री ने बड़ा स्वागत किया। काफी देर तक उनसे बातें होती रहीं।

उस दिन भारतीय दूतावास के कुछ मित्रों से बातचीत हो रही थी। कह रहे थे—हम हिन्दी में काम करने के लिए यहां भेजे गये हैं, लेकिन हमको अंग्रेजी का काम करना पड़ता है। भारतीय राजदूत श्री पार्थसारथी भले ही हिन्दी न जानते हों, पर बाकी तो सभी हिन्दी जानते हैं। उत्तर प्रदेश में हमारे अफसर हिन्दी जानते हुए भी अंग्रेजी में धड़ल्ले से काम करते हैं। वही बात अगर यहां भी की जाये, तो आश्चर्य क्या? यहां दूतावास का साइनबोर्ड भी अंग्रेजी और चीनी में था। चीनी लोग इन सब बातों को चाहे आश्चर्य की दृष्टि से देखें, पर भारत के प्रभुओं को

उससे क्या मतलब? बर्मी दूतावास का साइनबोर्ड केवल बर्मी और चीनी में है। यही बात दूसरे एशियाई दूतावासों की है। पर भारत तो वहां तीन लोक से मथुरा न्यारी का उदाहरण पेश कर रहा है।

मिङ् समाधि। दिल बहलाने के लिए बाहर जाते रहना सबसे अच्छा साधन है। थोड़ा चलने में थकावट होती थी, तब भी मैं जाना ही अच्छा समझता था। २१ अगस्त को मिङ् समाधि देखने गया। मंगोलों को हटाकर मिङ्-वंश ने १३६८ से १६४४ तक सारे चीन पर शासन किया। पहला मिङ् सम्राट किसी समय बौद्ध भिक्षु था। फिर उसने हान लोगों का नेतृत्व करके मंगोलों के अत्यन्त भ्रष्ट शासन को हटाकर मिङ् राजवंश (१३६८) की स्थापना की। मंगोल शासन के बारे में मैंने अपने "मध्यएशिया का इतिहास" द्वितीय खंड में काफी लिखा है। प्रथम मिङ् सम्राट की समाधि नानकिङ् में है। बाकी सभी इसी पर्वत स्थली में अलग-अलग दफनाये गये हैं। इसी कारण इस क्षेत्र का नाम मिङ् समाधि क्षेत्र है। इसके पानी को जमा कर जो विशाल जलनिधि हाल में बनी है, उसका नाम भी मिङ् समाधि जलनिधि है।

पेकिङ् से समाधि तक बहुत अच्छी सड़क गयी है। हां एक छोटी सी नदी बिना पुल की थी। उस पर एक अच्छा पुल बन रहा है। प्रायः एक मील रह जाने पर समाधि के वैभव प्रदर्शन के लिए सिंह, हाथी, ऊंट, घोड़े आदि की काफी ऊंची मूर्तियां सड़क की दोनों तरफ खड़ी मिलती हैं। उनके पहले तोरण आ जाता है। आसपास की भूमि खेती से ढंकी हुई थी। पहाड़ अर्ध चन्द्राकार हैं तथा नीचे से ऊपर तक हरे-भरे हैं। कुछ समाधियां इतने ऊंचे कृत्रिम पहाड़ों के नीचे शव को छिपाये हुए हैं, जो यदि पृष्ठभूमि के पहाड़ न होते, तो छोटी-मोटी पहाड़ी सी जान पड़तीं। हमारी कार द्वितीय सम्राट की समाधि के द्वार पर पहुंची। काफी बड़ा आंगन था, जिसमें बहुत सी कारें और बसें खड़ी थीं। रविवार का दिन होता तो बड़ी भीड़ होती। बाहर कुछ हटकर कई रेस्तरां हैं, विशाल फाटक के भीतर भी क्यूरियो तथा फोटो की छोटी-मोटी दूकानें हैं। आगे बढ़ने पर अन्तर प्रांगण मिला, जिसमें कितने ही पुराने देवदार के वृक्ष थे, साथ ही धातु की प्राकृतिक या काल्पनिक प्राणियों की कितनी

ही सुन्दर कलाकृतियां स्थापित थीं। जगह-जगह फूल भी लगे हुए थे। सभी महलों और मन्दिरों की तरह यहां भी फाटक से भीतर घुसने पर एक के बाद एक कई हाल हाल थे· इनमें या तो पुरानी वस्तुएं संगृहीत थीं या साफ-सुथरा रखकर उन्हें दिखलाया गया था। अभी इतनी चलने की शक्ति नहीं आयी थी कि मैं अन्तिम चतुश्शाला तक जाता· दूसरी बार पत्नी और बच्चों के आ जाने पर उन्हें दिखलाने ले गया, तब चतुश्शाला की सीढ़ियों को भी पार कर असली समाधि के कृत्रिम पहाड़ी के पास पहुंचा। पहाड़ी के नीचे की यह पहाड़ी भी देवदार वृक्षों तथा तृणों से ढंकी हुई है। चीन में सभी राजवंशों के सम्राटों ने अपनी-अपनी वैभवशाली समाधियों को बनवाया था, लेकिन वे या तो लुट गयीं या उत्तराधिकारी वंश ने उन्हें ध्वस्त कर दिया। पर अन्तिम मिङ्· और मंचू वंशों ने ऐसा नहीं किया, इसलिए उनकी समाधियां अक्षुण्ण हैं। इन कृत्रिम पहाड़ों के नीचे छिपी समाधियां महल जैसी हैं। पुरातत्ववेत्ता इनके भीतरी रहस्य को जानने के लिए बड़े उत्सुक थे। पिछले कुछ वर्षों में अनेक मिङ्· समाधियों में से एक की जांच-पड़ताल की गयी। दीवार मिली, दीवार को जहां-तहां से तोड़ना पसन्द नहीं किया गया। दीवार के सहारे मिट्टी को हटाते हुए दरवाजा ढूंढा गया। दरवाजे के कपाट पत्थर के थे। उनका तोड़ना आसान था, पर सुरक्षित तौर से खोलने में मेहनत करनी पड़ी। अन्त में उसे सही सहालत खोल दिया गया। भीतर एक के बाद एक कमरे थे। इनमें से कुछ के भीतर के दृश्य को देखकर आंखें चौंधिया गयीं। यह जहांगीर और शाहजहां के समकालीन राजा की समाधि थी। इससे तीन हजार वर्ष पहले मिस्र के फरवा, तूतनखामन की समाधि जैसी आंख चौंधियाने वाली यह समाधि नहीं थी। पर उसके दूसरे नम्बर पर इसी को कह सकते हैं। लकड़ी के जितने फर्नीचर या चौकियां थीं, सब गल-टूट गयी थीं, जिससे भीतर रखे बहुमूल्य प्रोसलीन, जेड या बहुमूल्य धातुओं की चीजें टूट-फूट गयी थीं, तो भी काफी अखंड मिलीं। जिस कमरे में सम्राट और उसकी दो रानियां दफनायी गयी थीं, उसका वैभव और भी अधिक था। सम्राट् के शवाधानी में सोने के तारों का मुकुट रखा था, जो पारदर्शक शीशे के समान था। वह भी सुरक्षित

मिला। इन चीजों में से कुछ की पेकिङ् के मिङ्-प्रासाद में प्रदर्शनी हुई थी। बहुत से लोगों ने उन्हें देखा। समाधि के खोलने का फिल्म भी दिखलाया गया। इससे १७वीं सदी के राजसी जीवन पर बड़ा प्रकाश पड़ता है। अब समाधि को ही म्युजियम बनाने की तैयारी हो रही है। तब इन समाधियों का आकर्षण और बढ़ जायगा।

आम तौर से दर्शक द्वितीय सम्राट की समाधि देखने जाते हैं, क्योंकि यह सबसे विशाल है। इसको भी खोलने की योजना बन गयी है। १४वीं सदी के चीन के जीवन को देखने का इससे बहुत अच्छा अवसर मिलेगा। फिर दर्शक बाहरी चीजों को देखकर ही नहीं लौटेंगे, बल्कि वे विशाल समाधि प्रासाद के कमरों को भी जाकर देखेंगे।

श्मशान-शाला। भारत मुर्दा जलाने का पक्षपाती रहा है। भारत की संस्कृति को अपनाने वाली जातियों ने भी उसकी इस प्रथा को अपनाया। जापान मुर्दा जलाता है; बर्मा, थाईभूमि, कम्बुज आदि भी मुर्दा जलाते हैं। पन्द्रहवीं सदी तक जावा और सुमात्रा के लोग भी मुर्दा जलाते थे। तब वे हिन्दू थे। पर चीन में मुर्दा जलाने की प्रथा को नहीं अपनाया गया। बौद्ध धर्मदूत किसी भी देश की संस्कृति को जरा भी क्षति नहीं पहुंचाना चाहते थे। तिब्बत में बहुजातीय विवाह प्रथा थी। बौद्ध धर्म अपनाने पर भी आजकल वहां वहीं प्रथा जारी है। चीनी बौद्ध भी जलाने की जगह गाड़े जाते हैं। तिब्बत में न जलाया जाता है और न गाड़ा जाता है। जलाने में लकड़ी का खर्च बढ़ता और तिब्बत तृण-वनस्पतिहीन पहाड़ों का देश है। इससे वहां निश्चित स्थान पर मुर्दे को ले जाकर उसे टुकड़े-टुकड़े कर गिद्धों को इस तरह खिला दिया जाता है कि एक ही डेढ़ घंटे में शरीर का कोई अंश गिद्धों के पेट में गये बिना नहीं रहता। मंचूरिया में १९३१ से १९४५ तक और बाकी चीन में उससे कुछ कम सालों तक जापान का शासन रहा। उनको अपने मुर्दों को जलाने के लिए श्मशान की आवश्यकता थी। पेकिङ् में उन्होंने एक श्मशानशाला स्थापित की। २१ अगस्त के अपराह्न में नगर के पूर्व द्वार के बाहर हम तुङ्-क्याउ श्मशानशाला देखने गये। यह कम्युनिस्ट शासन में स्थापित हुई। मार्च १९५८ में उसका उद्घाटन हुआ। कम्युनिस्ट या कोई भी विचारशील मनुष्य दफनाने

की जगह मुर्दे को जलाना पसन्द करेगा, क्योंकि यह अधिक स्वास्थ्यकर है और इसमें अधिक जगह नहीं घिरती। लेकिन दफनाने के खिलाफ जिहाद करना कम्युनिस्टों को पसन्द नहीं है। खेतों को घेरनेवाली लाखों कब्रें हटाकर किसी बेकार जगह में रख दी गयीं। पत्थर या सीमेंट की भव्य समाधियां बनाने वाला वर्ग अब खत्म हो गया। दफनाने की प्रथा चन्द दिनों की मेहमान है। श्मशानशाला में बहुत से कमरे हैं, जिनमें मृत व्यक्ति के सम्बन्धी आकर विश्राम करते हैं; या जो भी आचार-व्यवहार करना है, उसे पूरा करते हैं। सभी कमरे बहुत साफ और सुन्दर हैं। बाहर हाते में अच्छी फुलवारी लगी हुई है। देखने से किसी को सन्देह नहीं हो सकता है कि यह श्मशान है। शव को लाने के लिए विशेष प्रकार की मोटरें हैं। टेलीफोन आने में देरी लगती है, मोटर के जाने में नहीं। सम्बन्धी बस से या दूसरी तरह यहां पहुंचते हैं। दिन में दस-बारह शव जलाये जाते हैं। एक बार तीन शवों के रखने के लिए चूल्हे हैं। श्मशानशाला पेकिङ् नगरपालिका की है। वह एक शव का पन्द्रह युवान (तीस रुपया) शुल्क लेती है। दफनाने से इसमें कहीं कम खर्च पड़ता है। जिनको अच्छी स्थिति में नहीं देखती, उनसे नगरपालिका कोई शुल्क नहीं लेती। बच्चों का शुल्क तीन युवान है। मालूम हुआ कि शाङ्है में ५, सूचाउ में १ तथा दूसरी जगहों में भी कितनी ही श्मशानशालाएं बन गयी हैं। जलाने के लिए पेट्रोल इस्तेमाल किया जाता है। अभी बिजली की महंगी भट्ठी नहीं तैयार हुई है। जलने के बाद थोड़ी सी राख सम्बन्धियों को मिलती है, जिसके रखने के लिए कुछ पैसों में प्रोसलीन के कलापूर्ण डब्बे यहीं मिल जाते हैं। इन डब्बों को ले जाकर सम्बन्धी किसी समाधि में रख देते हैं। इस तरह से हजार डिब्बियां थोड़ी सी जगह में आ सकती हैं। बौद्ध ही अभी जलाने की विशेष रुचि दिखलाते हैं, क्योंकि वे अपने धर्म ग्रन्थों में पढ़ते हैं कि उनके शास्ता (गुरु) बुद्ध जलाये गये थे।

तुङ्चा राजकीय फार्म। कम्यून आने से पहले चीन की खेती राजकीय फार्म और सहकारी फार्म दो रूपों में विभक्त थी। यह चीनी भाषा-भाषी (हान्) क्षेत्र की बात है। हान्-भिन्न जातियों के क्षेत्रों में भूमि सुधार और दूसरी बातों पर उतना जोर नहीं दिया गया। उइगुर जैसी

अधिक विकसित जातियों ने अपने क्षेत्र में अवश्य ही सहकारी खेती को बढ़ाया। कम्यून स्थापित होने के बाद उनकी इधर भी प्रवृत्ति हुई। मंचूरिया में सैंया के पास एक सहकारी फार्म को हम देख आये थे, जिसके बारे में "चीन के कम्यून" में लिखा जा चुका है। २२ अगस्त तक सारे चीन में इन्हीं दो प्रथाओं का प्रचार था। मैंने तो आने पर कम्यून का नाम भी नहीं सुना था। जब मुझे मालूम हुआ कि १२ किलोमीतर पर राजकीय फार्म है, तो उसे देखने के लिए उत्सुक हो गया। सीमेंट की बहुत सुन्दर सड़क बीचोबीच कहीं को चली गयी थी। हमारी कार को वहां पहुंचने में देर नहीं लगी। इमारतों पर अपवाद रूप से ही कम्युनिस्ट अधिक खर्च करते हैं। बाहर से देखने पर यह फार्म भी बहुत प्रभाव नहीं डालता। कामचलाऊ छोटे-छोटे घर बने हुए थे। आफिस में स्वागत हुआ। संचालक ने फार्म के बारे में निम्न बातें बतलायीं। सारे काम करने वाले २५०० हैं, अर्थात परिवार मिलकर ५००० व्यक्ति। खेती पहले १६६६ एकड़ थी, अब वह ७००० एकड़ से अधिक है। बाकी भूमि आस-पास के किसानों से खरीदी गयी। यह कहने की जरूरत नहीं कि किसान भी फार्म में सम्मिलित हो गये। तीन या चार बरस पहले इस फार्म की स्थापना हुई थी। यह बेइजिंग नगरपालिका का फार्म है। यहां नगरोपयोगी चीजें पैदा की जाती हैं। प्रबन्ध के लिए इसके पांच विभाग हैं, जिनके संचालक पेकिङ् नगरपालिका नियुक्त करती है। तीन सदस्य कमकर चुनते हैं। फार्म में कमकर संघ, तरुण कम्युनिस्ट संघ और कम्युनिस्ट पार्टी के संगठन हैं। पांच विभाग हैं: दुग्धशाला, शूकर व मूषक पालन, कृषि, यातायात और मुर्गीपालन जिनमें क्रमशः ५००, ५०, ८००, ८० और ५० कमकर हैं।

सारे कमकर ८ ते (ब्रिगेड) में विभक्त हैं। सबसे नीचे का संगठन चू १५ आदमियों का होता है। चू की संख्या ३२ है। उसके ऊपर ६२ आदमियों का ते है। खेती के काम में छः ते और ७२ चू हैं। चीन की शिक्षा में अब शारीरिक श्रम अनिवार्य है। इसलिए विश्वविद्यालय और कालेज के ३०० के करीब छात्र-छात्राएं यहां किसानों की तरह काम करने आये हैं। छात्रों के लिए अलग रहने के कमरे हैं और छात्राओं के लिए

अलग। पूछने पर ही मालूम होगा कि ये किसान हैं या छात्र, नहीं तो पोशाक सबकी एक सी है, खान-पान भी एक जैसा ही है।

हमें पहले कुक्कुटशाला दिखलाने ले गये। वस्तुतः इस शाला की छत खुला आसमान था और दीवारें बांस के फट्टों की, जिनके बाहर से भीतरवाले मुर्ग-मुर्गियों को देखा जा सकता था। अनावश्यक खर्च चीन में अपराध समझा जाता है। एक अहाते में बीस हजार लघोर्न (श्वेत) जाति की मुर्ग-मुर्गियां थीं। खुली जगह में एक हजार आस्ट्रेलियन काली मुर्गियां व मुर्ग थे। लघोर्न अंडा देने में प्रसिद्ध हैं और आस्ट्रेलियन मुर्गा बहुत जल्दी वजन में भारी हो जाता है, इसलिए वह खाद्य मांस के अधिक उपयुक्त है। बांस के फट्टे की दीवार भी न खड़ी की गयी होती अगर दोनों जातियों के संकर होने का डर न होता। लघोर्न प्रति वर्ष १८० से २०० तक अंडे देती है। फी ४०-५० आस्ट्रेलियन मुर्गियों के लिए छोलदारियों जैसी तिकोनी कुटियां थीं। एक कुटी के बनाने में पांच-सात रुपये से अधिक खर्च न होगा। बस बांस की फट्टियां लगी हुई थीं। ऊपर ढलुआं छत जमीन तक पहुंचती थी। पीछे की ओर तिकोनी दीवार बना दी गयी थी। आगे की तिकोनी दीवार दरवाजे का काम करती थी। मुर्गियां-मुर्ग मैदान में चर रहे थे। वे शाम को इन्हीं तिकोने दरबों में बन्द कर दिये जाते हैं। कितनी कमखर्चीली थी वह कुक्कुटशाला? हमारे यहां पहले तो शाला के बनाने में ही हजारों रुपये खर्च किये जाते। उनकी देखभाल के लिए दो लड़कियां थीं। रात में उनके सोने के लिए वहीं मैदान में ऊंचा मचान बना हुआ था। लड़कियां यूनिवर्सिटी की छात्राएं थीं। मैंने पूछा —मुर्गियों को नुकसान करने वाले यहां जानवर तो नहीं? उन्होंने कहा— रात को दरबों में बन्द हो जाने से गीदड़ इनका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। उनको भगाने के लिए आपके पास क्या साधन है, यह पूछने पर जवाब मिला कि टार्च है, उसे दिखलाते ही गीदड़ भाग जाते हैं। मुर्गी-पालन का स्थान बस्ती से आध मील से अधिक दूर था। इस बयावान में यूनिवर्सिटी की दो षोडसियां दिन-रात रहकर अपना काम कर रही थीं। चीन के लिए आज यह बिल्कुल आश्चर्य की बात नहीं है।

मुर्गियों को औषध मिला पानी पीने दिया जाता है। खाने में गेहूं-

चावल के कण और कुछ साग भी हैं। बाहर की खुली जगह में भी उनको चुगने के लिए कुछ चीजें मिल जाती हैं। लड़कियों ने बताया, हम चार महीने यहां रहेंगी। इसके बाद अपने विश्वविद्यालय में चली जायेंगी। जाहिर है कि काम के साथ-साथ अध्यापक उन्हें पढ़ाते भी हैं।

फार्म का खेती के बाद सबसे ज्यादा ध्यान दुग्धशाला की ओर है। गोशाला में हालैंड जातीय २०० गायें घड़े-घड़े दूध देने वाली थीं। पांच सांड तो पहाड़ से मालूम होते थे। एक का वजन ३ टन (८४ मन) सुनकर आश्चर्य हुआ। इतनी गायों के लिए इतने सांड काफी से ज्यादा हैं, क्योंकि यहां कृत्रिम गर्भधारण प्रक्रिया का प्रयोग होता है। (गायों में ही नहीं, सुअरियों और समूरी चूहियों में भी)। हम जब गोशाला में गये, तो उन्हें चारा मिल रहा था। घास के अतिरिक्त टमाटर, कुम्हड़ा, बन्दगोभी भी उसमें शामिल थे। दूहने के लिए यहां मशीन का इस्तेमाल नहीं होता था। गोपाल हाथ से ही दूहते थे। पिछले नौ वर्षों में चीन ने जो उन्नति की है, वह मशीनों से नहीं हाथों से की है। चीन को हजारों वर्षों से दूध न पीने का अभिशाप है। मैंने पूछा—आपका दूध कहां जाता है? उन्होंने बताया—पेकिङ् के अस्पतालों, होटलों और शिशुशालाओं में दूध की मांग ज्यादा है। हमें गायों की संख्या बढ़ानी पड़ेगी। चीन में सनातन धर्म न टूटे, यह कैसे हो सकता है? उन्हें दुग्धपायी होना पड़ेगा। बछड़ों के बारे में बतला रहे थे कि वे बाछियों से कम पैदा नहीं होते। उन्हें किसान ले जाते हैं। इतनी बड़ी गोशाला में एक भी मक्खी न दीखना, आश्चर्य की बात थी।

हम महामूषकों की १९५७ में स्थापित शाला में गये। यह नेवले से भी बड़े मोटे-मोटे चूहे साइबेरिया से लाये गये थे। एक चूहे की खाल का दाम २०० रुपया आसानी से मिल जाता है। फिर पालने की ओर फार्म का ध्यान क्यों न जाये? ये वही समूरी चूहे थे, जिनकी खाल के कोट वजन में सोने से भी मंहगे होते हैं। प्रसव में चूहियां सूअरों को भी मात करती हैं। सूअरियां साल में दो बार ब्याती हैं। चूहियां साल में तीन बार ब्याती हैं और नौ-नौ बच्चे देती हैं। मूषकशाला में ऊपर छत थी, जिसकी छाया में सीमेंट के घरौंदे बने हुए थे। हरेक घर में पानी का छोटा सा

हौज बनाना बहुत जरूरी था। समूरी चूहे पानी बहुत पसन्द करते हैं। आम तौर से चूहे कभी-कभी ची-ची बोलते सुनाई देते हैं, पर समूरी चूहे आकार में बड़े हैं। इनकी आवाज ज्यादा तेज होती है। आदमियों के सम्पर्क में रहने के कारण इनमें डर नहीं है। सीमेंट की दीवार इतनी ऊंची है कि उसे फांदकर वे बाहर नहीं निकल सकते। इस समय चूहों की १६० कुटियां थीं।

फिर शूकरशाला देखने गये। यहां मक्खियों ने हद कर दी थी। सारा चीन मक्खियों से शून्य है, पर यहां हजारों मक्खियां कैसे आ गयीं? विश्वविद्यालय के छात्र-छात्राएं इनको देख रहे थे। मैंने पूछा तो एक चश्माधारी छात्र ने बतलाया—हमने तो डी. डी. टी. का भी बहुत इस्तेमाल किया, आप कोई उपाय बतलाइये? तब पेकिङ् के पास सहकारी फार्म की शूकरशाला मैं नहीं देख सका था, नहीं तो जरूर बतलाता। वहां पाखाना करते ही उसे ढांककर रख दिया जाता है। एक भी मक्खी मैंने वहां नहीं देखी और न दुर्गन्ध ही। यहां दोनों बातें थीं। जान पड़ता है कि विश्वविद्यालय के बुद्धिजीवी छात्र जीवन का आलस्य कुछ यहां भी पहुंच गया था। पाखाना जहां का तहां पड़ा था। पाखाना का ढेर भी थोड़ी दूर पर खुला रखा था।

शूकरशाला में ५०० शूकरियां थीं। प्रायः सभी आरंभ में सोवियत रूस लायी गयी थीं। एक सूअरी के १५ बच्चे हमने देखे। मालूम हुआ, २२ बच्चे तक देती हैं। बच्चे बहुत समय तक रखे जायें, तो रहने की समस्या खड़ी हो। इसलिए दो महीने होने पर वे बेच दिये जाते हैं। तब भी उनका वजन दस सेर से ऊपर हो जाता है। तीन महीने रहें तो बीस सेर तक पहुंच जायें। दाम अधिक जरूर मिलेगा। चीन में हमेशा शूकर-मांस बहुत पसन्द किया जाता रहा है। आज तो मांस की आवश्यकता पूर्ण करने के लिए सबसे बढ़िया साधन शूकरशाला है, जिसे तेजी से बढ़ाया जा रहा है। शूकरशाला में १४ आदमी काम कर रहे थे। सूअरों को गेहूं, चावल के कण या आटे और कई तरह के साग एवं मूंगफली की खली दी जाती थी। उनको वे बाहर चराने नहीं ले जाते थे, यद्यपि बाहर बहुत सी जमीन पड़ी हुई थी।

फार्म के खेत बहुत दूर तक फैले हुए थे। जोतने के लिए उसके पास १४ ट्रैक्टर, कटाई-दवाई के लिए २ कम्बाइन हैं। फार्म के पास ५ ट्रक, १ जीप और एक कार भी हैं।

वेतन कमकरों को ३२ से ६४ युवान मासिक दिया जाता है। दुग्धशाला के कमकरों को ४० से ८० युवान और संचालक को १३० युवान मिलता है।

रसोईखाना देखने गये, जहां ६०० आदमियों का भोजन बनता था। बाकी अपने घरों में खाना खाते थे। मांस-मछली बिना भरपूर भोजन के लिए नौ से बारह युवान (१८ से २४ रुपया) मासिक देना पड़ता था। इसमें चावल, मोमो, सब्जी और सूप तीन बार का भोजन शामिल था। खेती में ३४ एकड़ बाजरा, १०० एकड़ मक्की, १०० एकड़ आलू, ५० एकड़ साग और बाकी गेहूं था। फलदार वृक्ष भी लगे हुए थे जिनमें अंगूर की लताएं भी थीं। मनोरंजन के लिए सभी साधन मौजूद थे। नृत्य-गीत और नाटक का प्रबन्ध था। प्रति सप्ताह सिनेमा दिखाया जाता था। चिकित्सा के लिए ५ डाक्टर और २१ नर्सें थीं। बच्चों के लिए शिशुशालाएं भी थीं, पर विद्यालय फार्म से बाहर के गांव में थे।

अपराह्न में कैथलिक गिरजा तुङ्-थाङ् देखने गया। यह पत्थर की विशाल इमारत है। सत्रहवीं शताब्दी में इटालियन जेसुइत साधुओं ने इसकी स्थापना की थी। यह पचास साल पहले जल गया था। तब यह नई पत्थर की इमारत बनायी गयी। कला के लिए लकड़ी अधिक उपयोगी है। इसीलिए चीन-जापान में मन्दिरों के बनाने में लकड़ियों का अधिक उपयोग होता है। कैथोलिक बिशप की आयु ६० बरस की थी। उन्होंने कई बातें बतलायीं। चीन में अब कोई विदेशी कैथलिक मिशनरी नहीं है। सभी चीनी साधु, साधुनियां धर्मप्रचार का काम करते हैं। बिशप के अधीन २३ गिरजा, ३० से ७५ उमर के ८० साधु, १०० साधुनियां और २० हजार भक्त हैं। शाङ्-है के बिशप-क्षेत्र में ५०,००० भक्त हैं। अपने गिरजे के बारे में बतलाया: १९५० में जहां इतवार के दिन २०० भक्त यहां आते थे, वहां अब औसत ३०० की है। शाङ्-है से कैथोलिक सम्प्रदाय का एक साप्ताहिक पत्र निकलता है। धार्मिक पुस्तकें तो बराबर प्रकाशित हो रही हैं। मिशन का सारा काम भक्तों की सहायता से चलता है। पर इमारतों

की मरम्मत या दूसरे कामों के लिए सरकार भी मुक्तहस्त हो सहायता देती है। कैथोलिक संप्रदाय के निरन्तर विरोधी प्रचार के कारण कभी उनका कम्युनिस्टों के प्रति दुर्भाव जरूर रहा होगा, पर अब चीनी कैथोलिक समझते हैं कि "धर्म और राजनीति को मिश्रित करना अच्छा नहीं। धर्म में कोई रुकावट नहीं। सरकार के लोकहितकारी कम्युनिस्ट प्रोग्राम में सहायता देना हमारा कर्तव्य है।"

पांचवीं-छठी सदी में ही नस्तोरीय इसाई साधु चीन पहुंचे थे। वे बहुत बातों में बौद्ध भिक्षुओं से मिलते-जुलते थे। दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध कितना घनिष्ठ था, यह इसीसे मालूम होगा कि जब दसवीं-ग्यारहवीं सदी में मुस्लिम विजेताओं ने धर्म के नाम पर सिङ्-क्याङ् में खून की नदियां बहायीं, तो उस समय बौद्ध और नस्तोरी साधुओं ने साथ-साथ तलवार के सामने अपने सिर रख दिये थे। बचे-खुचे भिक्षुओं को जब सिङ्-क्याङ् छोड़ने में ही खैरियत मालूम हुई (और उनके लिए बचने का ऐसा स्थान पास ही में लदाख मौजूद था), तो वे अपने नस्तोरीय बन्धुओं को भी साथ ले गये। ये साधु टांगचे के पास अपना मठ बनाकर जीवन भर रहे। उनका क्रास (सलेब) स्मारक के तौर पर वहां रह गया। १९वीं सदी के अन्त में उसके दीखने पर इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिल रहा था कि यह नस्तोरी क्रास १४,००० फीट की ऊंचाई पर कैसे आ गया? पर उत्तर मिलने में देर नहीं लगी। बौद्ध और नस्तोरी साधु अपने को भाई-भाई समझते थे। दोनों सिङ्-क्याङ् से भागकर यहां आये थे। मैं नस्तोरी साधुओं के बारे में अधिक जानना चाहता था। इसी आशा से बिशप से उनके बारे में पूछ बैठा। पर उनको नस्तोरीय नाम भी नहीं मालूम था।

वहां से अर्थोडौक्स गिरजा देखने गया। इसाई धर्म के दो मुख्य सम्प्रदाय हैं। कैथलिक और अर्थोडौक्स। कैथलिक का अर्थ सुधारवादी है। कभी यह सम्प्रदाय सुधारवादी रहा होगा, पर आज तो इससे बढ़कर कट्टरपंथी कोई इसाई सम्प्रदाय नहीं है। अर्थोडौक्स का मतलब सनातनी है अर्थात् जो सुधार को न माने। रूस, बलगारिया, उक्रइन, बैलोरूस आदि की स्लाव जातियां अर्थोडौक्स सम्प्रदाय की मानने वाली हैं। एक समय सारा पश्चिमी योरप रोमन कैथलिक था, पर बाद में उसमें प्रोटेस्टेंट

सम्प्रदाय पैदा हुआ, जो संख्या और प्रभाव में बहुत बढ़ गया। इंग्लैंड प्रोटेस्टेंट देश है और अमरीका भी। इस सम्प्रदाय के संस्थापक मार्टिन लूथर जर्मन थे। जर्मनी में इस सम्प्रदाय का बहुत प्रभाव है। चीन से रूस का सम्बन्ध सबसे पुराना है। १६६५ ईसवीं में रूसियों ने पेकिङ् में अपना अर्थाडॉक्स गिरजा स्थापित किया। पहले यह गिरजा रूसी दूतावास के भीतर था। राजनीति और धर्म के पृथक्करण के कारण दूतावास से गिरजे को पृथक किया गया। अब वह जिस स्थान में अवस्थित था, वहां हम उसे देखने गये। ८० वर्ष के साधु चाउ इसके बिशप थे। उनके सहायक एक ६३ वर्षीय विद्वान थे। ४० वर्ष से ८० वर्ष तक के नौ साधु यहां रहते हैं। पेकिङ् में इस सम्प्रदाय के मानने वाले दो हजार चीनी हैं। गिरजा बहुत विशाल नहीं था। उसके भीतर निकोलाय, माता मरिया आदि की मूर्तियां थीं। थ्यान्चिन में भी इस सम्प्रदाय का गिरजा है। शाङ्है में दो गिरजे हैं, जिनमें चार साधु रहते हैं। हरबिन में १४ गिरजे हैं, जिनमें ५ को छोड़ बाकी रूसियों के हैं। सनीचर का दिन था। शायद किसी पर्व की तैयारी हो रही थी। दो रूसी महिलाएं भी भाग ले रही थीं। मैंने अधिक समय लेना नहीं चाहा। बिशप और उनके सहकारी दोनों अच्छी रूसी बोल लेते थे। सोवियत के साथ उनकी सहानुभूति थी, यह तो बिशप के कमरे में रखे लेनिन के चित्र से ही मालूम हो रहा था।

जन-दैनिक। रेन्-मिन्-रिबउ का अर्थ लोकदैनिक है। रेन् का अर्थ मनुष्य है, मिन् बहुवचन का प्रत्यय है — यानी जनता। यह सबसे अधिक प्रभावशाली तथा प्रसार संख्या में भी सबसे बड़ा दैनिक पत्र है। इसके बारे में मुझे जानने की इच्छा हुई। २५ अगस्त को मैं उसके विशाल भवन में गया। पत्र का आरंभ १६४६-४७ में हान्तान् नगर से "चिन्छाची" के नाम से दैनिक के तौर पर हुआ था। होपे प्रदेश का नगर होने से यह इसी प्रदेश का पत्र था। १६४६ में यह चङ्-च्याखौ नगर में "चिन्चीलाइ" के नाम से निकाला गया। उस समय इसकी ग्राहक संख्या ६,००० से अधिक नहीं थी। भारतीय पत्रों की तुलना में तो यह संख्या भी काफी थी। दोनों पत्र कुओमिन्तांग की ओर से निकाले गये थे। १६४८ में दोनों को एक करके "हवापे-रिबउ" के नाम से फिन्शान् से, फिर पेकिङ् से निकाला

गया। कम्युनिस्ट शासन के बाद "ह्वापे-रिबउ" के प्रेस आदि कम्युनिस्ट पार्टी के हाथ में चले आये। घर भी जीर्ण-शीर्ण था और प्रेस की भी हालत वैसी ही थी। अब "रेन्-मिन्-रिबउ" के नाम से पत्र प्रकाशित होने लगा। १६४६ में ग्राहक संख्या ४० हजार थी, वह और बढ़ने लगी। घर अपर्याप्त था। इसलिए विशाल इमारत बनायी गयी, नयी प्रेस मशीनें लायी गयीं। १६५७ में अत्यन्त आधुनिक पंचमंजिली इमारत बनकर तैयार हुई। १६५६ तक यह पत्र चार बड़े पृष्ठों का निकलता था और मूल्य ५ सैन्ट था। १६५७ में यह आठ पृष्ठ का हो गया और मूल्य ७ सैन्ट कर दिया गया। आजकल इसकी ग्राहक संख्या साढ़े आठ लाख है, जिसमें ६५ प्रतिशत ग्राहक पैकिङ्-के हैं। यह आठ पृष्ठ का निकलता है, पर पार्लियामेन्ट के अधिवेशन, स्वतन्त्रता महोत्सव आदि के दिनों में इसके विशेष संस्करण निकलते हैं। यहां से मैट्रिस (कम्पोज किये हुए कागज पर उभरे अक्षरों में सारा मैटर) विमानों द्वारा शाङ्-है, क्वाङ्-चाउ (कान्तन), सिआन, सैयां (मुकदन), छन्तू, हुकिङ्, उरूम्ची नगरों में भेज दिये जाते हैं। इन नगरों में उसे छापकर स्थानीय नगरों, गांवों और कस्बों में भेजा जाता है। यह संख्या उपरोक्त संख्या में सम्मिलित नहीं है।

सम्पादकीय विभाग के दो सज्जनों ने हमें इस पत्र के बारे में जानकारी दी। वे प्रेस दिखाने ले गये। चीन ने रोमन लिपि को स्वीकार किया है। लेकिन अभी वह सबसे निचली श्रेणी में प्रविष्ट हुई है। सार्वत्रिक प्रचार में आठ-दस वर्ष लगेंगे। चीनी भाषा में पुस्तकें या अखबारों के छापने के लिए दसियों नहीं, बीसियों हजार टाइपों की जरूरत होती है, क्योंकि उसमें हर शब्द का एक अक्षर होता है। इतने अधिक अक्षरों का कम्पोज करना जल्दी नहीं हो सकता। टाइपों के खाने भी एक पूरी कोठरी को घेरते हैं। यह जरूर है कि चीनी में कम जगह में बहुत बातें छापी जा सकती हैं। जापान में आविष्कृत मोनो टाइप को भी हमें दिखाया गया। इसमें सबसे अधिक प्रचलित २,६०० अक्षरों का की-बोर्ड है। आविष्कार प्रशंसनीय है। यह आठ पाइन्ट के अक्षरों को मोनो टाइप में ढालता है। पर २,६०० अक्षरों से ही काम नहीं चल सकता, इसलिए बाकी अक्षर हाथ से कम्पोज करने पड़ते हैं। प्रेस में पूर्वी जर्मनी की बनी रोटरी लगी हुई थी। चीन अब बहुत

तरह के प्रेस बनाने लगा हैं। रोटरी बनाना भी उसके लिए मुश्किल नहीं है। इस रोटरी से तीन घंटे में "रेन्-मिन्-रिबउ" की साढ़े आठ लाख प्रतियां छपकर, मुड़कर और कटकर तैयार हो जाती हैं। इसी प्रेस से और भी दैनिक, अर्ध-साप्ताहिक, साप्ताहिक, मासिक, द्वैमासिक, त्रैमासिक कई पत्र निकलते हैं। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी का मुखपत्र और प्रेस होने से यहां से बहुत सी पुस्तकें भी छपती हैं। मुद्रण विभाग में ३०० आदमी काम करते हैं। उसमें एक पाली होती है। सम्पादकीय विभाग में २००, कार्यालय में २००, सब मिलाकर प्रेस में ८०० आदमी काम करते हैं। प्रधान सम्पादक उ तान्-सी हैं और संचालक तङ्-थाउ। पत्र के आठों पृष्ठों में से प्रथम, द्वितीय और तृतीय पृष्ठों पर बड़े महत्व के संपादकीय लेख होते हैं। इन्हें कभी-कभी हमारे यहां के पत्र भी अंशतः उद्धृत करते हैं। चौथे और पांचवें पृष्ठ पर विशेष लेख होते हैं। छठे से आठवें पृष्ठ पर विभिन्न लेख। विषय के अनुसार निम्न क्रम होता है: १. समाचार, २. कृषि, ३. उद्योग, ४.—५. वैदेशिक समाचार, ६. राजनीति, ७. शिक्षा, ८. संस्कृति-प्रचार। विज्ञापन नाममात्र को छठे-सातवें पृष्ठ पर दिये जाते हैं।

मैंने उनसे जब टाइपों की दिक्कत बतलायी, तो उन्होंने कहा कि हम रोमन लिपि स्वीकार कर चुके हैं। इस पर मैंने कहा: "आपकी स्वीकृति से जो गति प्राप्त हुई है, उसमें दस-पन्द्रह बरस लग सकते हैं।" उन्होंने कहा: "हमारे पत्र पर नाम आप रोमन लिपि में भी छपा देखेंगे।" सचमुच "रेन्-मिन्-रिबउ" रोमन अक्षरों में उस पर छपा रहता है। पेकिङ् की बहुत सी दूकानों पर रोमन लिपि में नाम अंकित है। मैंने कहा कि अगर इसका जल्दी प्रचार करना चाहते हैं, तो सभी स्टेशनों के नाम भी रोमन लिपि में लिखवा दें।

२६ अगस्त को अल्पजातिक प्रकाशन गृह में गया। यहां पर चीन के भीतर रहनेवाली ह्यान-भिन्न जातियों की भाषाओं में पुस्तकें छपती हैं। यहां से अब तक ३०० पुस्तकें तिब्बती भाषा में निकल चुकी हैं। उनमें से कुछ बड़ी-बड़ी जिल्दें हैं। वहां हमें तिब्बती भाषा-भाषी विद्वान भी मिले। श्री चाउ के दुभाषियेपन का लाभ चीनी लेखकों से बोलते वक्त ही लेना पड़ा। बतलाया गया कि तिब्बती पुस्तकों का सबसे अधिक प्रचार अम्दो

(चिङ्-हैं) प्रदेश में है। उसके बाद खम का नम्बर आता है। तिब्बत में शिक्षा का प्रचार जैसे-जैसे बढ़ रहा है, वैसे-वैसे वहां से पुस्तकों की मांग भी बढ़ रही है। तिब्बती भाषा के अतिरिक्त मंगोल, उइगुर, कज़ाक, कोरियन आदि भाषाओं में भी प्रकाशन होते हैं। ली महाशय ने बतलाया कि जल्दी ही हम च्वाङ्, थाई, लीसू (युन्नन्), खावा (यूनन) भाषाओं को भी ले रहे हैं। इस विशाल इमारत में सम्पादन और अनुवाद करने वाले ३०० कर्मी हैं। प्रेस अलग स्थान पर है। वहां भी ३०० आदमी काम करते हैं। उन्होंने तिब्बती के अपने बहुत से प्रकाशन दिये, जिनमें मंचू-काल में आज से दो-ढाई सौ वर्ष पहले प्रकाशित पांच भाषाओं (मंचूरी, मंगोली, उइगुरी, तिब्ब्ती, हान्) के कोश के तीन जिल्द भी शामिल थे। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी का सैद्धान्तिक मुखपत्र "लालझंडा" चीनी के अतिरिक्त मंगोल, उइगुर और तिब्बती भाषाओं में भी निकलता है। मुझे अपने "तिब्बती-हिन्दी कोश" के लिए नये पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता थी। "लाल झंडा" के कितने ही अंकों से मुझे बड़ी सहायता मिली। तिब्बती विद्वानों में प्रमुख को मेरा नाम मालूम था। उन्हें यह सुन कर आश्चर्य हुआ कि ग्यगर (भारतीय) पंडित राहुल मैं ही हूं। उन्होंने फिर आने का निमन्त्रण दिया। मैंने वचन दिया, पर जा नहीं सका।

२७ अगस्त को जातीय अल्पमत संस्थान देखने के लिए नहीं, बल्कि प्रोफेसर वाङ् से मिलने गया। वह बड़े नम्र और सरल वयोवृद्ध पुरुष हैं। बौद्ध दर्शन और चीनी साहित्य के वह बहुत बड़े पंडितों में हैं। तिब्बती भाषा भी जानते हैं और संस्कृत भी। मैं शायद संस्कृत या तिब्बती में बातें करता, लेकिन पढ़-लिख लेने और बोलने में अन्तर है। दो घन्टे से अधिक हमारी बातचीत होती रही। उन्होंने बतलाया कि वे तिब्बत का इतिहास लिखने में लगे हुए हैं।

शिक्षा मंत्रालय। चीन में शिक्षा प्रचार की प्रगति कैसे हुई, इसे जानने के लिए शिक्षा मंत्रालय से अधिक बतलाने वाला कौन हो सकता था! २७ को अपराह्न में हम शिक्षा मंत्रालय गये। वहां प्रारम्भिक शिक्षा अधिकारी कौलिङ्, उच्चतर माध्यमिक शिक्षा अधिकारी तिङ्-तिङ् तथा एक और उच्च अधिकारी मिले।

मालूम हुआ कि १९५७ में प्राइमरी स्कूलों में अध्यापकों को ५० से १८० युवान और हाई स्कूलों में ६० से १८० युवान तक वेतन मिलता था। प्राइमरी स्कूलों के ६ क्लासों के पाठ्य घंटे (प्रति सप्ताह) का विवरण निम्न प्रकार है:

विषय	१	२	३	४	५	६ कक्षा
लेख-पाठ	१२	१२	१२	१२	१०	१० घंटा
गणित	६	६	६	६	६	६ „
सामान्य ज्ञान					२	२ „
भूगोल					२	२ „
इतिहास					२	२ „
ड्राइंग	१	१	१	१	२	२ "
व्यायाम	२	२	२	२	२	२ „
गान	१	१	१	१	१	१ „
रेखांकन	१	१	१	१	१	१ „
साप्ताहिक सभा	१	१	१	१	१	१ „

इस प्रकार पहली चार कक्षाओं में बच्चे सप्ताह में २४ घंटे पढ़ते हैं, पांचवी-छठी में २८ घंटे। पहली कक्षा में लड़के ६०० अक्षर सीखते हैं। छठी में ३,६०० अक्षरों से परिचय हो जाता है। यहीं अंकगणित की समाप्ति हो जाती है। भूगोल में चीन और एशिया का भूगोल समाप्त हो जाता है। इतिहास में प्राचीन इतिहास के साथ अफीम युद्ध के बाद के चीन के इतिहास को विशेष तौर से पढ़ाया जाता है। समस्त चीन में सभी पुस्तकें तमाम जातियों के लिए प्रायः एक सी होती हैं। हां, कृषि सम्बन्धी पुस्तकें प्रादेशिक विशेषता के अनुसार होती हैं।

माध्यमिक स्कूल निम्न और उच्च दो भागों में बंटे और चार साल के होते हैं। इसकी प्रथम कक्षा में लेख-पाठ, गणित, बीजगणित, ज्यामिति, प्राचीन चीनी इतिहास, समाजवाद, चीन का प्राकृतिक भूगोल, प्राणिवनस्पति, उत्पादक श्रम आदि पाठ्य-विषय हैं। उत्पादक श्रम के लिए लड़के को

प्रति सप्ताह चार घंटा जमीन खोदने और खेत जोतने आदि का श्रम करना पड़ता है। गांव में विद्यार्थियों को आधा समय काम करना पड़ता है। आठवां विषय है विदेशी भाषा। रूसी और अंग्रेजी पढ़ायी जाती है। पेकिङ् के विद्यार्थियों में ७० प्रतिशत द्वितीय भाषा के रूप में रूसी पढ़ते हैं। नौवां विषय व्यायाम है, दसवें में गाना आता है। ग्यारहवें में ड्राइंग।

मैंने निम्न माध्यमिक की आठवीं और उच्च माध्यमिक की नवीं कक्षा को छोड़कर दसवीं कक्षा के बारे में पूछा। दसवीं कक्षा में विद्यार्थियों के विषय हैं: १. लेख-पाठ, २. गणित (बीजगणित, अंकगणित, ठोस ज्यामिति), ३. इतिहास, ४. समाजवाद, ५. आर्थिक-राजनीतिक भूगोल, ६. प्राणिशास्त्र, ७. भौतिकी (फिजिक्स), ८. रसायन, ९. उत्पादक शारीरिक श्रम, १०. विदेशी भाषा, और ११. व्यायाम।

उच्च माध्यमिक की बारहवीं कक्षा के बारे में पता लगा कि उसमें कृषि और भूगोल को छोड़कर सभी पहले के विषय उच्चतर स्तर पर पढ़ाये जाते हैं। परीक्षा के लिए हमारे यहां की तरह वहां पुलिस सरगर्मियों की जरूरत नहीं होती, न नकलचियों को पकड़ने की नौबत आती, न प्रश्न पत्र छपाकर दूर-दूर तक भेजने की जरूरत पड़ती है। अधिकतर प्रश्न मौखिक होते हैं। साहित्य आदि के बारे में उत्तर लिखकर भी दिये जाते हैं। स्कूलों में बारहवीं कक्षा पास करके भी विश्वविद्यालय में दाखिल होने के लिए योग्यता की परीक्षा फिर से ली जाती है, लेकिन वह मौखिक सी ही होती है। विश्वविद्यालयों के बारे में मालूम हुआ:

संख्या	छात्र	अध्यापक
२२६	४,४०,००,०००	२२,०००

विश्वविद्यालय के प्रोफेसर ४०० से ५०० युवान तक पाते हैं। पेकिङ् यूनिवर्सिटी के गणित के प्रोफेसर हुआ-लो-काङ् १,२०० युवान मासिक पाते हैं। मेधावी छात्रों को विशेष छात्रवृत्ति देने का रवाज नहीं है। हां, पढ़ने की सुविधाएं अवश्य उन्हें पूरी मिलती हैं।

अब तो जहां कम्यून बन गये हैं, वहां शिक्षा अपने प्रचार की पराकाष्ठा पर पहुंच गयी है। कोई भी विशेष या उच्च शिक्षा चाहने वाला व्यक्ति

उससे वंचित नहीं रह सकता। कम्यून ने शिक्षा को भी भोजन-वस्त्र की तरह निःशुल्क बना दिया है।

मैडिकल कालेज। २८ अगस्त को हम पेकिङ् मैडिकल कालेज देखने गये, जो नगर से १६ किलोमीतर दूर है। संस्थाओं को नगर से १०-१२ मील बाहर रखना चीन के लिए मामूली बात है। वहां विस्तार के लिए बहुत सी खुली जगह मिल जाती है। बसों के कारण यातायात की कोई कठिनाई नहीं होती। संस्था के साथ ही कर्मियों और छात्रों के लिए होस्टल होते हैं। इस कालेज की स्थापना प्रथम विश्व युद्ध के समय १६१५ में हुई थी। पुराने युग में यह कालेज चींटी की चाल से बढ़ता रहा। कम्युनिस्ट शासन के बाद सारी जनता के स्वास्थ्य की ओर खयाल गया, इसलिए मैडिकल शिक्षा की ओर सरकार को विशेष ध्यान देना पड़ा। १६५५ में कालेज अंशतः शहर से यहां लाया गया। प्रथम, द्वितीय और तृतीय वर्ष की पढ़ाई यहां होती है। अनेक पंचमंजिले-चौमंजिले महल खड़े हैं और बनते ही जा रहे हैं। प्रगति के बारे में यही कहना काफी है कि १६५२ में जहां ५०० छात्र थे, वहां १६५७ में ३,२०० हो गये और १६५८ में मेरे जाने के समय ३,८०० थे। पांचों क्लासों में से प्रति क्लास में ७०० से अधिक छात्र थे। छात्राएं भी संख्या में छात्रों के बराबर थीं। अल्पजातिक लोगों के २२ छात्र यहां पढ़ते हैं। हरेक छात्र को साढ़े बारह युवान (२५ रुपया) मासिक छात्रवृत्ति मिलती है, जो भोजन के लिए पर्याप्त है। आवश्यकता होने पर कपड़े भी मिल जाते हैं। आरम्भिक तीन श्रेणियों में औषध, जनस्वास्थ्य, औषधि निर्माण और दन्तचिकित्सा पढ़ायी जाती है। बाकी दो ऊंची श्रेणियां नगर में हैं। नगर के अस्पताल में २,४०० चारपाइयां हैं और यहां ४४०। बीमारों के रहने के लिए घर बन रहे हैं। श्री हू च्वाङ् कालेज के कुलपति (रेक्टर) हैं। अध्यापकों की संख्या और वेतन निम्न प्रकार है:

	संख्या	मासिक वेतन (युवान)
प्रोफेसर, सहायक प्रो.	७०	१८०—३४०
लैक्चरर (व्याख्याता)	७०	१४०—१८०
सहायक लैक्चरर	२०	४०—१४०

पहले बताये हुए ढंग से मालूम होगा कि चीन में हाई स्कूल की पढ़ाई १२ क्लासों की है। उसमें जो विषय पढ़ाये जाते हैं, वे हमारे यहां के एफ्. ए. से अधिक हैं। हाई स्कूल से पास लड़के-लड़कियां यहां आकर प्रवेश परीक्षा देते हैं, जिनमें विज्ञान की योग्यता को विशेष तौर से देखा जाता है। मैडिकल कालेज में रूसी और अंग्रेजी भाषाओं का भी ज्ञान कराया जाता है, ताकि आगे चलकर वे इन भाषाओं की पुस्तकों का उपयोग कर सकें। वे इन भाषाओं में बोल नहीं सकते, सिर्फ पढ़ने-समझने की योग्यता रखते हैं।

हर साल १ सितम्बर को रूस की सभी शिक्षण संस्थाओं की तरह यहां भी पढ़ाई आरंभ होती है। पढ़ाई के दो सत्र हैं: पहला जनवरी के अन्त में समाप्त होता है और दूसरा जून के अन्त तक। दोनों सत्रों की समाप्ति पर परीक्षा होती है और उन्हीं के परिणाम को देखकर छात्रों को उत्तीर्ण किया जाता है। छुट्टी जाड़ों में दो सप्ताह और गर्मियों में आठ सप्ताह की होती है। रूस की तरह यहां भी परीक्षा का पूर्णांक ५ है। पास होने के लिए ३ अंक मिलना आवश्यक है। परीक्षाएं प्रायः सभी मौखिक होती हैं। रूस में परीक्षार्थी अपनी पुस्तकों को परीक्षा के समय ला सकते हैं, वह बात यहां नहीं है। कालेज के ही प्रोफेसर परीक्षा लेते हैं। एक छात्र की परीक्षा में आधा घंटा लग जाता है। एक या दो विषय में अनुत्तीर्ण होने पर दो सप्ताह बाद फिर उसी विषय में परीक्षा ली जाती है। ध्यान फेल करने की ओर नहीं, बल्कि पास करने की ओर रहता है।

उपकुलपति छू चिन ने बतलाया कि हमारे छात्रों में अभी २० प्रतिशत ही किसान और मजूर वर्ग से आये लोग हैं। बाकी सभी बुद्धिजीवी मध्यम वर्ग के हैं। सारे देश में ४० से अधिक मैडिकल कालेज हैं। शाङ्-है में २, ध्यान्-चिन् में २, प्रत्येक प्रदेश में १ या २ मैडिकल कालेज हैं।

हम भोजनशाला देखने गये। रसोइये सिर्फ साग-भाजी और मछली-मांस लेकर बैठे थे। चावल, तीन प्रकार के मोमो ढंककर बर्तनों में गरमा-गरम रखे थे। छात्र स्वयं उनमें से अपनी आवश्यकता के अनुसार निकाल लेते। वहां आठ प्रकार की शाक-भाजी, मांस और मछली थीं। यह

निश्चित है कि मांस-मछली छात्र रोज-रोज नहीं खा सकते, लेकिन वह समय भी दूर नहीं जब इनका भी रोज-रोज के लिए प्रबन्ध हो जायगा।

छात्रावास तिमंजिले और अनेक हैं, जो छात्रों और छात्राओं के लिए अलग-अलग हैं। प्रत्येक कमरे में छै बिस्तरे हैं, जो तीन-तीन के हिसाब से ऊपर नीचे लगे हैं। कमरे बहुत साफ सुथरे हैं। चारपाइयों के ऊपर-नीचे होने से अधिक छात्रों के लिए जगह निकल आती है। हमारे यहां ऐसा करके छात्रवासों में छात्रों की संख्या दूनी की जा सकती है, पर ऐसा क्यों किया जाये? हमारा देश बहुत धनी है और चीन बहुत गरीब, इसलिए मितव्ययता हमारे लिए दूषण है और उनके लिए भूषण। हम बहुत से कमरों और इमारतों में गये। उपकुलपति छात्र-छात्राओं के बीच घूम रहे थे, लेकिन कहीं कोई सलाम-बन्दगी की झड़ी नहीं लगी थी। मालूम होता था, जैसे उन्हीं का कोई आदमी जा रहा है। आजकल छुट्टी का दिन था, इसलिए पढ़ाई नहीं हो रही थी। कितने ही छात्र बाहर चले गये थे। हर विभाग में वास्तविक फैक्टरी का होना आवश्यक था। किसी फैक्टरी में विशेषज्ञों की देखरेख में छात्र सर्जरी के औजार बना रहे थे, किसी में कोई दूसरी चीज। दवाइयों की फैक्टरी में छात्र-छात्राएं नाना प्रकार की दवाइयां बनाने में लगे हुए थे। यन्त्र और हाथ दोनों से काम हो रहा था। औषधियों की यंत्र द्वारा परीक्षा की जाती थी। अंतिम मिश्रण और परीक्षा के बाद तौलकर दवाइयां शीशियों या डिबियों में बन्द होतीं। उन पर लेबिल लगाया जाता। फिर उन्हें बाहर भेजने के लिए बक्सों में बन्द कर दिया जाता। कालेज को गाहकों को ढूंढने की आवश्यकता नहीं थी। कालेज दवाइयों से हर साल लाखों युवान कमाता है। डाक्टर छू ने बतलाया कि हमें हर हजार आदमी पर एक डाक्टर की आवश्यकता है। सारे चीन के लिए साढ़े ६ लाख डाक्टर चाहिएं। इसीलिए हम कालेजों और विद्यार्थियों की संख्या तेजी से बढ़ा रहे हैं।

सभी शिक्षण संस्थाओं की तरह यहां भी छात्र-छात्राएं शारीरिक उत्पादक श्रम में भाग लेते हैं। मिङ् समाधि जलनिधि बनाने में यहां के छात्र-छात्राएं बड़ी संख्या में जाकर जमीन खोदते और मिट्टी-पत्थर ढोते रहे। उपकुलपति ने उस समय का एक फोटो भी दिया।

२६ अगस्त के अपराह्न में पेकिङ् का रेडियो स्टेशन देखने में चिङ्-कोङ्-चिन ने सहायता की। ४० बरस पहले १६०८ में शाङ्-है और थ्यान्-चिन् में व्यापारियों ने छोटे-छोटे रेडियो स्टेशन कायम किये थे। नानकिङ् में सबसे पहले सरकारी रेडियो कायम हुआ, जिसकी शक्ति १६४६ में ४०० किलोवाट थी। भागते वक्त च्यांग काई-शेक ने सब यंत्रों को तुड़वा दिया। उसके बाद सरकारी (शिङ्-ह्वा) रेडियो कायम हुआ। १६५२ में इसकी शक्ति ५०० किलोवाट थी। १६५७ में एक हजार हो गयी। दो प्रकार के प्रसार हैं, घरेलू और बाहरी। घरेलू प्रसार में पेकिङ्, कन्तोनीय, उइगुर, तिब्बती आदि भाषाओं का प्रयोग होता है। बाहरी प्रसार में आजकल पन्द्रह भाषाएं इस्तेमाल की जाती हैं—जापानी, कोरियन, वियत-नामी, बर्मी, लाऊ, कम्बुजी, रूसी, स्पेनी, अंग्रेजी, फ्रेंच, अरबी, तुर्की, फारसी, इन्दोनेशियाई और थाई। इन पंक्तियों के लिखने के समय (१४ अप्रैल १६५६) पेकिङ् रेडियो से हिन्दी में प्रसार शुरू हो गया। संगीत के प्रोग्राम के लिए ३४ कलाकार (१२ स्त्रियां) हैं, जो श्री वाङ् ली-एह के नेतृत्व में काम करते हैं। प्रति दिन १५ से ३० मिनट तक इनका काम होता है। गद्य में लोक कथाएं और पद्य में लोक गीत तथा पंवाड़े भी शामिल हैं। रेडियो-विभाग लोकगीतों का संग्रह कराता है, जिनमें से चुनकर कुछ प्रसारित किये जाते हैं। संगीत दल की संख्या जल्दी ही ५० हो जायेगी। दूसरे अनेक दल हैं, जिनके कलाकारों की संख्या ३० तक है। हमने पुराने भवन में जाकर बातचीत की थी। बगल में पेकिङ् की विशाल सड़क पर नगर से बाहर रेडियो भवन तैयार हो गया था। हमारे वहां रहते ही उसका उद्घाटन हुआ। टेलीविजन का आरंभ भी थोड़े ही दिनों बाद हो गया। पेकिङ् रेडियो दुनिया के अत्यन्त शक्तिशाली रेडियो स्टेशनों में है। भारतीय श्रोता उसके हिन्दी प्रोग्राम से इसे समझ सकते हैं।

रात को हम नृत्य-गीत मंडली का अभिनय देखने गये। इसमें चीन की उइगुर, तिब्बती, यी, मंगोल, कोरियन, म्यांउ, चीनी जातियों के गीत और नृत्य दिखलाये गये। म्याउ जाति सबसे पिछड़ी और पहाड़ी जाति है। उइगुर नृत्य-गीत हमारे यहां से बहुत मिलते हैं, इसलिए अत्यधिक तटस्थ रहने की कोशिश करने पर भी उसका पक्षपाती होना हमारे लिए

स्वाभाविक था। उनके नृत्य की मुद्राएं, गानों के स्वर बड़े मधुर मालूम होते थे। वे शरीर से भी अधिक सुन्दर थे। पहले बतला चुका हूं कि उइगुर पुराने कूचियों (कुशान-शकों) और तुर्कों की मिश्रित सन्तान हैं। उनकी भूमि—सिङ्क्याङ् या तरिम उपत्यका—के दक्षिणी भाग में एक समय बड़ी संख्या में भारतीय बसे हुए थे। वहां चौथी-पांचवीं सदी में भारत की एक बोली प्राकृत चलती थी, यह वहां से मिले अभिलेखों से मालूम होता है। मैं ही नहीं, दूसरे दर्शक भी उइगुर संगीत और नृत्य को बार-बार देखने-सुनने की मांग कर रहे थे। उइगुरों के बाद कोरियनों का नृत्य-संगीत बहुत कोमल था। उनके नृत्य में भी भारतीय मुद्राएं स्पष्ट दिखाई देती थीं। कोरिया और भारत के बीच में बहुत सी दूसरी जातियां बसती हैं, फिर कैसे इतनी घनिष्ठता हुई। मंगोल और तिब्बती गीतों और नृत्यों में बहुत समानता मालूम होती थी, लेकिन दोनों की भाषाओं में समानता नहीं है। दोनों के नृत्य एक साहसी जाति के अनुरूप थे। ढाई घन्टे तक अभिनय होता रहा। सारी नाट्यशाला दर्शकों से भरी थी। इन कलाकारों में कितने ही अपने-अपने प्रदेशों से आये थे, कुछ अल्पजातिक संस्थान के विद्यार्थी अथवा अध्यापक थे।

पंचवार्षिक योजना। कम्युनिस्ट शासन के द्वारा आरंभ हुई। आज तो वह उसका अभिन्न अंग मानी जाती है। मुझे उसके बारे में विशेष जानने की इच्छा थी। १९५८ के शुरू से आरंभ होने वाली पंचवार्षिक योजना किसी भाषा में नहीं छापी गयी थी। बौद्ध संघ के उपसभापति श्री चाउ फू छू ने प्रबन्ध किया। संघ के भवन में योजना विभाग के एक बड़े अधिकारी आये। बड़े ही मेधावी और व्युत्पन्न पुरुष मालूम हुए। रहनेवाले शायद शाङ्है के थे। अपनी योग्यता के कारण ही वे इस विभाग में आये। वह अंग्रेजी भी जानते थे। योजना के बारे में पूछे या बिना पूछे हरेक सवाल का उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया और बतलाया: १९५२ तक सारे चीन में (अल्पमत जातीय क्षेत्रों को छोड़कर) भूमिसुधार लागू किया गया, जिससे सभी बेजमीन लोग खेतवाले बन गये और अधिक खेतवाले, कम खेत वाले। उत्पादन वृद्धि तेजी से होने लगी। १९५२ में अनाज की उपज

१५७ लाख टन हुई, जो १६५७ में १८५ लाख टन हो गयी, पांच वर्षों में २१ प्रतिशत वृद्धि। औद्योगिक फसलों के बारे में उन्होंने बतलाया— '

(लाख टनों में)

फसल	१६४१	१६५२	१६५७	विशेष
तम्बाकू	.४३	२.२०	२.७०	निर्यात होता है।
जूट	.३७	३.५	३.१५	
चीनी (ऊख)	.२६	.७१	८.५०	
सोया	५०	६५	१००	
मूंगफली	१२.५	२३	२८	निर्यात होता है।
कपास	४.४०	१३	१६.४	निर्यात वस्त्रों में।

उन्होंने बतलाया कि सहकारी खेती उन क्षेत्रों में १६४८ में ही शुरू हुई थी जो कुओमिन्तांग शासन से मुक्त हो चुके थे। पर यह अल्पारंभ था। १६५२ से सारे देश में यह प्रथा फैलने लगी। ४ बरस बाद १६५६ में वह चरम सीमा पर पहुंची। १६५७ में ६६ प्रतिशत खेत और परिवार सहकारी फार्मों में सम्मिलित थे। १६५८ में ६६ प्रतिशत सहकारी फार्म उन्नत अवस्था के थे और २ प्रतिशत प्रारम्भिक अवस्था के। १६५७ में सहकारी फार्म ३६१ थे। इनका आकार बड़ा है, इसीलिए ३ लाख एकड़ जमीन जोतते हैं और १२ लाख परिवार इनमें रहते हैं। मंगोलिया, सिङ्-क्याङ् और च्वाङ् में पशुपालन के भी सहकारी फार्म हैं। १६५७ में ६० प्रतिशत कुटीर उद्योग सहकारी थे। दूसरे उद्योग ६६.१ प्रतिशत राष्ट्रीय थे, केवल .१ प्रतिशत उद्योग निजी हाथों में रहे।

१६५८ में द्वितीय पंचवार्षिक योजना आरंभ हुई। पहले की सफलताओं के कारण प्रगति सर्पगति को छोड़कर छलांग भरने लगी। यह छलांग ही कारण था, जिससे कि द्वितीय पंचवार्षिक योजना प्रकाशित नहीं की जा सकी। वे बड़ी संयत और गंभीर भाषा में बतला रहे थे कि जब तक गति का पता न हो, तब तक हम योजना के आंकड़े कैसे दे सकते हैं। कुल,

दस-पन्द्रह प्रतिशत वृद्धि की आशा की गयी थी, पर वहां तो शत-प्रतिशत वृद्धि की नौबत थी। योजना की पुस्तक पाने के लिए आतुरता दिखलाने पर उन्होंने कहा: "निश्चित रहिए, आपके जाने से पहले चीनी में छपी योजना हम आपको दे देंगे।" पीछे न उन्होंने ध्यान दिया, न मैंने ही। द्वितीय पंचवार्षिक योजना के बारे में उन्होंने बतलाया: १९५८-६२ के बीच उद्योग की उपज में ८५.६ प्रतिशत की वृद्धि होगी। भारी उद्योग प्रति वर्ष १४.४ प्रतिशत बढ़ेगा और लघु उद्योग के १८,२६० कारखाने बनाये जायेंगे। बड़े कारखाने ६२१ होंगे। विमान, मोटर, एलेक्ट्रोनिक आदि यंत्रों का निर्माण बढ़ेगा। मशीन टूल की उन्नति भी बहुत की जायेगी। इस उद्योग के लिए भारी परिमाण में शिल्पियों को प्रशिक्षित किया जा रहा है। मजूरों की संख्या १५८ लाख से बढ़कर २४५ लाख हो जायगी। कृषकों की आय पहले साल की अपेक्षा १९५७ में ३० प्रतिशत ज्यादा होगी। हमारा आर्थिक आधार बहुत मजबूत है, क्योंकि चीजों का भाव देश के भीतर स्थिर है और बाहर के सिक्कों से युवान का विनिमय भी स्थायी है। पांच वर्षों में ४२ प्रतिशत वृद्धि हुई, जिसमें कृषि में २५ प्रतिशत।

३० जून १९५८ के आंकड़ों को देते हुए उन्होंने बतलाया:

वस्तु	१९५७	१९५८
गेहूं	१००	१६०
जाड़ों का अन्न	१००	१४०-१५०
उद्योग	१००	१५०
फौलाद	५३ लाख टन	१ करोड़ टन
कोयला	....	२० " "
मशीन टूल	—	७०० मिली मीतर
हाइड्रोलिक प्रेस	—	२५०० टन
रौलिंग मशीन	—	८० हजार किस्म

प्रथम पंचवार्षिक योजना के मोटामोटी औद्योगिक उत्पादन आंकड़े इस प्रकार हैं:

वस्तुएं	१९५२	१९५७	१९५९
फौलाद	१३.५० लाख टन	५३.५० लाख टन	१.१० करोड़ टन
लोहा	१९.३० " "	५९.४० " "	१.३६ " "
बिजली	७.२६ करोड़ कि. घं.	१९.३० करोड़ कि. घं.	२७.५० करोड़ कि. घं.
सीमेंट	६.६४ " टन	१३ " टन	२७ " टन
कोयला	२८.६ लाख टन	६४.६ लाख टन	९२ लाख टन
एन्टीबायटिक	०	३४.६ टन	१४५ टन
रेल इंजन	२०	१६७	३५०
मोटरगाड़ी	०	७,५००	१६,०००
जहाज	१६,००० टन	५४,००० टन	९०,००० टन
ट्रैक्टर	०	०	९५७

वस्तुएं	१९५२	१९५६	१९५९
कम्बाइन		१२४	५४५
इंजन	२७,६०० अश्व शक्ति	५,६०,००० अ. श.	२० लाख अश्व शक्ति
कपास सूत	२६.२० लाख गांठ	५६.५० लाख गांठ	६१ लाख गांठ
" कपड़ा	३८१ करोड़ मीतर	५०५ करोड़ मीतर	५७० करोड़ मीतर
कागज	५.४० लाख टन	१२.२० लाख टन	१६.३० लाख टन
चीनी	४.५१ " "	८.६४ " "	६ " "
नमक	४६.४५ " "	८२.७७ " "	१०४ " "
सिगरेट	२६.५० लाख बक्स	४४.६० " बक्स	४७.५० " बक्स
कृषि में			
अनाज	....	१८.५० करोड़ टन	२७.५० करोड़ टन
कपास	....	१६.४० लाख टन	२२.२६ लाख टन

जल्दी ही ११५० मिलीमीतर की मशीन भी बनने वाली थी। रेल के डीजल इंजन भी कारखाने में बनने लगे थे। पांच हजार अश्व शक्ति का रेल इंजन १९५९ में बनने वाला था। सिनेमा और फोटो के लिए फिल्म की निर्माण फैक्टरी भी चालू हो गयी और टेलीविजन के यंत्र की फैक्टरी भी खुल गयी। चीन में ४ स्वायत्त प्रदेश (तिब्बत, छम्दो, सिङ्क्याङ्, भीतरी मंगोलिया, च्वाङ्) और २२ प्रदेश तथा ३ नगरपालिकाएं हैं।

नगरपालिकाओं के नाम हैं: १. शाङ्है, २. पेकिङ्, और ३. थ्यान-चिन, जिनकी आबादी क्रमशः ८० लाख, ६२ लाख और २७ लाख हैं।

प्रदेशों के नाम और जनसंख्या इस प्रकार हैं:

१.	सछ्वान्	६,२३,०३,९९९	१३.	च्याङ्सी	१,६७,७२,८६५
२.	शाङ्तुङ्	४,८८,७६,५४८	१४.	शंनसी	१,५८,८१,२८१
३.	होनान्	४,४२,१४,५९४	१५.	क्वैचाउ	१,५०,३७,३१०
४.	च्याङ्सू	४,१२,५२,१९२	१६.	शान्सी	१,४५,१४,४८५
५.	होपे	३,५९,८४,६४४	१७.	फूच्येन	१,३१,४२,७२१
६.	क्वान्तुङ्	३,४७,७०,०५९	१८.	कान्सू	१,२९,२८,१०२
७.	हूनान्	३,३२,२६,९५४	१९.	हेलुङ्च्याङ्	१,१८,९७,३०९
८.	आन्ह्वे	३,०३,४५,६३७	२०.	चिलिन (किरिन)	१,१२,९०,०७३
९.	हूपे	२,७७,८९,६९३	२१.	ताईवान्	७५,९१,२९८
१०.	चे-च्याङ्	२,२८,६५,७४७	२२.	छिङ्है (कोकोनोर)	१६,७६,५३४
११.	ल्याउनिङ्	१,८५,४५,१४७			
१२.	युन्नान्	१,७४,७२,७३७			

स्वायत्त शासित जातीय प्रदेश और आबादी:

१.	च्वाङ् (क्वाङ्सी)	१,९५,६०,८२२
२.	भीतरी मंगोलिया	६१,००,१०५
३.	सिङ्क्याङ् (उइगुर)	४८,७३,६०८
४.	तिब्बत-छम्दो	१२,७२,९६९
५.	सीखाङ्	३५,८१,०६४

ह्वैंफाङ् सहकारी फार्म। चीन के ग्रामों के विकास में सहकारी फार्म का बड़ा महत्व रहा है। सैयां के पास तिछिन नामक एक विशाल सहकारी फार्म को मैंने ४ जुलाई को देखा था। आज पहली सितम्बर है, पेकिङ् से १५ किलोमीतर दूर इस फार्म को देखने गया। सहकारी फार्म अब चीन के लिए इतिहास की बात रह गये हैं, क्योंकि ५ लाख सहकारी फार्मों की जगह ५०,००० कम्यूनों ने ले ली है। जिस दिन इस फार्म को मैं देखने आया उस दिन अभी कम्यूनों का उल्लेख पत्रों में नहीं होता था, इसलिए इस फार्म के देखने में मेरी दिलचस्पी में कमी नहीं हो सकती थी। ह्वैंफाङ् एक श्याङ् (परगना) है। २८ गांव को मिलाकर बने इस सहकारी फार्म के संचालक २७ वर्ष के नौजवान हान्छान् ने हमारा स्वागत किया और बतलाया कि हमारे यहां ६६७ परिवार और ४१७२ व्यक्ति हैं. जिनमें १६०३ काम करने वाले हैं। धान के खेत ६६०, साग-भाजी के १६०, आलू के ३३६, मूंगफली के ६६०, मक्की के ३६० और बाजरे के ६० एकड़ हैं। पहिले बाजरा (ज्वार) यहां के ग्रामीणों का मुख्य भोजन था। कुछ ही साल पहले तीन चौथाई खेत बाजरे के होते थे, लेकिन अब वह केवल ६० एकड़ में बोया गया था। यद्यपि यहां जाड़ों में बर्फ पड़ जाती है, जिससे कोई फसल नहीं हो सकती, तो भी बाकी बचे सात-आठ महीनों में वे तीन फसल उगाते हैं। जाड़ों में सीसे से ढंकी क्यारियों में भी तरकारियां पैदा की जाती हैं। तापमान ठीक रखने के लिए इनके भीतर गरम पानी के मोटे-मोटे नल लगे रहते हैं। नमक-मिला गरम पानी ४७ डिग्री तापमान में रखा जाता है। अनाज की एक फसल ही हो सकती है। सब्जियों की एक से अधिक फसलें पैदा करने का सुभीता है।

१६०० कमकर १६ तो (ब्रिगेड) में संगठित हैं। प्रति तो में ३ से ५ तक चू (दल) होते हैं। तो में ४० से १०० तक और चू में १३ से २० व्यक्ति होते हैं। स्त्री-पुरुषों का अलग संगठन नहीं है। धान की फसल अप्रैल से सितम्बर तक देखी जा सकती है। आजकल वह पक रही थी। उत्पादन के बारे में अक्सर सन्देह हो जाता है, कारण वहां खेतों का नाप न एकड़ में है और न तौल का माप किलोग्राम में। अन्दाज लगानेवाला गलती कर सकता है। भला एक एकड़ में १२० टन धान की उपज पर कौन विश्वास

कर सकता है? दूसरी जगहों में देखने पर वह ३ से ४ टन प्रति एकड़ होता है। ८० से ११८ मन एक एकड़ में धान होना अधिक अवश्य है, पर वह संभव है। मुझे सन्देह करते हुए देखकर श्री हान धान के खेत पर ले गये। कच्ची सड़कें सहकारी फार्म में सब जगह जाती हैं। पैदल चलना होता तो उस समय की शारीरिक अवस्था में दो फर्लांग चलना भी मुश्किल था। कार को ले जाकर उन्होंने खेत के पास खड़ा कर दिया। खेत की मेंढ और सड़क के बीच नहर बह रही थी। उसको पुलिया से पार कर गये। अब हम साधारण धान के खेतों की मेंढ पर थे। लेकिन जिस खेत को वह दिखलाना चाहते थे, वह २५-३० गज हटकर दूसरे खेतों के बीच में था। डेढ़ फीट चौड़ी मेंढ पर जाना था। दोनों तरफ के खेतों में पानी भरा था। अभी हमारे पैर हिम्मत नहीं करते थे। जाते तो जरूर लुढ़क जाते और पानी में भीगना पड़ता, इसलिए वहां तक नहीं जा सके, पर और खेतों से उसका धान अधिक ऊंचा और बालें अधिक बड़ी दिखाई पड़ीं। वहां जाने का ख्याल छोड़कर हम चौड़ी मेंढ से सड़क के समानान्तर कुछ गज आगे बढ़े, तो एक फूस की मड़ई मिली, जिसके भीतर चीनी पुरुष भी मुश्किल से सिर तानकर खड़ा हो सकता था। वहां एक ६० बरस का बूढ़ा मिला। मालूम हुआ कि नहर का पानी खेतों से नीचे है। उसको उपर चढ़ाने का काम बिजली के सहारे एक यंत्र कर रहा था। इसमें मोटर से सम्बन्ध करने वाले स्थान के लिए ही थोड़े से लोहे की आवश्यकता थी। बाकी चार-पांच हाथ लम्बा, सवा हाथ चौड़ा ढांचा लकड़ी का था। पानी चढ़ाने के लिए मिट्टी या टीन के टिंडों की जगह लकड़ी की थापियां लगी थीं। मुझे आश्चर्य करने की जरूरत नहीं कि इतने सस्ते में चीनी लोग कैसे काम निकाल लेते हैं। न वहां टीन या लोहे का उपयोग था, न कोई महंगी चीज का। गांव में मिलने वाले अच्छे काठ से बढ़ई ने सब कुछ बना दिया था। कुछ रुपयों की मोटर बिजली के उपयोग के लिए लगी थी। मड़ई में शायद तीन-चार रुपये लगे होंगे और आदमी ६० बरस का बूढ़ा था। बिजली पानी को बड़ी तेजी से उपर उठा रही थी और वह नालियों द्वारा खेतों में जा रहा था।

धान के खेत नहीं जा सके, तो संचालक शकरकन्द, मूंगफली के खेतों में

ले गये। शकरकन्द दुनिया में गरीबों का खाना है, लेकिन यदि उसे चरबी में तलकर चीनी की चाश्नी में बनाया जाय, तो उसे गरीबों का खाना नहीं कह सकते। इस प्रकार वह अधिक स्वादिष्ट भी हो जाता है। शकरकन्द का आटा भी बनाया जाता है। जो भी हो, शकरकन्द का भविष्य बाजरा (ज्वार) जैसा होने वाला नहीं है। बाजरा तो जान पड़ता है मुर्ग-मुर्गियां और सुअरों का खाना होकर रहेगा, क्योंकि चीनी किसान अपने पूर्वजों के इस मुख्य अन्न को छोड़ते जा रहे हैं। संचालक ने बतलाया कि इस खेत में प्रति एकड़ २० टन (५४० मन) शकरकन्द होगा। पास ही मूंगफली के खेत थे। मूंगफली को हमारे यहां चीनिया बादाम कहा जाता है। लीची फल की तरह यह चीनिया बादाम भी चीन की देन है। चीनिया पिश्ता भी होता है, जो यहां के पिश्ते से चार-पांच गुना बड़ा है। यह पिश्ता तो नहीं है, लेकिन जिस तरह मूंगफली को चीनिया बादाम कहा जाता है, वैसे ही इसे चीनिया पिश्ता भी कह सकते हैं। उसमें काफी तेल होता है और स्वाद में असली पिश्ते से उतना फर्क नहीं रहता, जितना बादाम से चीनिया बादाम का। मूंगफली की उपज प्रति एकड़ १४ मन बतलायी गयी।

गांव में नाम मात्र को ही वैयक्तिक खेत हैं, नहीं तो सभी सहकारी फार्म के हैं। रेडियो यंत्र हैं और आफिस में टेलीफोन भी है। संचालक और भी चीजें दिखलाना चाहते थे। फार्म में पांच हजार सूअर हैं, जिनके लिए नौ शूकरशालाएं हैं। शूकरशालाएं सारे चीन में बढ़ती जा रही हैं। हम एक शाला को देखने गये। दीवारें मिट्टी की थीं और छत फूस की। अलग-अलग खाने बने हुए थे, जिनमें सूअरें अपने बच्चों के साथ रहती थीं। गर्भाधान कृत्रिम रूप से होता है, अतः नर-सूअरों की बहुत कम संख्या रखी जाती है। १९५७ में यहां २,००० सूअर बेचे गये, इस साल ४,००० बेचे जाने वाले थे। उनका दाम वजन के अनुसार होता है। अधिकतर सूअर देशी थे, किन्तु कुछ योरोपीय जाति के भी थे। मूंगफली की खली सूअर बहुत पसन्द करते हैं।

दो पांतियों में ईंट की दीवारों का पंचायत घर काफी अच्छा था। सामने आंगन में फूल लगे हुए थे। सहकारी फार्म के नेताओं में प्रायः सभी तरुण और तरुणी दिखाई पड़े। इस फार्म के पास एक ट्रैक्टर, पानी

चढ़ाने के लिए ११४ बिजली की मोटरें, रबर टायर लगी १२८ गाड़ियां हैं। खींचनेवाले ८१ घोड़े, ८१ गदहे और १६६ खच्चर थे।

अपने इतिहास को बतलाते हुए संचालक हान ने कहा: १९४९ के जनवरी महीने में च्यांग काई-शेक का मुंह काला हुआ और हमारा श्याङ् (परगना) मुक्त हो गया। उस समय इस गांव में जमींदारों के ६८ परिवार थे। इनमें से एक के पास ५०० एकड़ भूमि थी। १९५० में भूमि सुधार कानून लागू हुआ। सिद्धान्त रखा गया—गांव में जितने बालवृद्ध रहते हैं, उन सबका वहां की भूमि पर समान अधिकार है। फिर क्या था? खेत बंटकर आधा-आधा एकड़ प्रत्येक को मिल गया। कोई बेखेत का नहीं रहा। १०० एकड़ रखने वाले जमींदार को भी व्यक्ति पीछे आधा-आधा एकड़ दे दिया गया। किसी के साथ कोई पक्षपात नहीं किया गया। दुनिया पलट गयी। जमींदारों की लड़कियां यद्यपि पर्दे वाली नहीं थीं, पर धूप से डरने के कारण असूर्यम्पश्या तो थीं। जिसके बल पर वह सुकुमारता का जीवन बिताती थीं, वह जमीनें ही हाथ से खिसक गयीं। काम करने वाले मजूर स्वतन्त्र हो गये। भूधर-सुताओं को खेतों में काम करने के लिए जाना पड़ा। कुछ दिनों तो कष्ट जरूर हुआ, लेकिन फिर मक्खन जैसे हाथ कड़े हो गये। आज तो पुराने जमींदारों की लड़कियों को दूसरी लड़कियों से अलग नहीं किया जा सकता। यही नहीं, अब धड़ल्ले के साथ कल के मजदूरों के लड़कों के साथ वह ब्याह कर रही हैं। पलक मारते छोटी जाति और बड़ी जाति का भेद मिट गया। भूमि-सुधार के बाद मिलकर काम करना, यानी श्रम सहकार शुरू किया गया। पांच-सात घर मिलकर सबके खेतों में काम करते। खेत अलग थे, लेकिन काम करने वाले स्त्री-पुरुषों का दल एक। इसके कारण खेतों में अधिक जुताई हुई। खाद और बीज की अच्छी व्यवस्था थी। परिणामस्वरूप उपज भी बढ़ी। १९५२ में गांव ने एक और लम्बा कदम उठाया, यानी खेतों और खेती को सहकारी बनाया। बूढ़े लोगों का हृदय डांवाडोल था। तरुण निःशंक थे। उन्होंने श्रम-सहयोग से उपज को बढ़ते अपनी आंखों देखा था। १९५४ के जाड़ों में ४२७ परिवार सहकारी फार्म में सम्मिलित हुए। १९५५ में उनकी संख्या ६०० हो गयी। अभी तक जमींदारों को उन्होंने

अपने में शामिल नहीं किया था। वे भी कुछ हटे-हटे से रहते थे। आखिर युगों से वर्गभेद चला आ रहा था! १९५६ में पुराने जमींदार भी सहकारी फार्म में शामिल हो गये।

आय-व्यय के बारे में संचालक ने बतलाया :

सन	आय (युवान में)	व्यय (युवान में)	दैनिक मजूरी
१९५६	७,३२,०००	३,००,०१३	१.३
१९५७	८,२१,०५८	३,४६,३३७	१.५६

कुछ दिनों बाद संचालक ने १९५६ और १९५७ का आय-व्यय का ब्योरा भेजा, जो इस प्रकार है :

१९५६ में आय		व्यय	
मद	युवान	मद	युवान
चावल	३,२०,३३०	बीज	४७,०३२
कपास	६,१४२	खाद	९४,२७२
मूंगफली	१७,५७२	दवाइयां	९१९
साग	२,६६,४१६	मशीन	५३,८८६
सूअर	७,६०८		२,१३३
गाड़ियां	१४,५५०	मरम्मत	४,४८२
श्रम	३५,९४५	अन्य	२३,८१०
फुटकर	४,२८२	सूअर	६,२३१
		गाड़ियां	५,११२
		श्रम	४,८००
		कर	४६,९६४
		प्रबन्ध व्यय	६६१
		अन्य	९,९२४
कुल	७,३२,०१३		३,००,३१३

बचत का जो उपयोग हिसाब में दिखलाया गया है, उसका (चीनी भाषा) अनुवाद मैं नहीं करा सका।

१९५७ में आय		व्यय	
मद	युवान	मद	युवान
चावल	४,२०,९९०	बीज	४६,५००
मूंगफली	१०,९९८	खाद	१,४०,२२४
साग	४६,१३७	दवाइयां	७१४
सूअर	१०,३५४	मजूरी	५४,३००
गाड़ियां	१७,३४०	मशीन भाड़ा	६,४१७
		सामान	१७,३४७
		मरम्मत	२,६६७
		गाड़ियां	६,७१७
		कर	५३,८८७
		फुटकर	६,६४१
		प्रबन्ध	५७६
		सूअर	७,३४२
कुल	६,२१,०५३		३,४६,३३७

बचे हुए धन का रक्षानिधि में ६२,१०० युवान, जनहित में ६,२१० युवान और श्रम पर ४,७०,४०६ युवान व्यय किया गया।

प्रति परिवार औसत आय ४८४ युवान हुई। वार्षिक मजूरी ३३६ युवान और प्रति व्यक्ति साल में १२० युवान (२४० रुपये) मिले। १९५६ में कर कम देना पड़ा था, क्योंकि फसल में कुछ कमी हुई थी।

संचालक ने यह भी बतलाया कि एक पुरुष की अधिकतम आमदनी ४०० और एक स्त्री की ३०० युवान हुई, जबकि न्यूनतम आय १२० युवान रही। काम की १० इकाइयां एक दिन के लिए आवश्यक समझी जाती हैं, उसी को कार्य-दिन कहा जाता है। अच्छा काम करने वाले स्त्री-पुरुष एक दिन में दो कार्य-दिन या अधिक भी काम कर सकते हैं। १,६०० कमकरों

में १,४०० साक्षर हैं। गांव में अपर प्राइमरी (६ साल की पढ़ाई का) स्कूल है, जिसमें ६०० बच्चे पढ़ते हैं। पास के गांव में हाई स्कूल तथा कृषि स्कूल हैं, जिनमें यहां के ४६० बच्चे पढ़ते हैं। स्वास्थ्य के लिए अस्पताल में दो डाक्टर, पांच नर्स और दस चारपाइयां हैं। प्रसूति का प्रबन्ध अस्पताल तथा घर में भी होता है। खेती की भीड़ जब ज्यादा होती है, तो माताओं को छुट्टी देने के लिए शिशुशालाएं बना दी जाती हैं।

चलते-चलते श्री हान ने बताया: अब हम लोगों ने १,१०,००० आबादी का कम्यून कायम कर लिया है। श्री हान की योग्यता का इसी से पता लगेगा कि वह कम्यून के संचालक चुने गये हैं।

मैंने किसी परिवार को देखना चाहा। गांव के मकान हमारे यहां की तरह ही मालूम होते थे। मिट्टी की छतें और मिट्टी की दीवारें वैसी ही थीं, जैसी पश्चिमी उत्तर प्रदेश और पंजाब में। हम ५७ वर्ष के श्री यू के मकान को देखने गये। दीवारें ईंट की थीं। उनके सामने यह पूछने में बहुत संकोच हुआ कि यह घर उनका है या किसी जमींदार का। कई कमरे थे, जिनमें एक से अधिक परिवार रहते थे। यू के घर में तीन पुरुष और दो स्त्रियां काम करने वाली थीं। चार बच्चे अभी पढ़ रहे थे। इस परिवार ने पिछले साल एक हजार युवान कमाया। मकान को जाड़ों में गरम करने के लिए काङ् वाला चबूतरा था, जिसके नीचे आग जलायी जा सकती थी। किसी प्रकरण में मैंने यह पूछ ही लिया कि उनका धार्मिक विश्वास क्या है? यू ने बताया कि हमारा परिवार पहले बौद्ध था। है नहीं, था कहा था। इसका अर्थ था कि वृद्धों में भी अब धर्म के प्रति पुरानी आसक्ति नहीं रही। धर्म से विमुख होने के लिए कोई जोर नहीं और धर्म का अनुयायी होने के लिए कोई दबाव नहीं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण और शिक्षा, धार्मिक भावनाओं को खोखला बना रही है, इसके लिए क्या किया जाये। हमारे यहां देश के एक ऊंचे नेता हैं, जो पुराने युग को कायम रखने के लिए उतने ही मतवाले हैं, जितना कि इन पंक्तियों का लेखक उसे उखाड़ फेंकने के लिए। उक्त नेता विद्वान हैं, उच्च कोटि के लेखक हैं, बड़े-बड़े पदों पर रह चुके हैं। उन्होंने शिक्षा और संस्कृति के लिए भारत के दो बड़े शहरों में दो बड़ी संस्थाएं कायम की हैं, जिनकी इमारतों पर ही

बीस-तीस लाख खर्च हुआ होगा। पुरानी सामाजिक सत्ता को कायम रखने के लिए उनके अखबार में हर तरह के मिथ्याविश्वासों का बड़े जोर-शोर से प्रचार होता है। ऐसे लोग यदि चीन के हाल के विचार-परिवर्तन को देखकर घबड़ाएं तो क्या आश्चर्य? वह जब देखते हैं कि भारत में भी वह हवा आ गयी है और नौजवानों को 'गुमराह' कर रही है, तो वे कुछ किये बिना कैसे रह सकते हैं? भगवान करें इनकी भी आयु देवराहा बाबा जैसी हो जाये।

उस दिन पेकिङ् ऑपेरा देखा। अपने पद्यमय नाटक के लिए यह प्रणाली चीन में अत्यन्त लोकप्रिय है। मुझे उसका कथाकली रूप पसन्द है।

जेलखाना। २ सितम्बर को श्री चाउ ने राजधानी का जेलखाना दिखलाने का प्रबन्ध किया। वैसे चीन के सभी लोग अत्यन्त भले मिले। किसी को इस गुण में छोटा-बड़ा कहना अपराध है। पर श्री चेङ् और श्री चाउ दुभाषिया के तौर पर हफ्तों नहीं, महीनों साथ रहकर मेरे अभिन्न हो गये। इसलिए इनका प्रभाव बहुत अधिक पड़ना स्वाभाविक है। अस्पताल में जाने के बाद श्री चेङ् दूसरे अतिथियों के साथ घूमने लगे और श्री चाउ मेरे साथी बने। वह चित्र और साहित्य दोनों में रुचि रखते हैं। किसी समय संभावना होने लगी थी कि वह चित्रकार बनेंगे।

९ बजे दिन को हल्की बूंदाबांदी में हमारी कार जेल दरवाजे पर लगी। यह जेलखाना पेकिङ् नगर के प्राकार (चहारदीवारी) के पास अवस्थित है। आफिस में पहले उपसंचालक श्री ह्वाङ्-चे ने सामान्य परिचय दिया। श्री ह्वाङ् १९५२ से इस पद पर हैं। मैं भी अनेक बार जेल की चिड़िया रहा हूं। भारत के बहुत से जेलों और कैम्प जेलों का तजरबा रखता हूं, इसलिए यहां के जेल देखने के बारे में मेरे मन में अधिक कौतूहल हो, यह स्वाभाविक था। यह जेलखाना किसी न किसी रूप में बहुत समय से चला आ रहा है। इसके प्रायः सभी मकान १९१७ में बनाये गये थे। १९४९ में च्यांग काई-शेक के भागने से जरा पहले यहां ४००० कैदी थे। अपने विरोधियों को च्यांग काई-शेक मरवा दिया करता था, इस कारण कम्युनिस्ट शासन स्थापित होने के समय यहां सिर्फ १०० कैदी रह गये थे। इस वक्त यहां १४०० कैदी हैं, जिनमें १०० स्त्रियां हैं। दो तिहाई, यानी

हजार के करीब राजनीतिक बन्दी हैं, बाकी ५०० साधारण कैदी। उनकी आयु बीस और पचास वर्ष के भीतर है। राजनीतिक बन्दी अपढ़ नहीं हो सकते। दूसरों को भी पढ़ाने की कोशिश की जाती है, पर अब भी एक-तिहाई बन्दी निरक्षर हैं। श्री ह्वाङ् बड़े सौम्य और सरल मालूम हुए। शरीर दुबला-पतला था। सभी बातों को निस्संकोच बतला रहे थे। कैदियों को भोजन-वस्त्र सरकार की ओर से दिया जाता है। काम करने में होशियारी दिखलाने वाले २ से ५ युवान मासिक जेब खर्च पाते हैं। साधारण बन्दियों में कुछ पुराने चोर हैं, कुछ मारपीट करनेवाले हैं। कर्मचारी बहुत थोड़े से हैं। अस्सी में साठ तो कैदियों के साथ ही काम करते हैं और वैसी ही पोशाक पहनते हैं। बीस हथियारबन्द वार्डर हैं। सभी मिलकर १२० कर्मचारी हैं। जेल के भीतर कोई वार्डर या सिपाही जैसा दिखलाई नहीं पड़ा। सिर्फ नगर प्राकार की ओर के फाटक पर कुछ हथियारबन्द सिपाही दिखाई दिये।

रसोई बनाने के लिए तीस बन्दी नियुक्त हैं। हरेक को प्रति दिन आठ घंटा काम करना पड़ता है। पन्द्रह दिन पर महीने के दो एतवारों की छुट्टी रहती है। जिनके काम करने की पाली रात को होती है, वे दिन में सोते हैं। सोने के लिए काठ के तख्तपोश हैं, जिनके ऊपर बहुत मोटी नरम चटाई रहती है। ऊपर से सफेद चादर बिछी होती है। तकिये भी साफ थे। जाड़े के दिनों में मकान गरम कर दिया जाता है।

काम यहां मोजे बनाने का है। मोजे अधिकतर नायलोन के बनते हैं। कुछ ऊनी भी बनाये जाते हैं। नायलोन के मोजे बड़े ही सुन्दर और चीनी दस्तकारी के अनुरूप थे। मोजों का दाम १४ सेन्ट से ३.१५ युवान तक था। दिन में काम सात से साढ़े ग्यारह बजे और एक से साढ़े चार बजे तक होता है। कर्मशालाएं स्त्रियों और पुरुषों की अलग-अलग हैं। कुछ ही मशीनें हाथ से चलायी जाने वाली हैं, नहीं तो सभी बिजली से चलायी जाने वाली मशीनें मोजे बनाती हैं। यहां के बन्दी मिस्त्री ने बिजली से चलने वाले एक यंत्र का निर्माण किया है, जिससे मोजे बनने की रफ़्तार में बढ़ती हो गयी है। यहां प्रति मास २६ हजार जोड़े मोजे बनते हैं।

अस्पताल भी देखने गया। बारह डाक्टरों में दो महिलाएं हैं। कुछ

बन्दी डाक्टर भी हैं। १०० चारपाइयां हैं, पर २० से अधिक के लिए रोगी नहीं हैं। रोन्तगेन (एक्सरे) आदि यंत्र भी लगे हुए हैं। साथ में सब्जी का बगीचा है, जिसमें ५०० बन्दी काम करते हैं। राजनीतिक बन्दियों को शिक्षा द्वारा मतपरिवर्तन का अवसर मिलता है। नाना प्रकार की पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएं, भाषण और फिल्म उसके साधन हैं। जेलखाने के भीतर ही दूकान है, जिसमें साबुन, सिगरेट, लेमनेड आदि चीजें बिकती हैं। बन्दी अपने जेब-खर्च के पैसों से उन्हें खरीद सकते हैं। पुस्तकालय में ३,००० पुस्तकें हैं। इसमें कई कमरे हैं। किसी-किसी में रची कविता कागज पर लिख कर टांगी हुई थी। कुछ फोटो खींचने में भी दिलचस्पी रखने वाले बन्दी थे। रात को साढ़े नौ बजे तक बिजली जलती है, फिर बन्द कर दी जाती है। दूकान में रोजाना ६००-७०० युवान तक की बिक्री हो जाना मामूली बात है।

सोने के कमरे बहुत ऊंचे और बड़े नहीं थे, लेकिन थे बहुत साफ-सुथरे। खिड़कियों में लोहे का छड़ कहीं नहीं था। शीशे लगी किवाड़ियां थीं। केवल फाटक पर ही सशस्त्र दो-चार सिपाहियों को देखकर पता लगता था कि हम जेल में हैं। नहीं तो मकान या पोशाक किसी से वहां जेलखाने का पता नहीं लगता था। एक से अधिक स्त्रियों और पुरुषों के अलग-अलग स्नानागार हैं, जिनमें एक बार पचास आदमी नहा सकते हैं। नहाने के लिए गरम पानी मिलता है। नहाने के बाद विश्राम के लिए लकड़ी के तख्त भी हैं। मोजा बुनने के अतिरिक्त यहां दूसरे कामों के लिए लोहारखाना, मिस्तरीखाना आदि हैं। हजामत बनाने के लिए नाई की दूकानें भी स्त्री-पुरुषों के लिए अलग-अलग हैं। भोजन में भाप से पकायी गरम-गरम मोमो तैयार थी। भात और साग-सब्जी भी थी। चीन की दूसरी जातियों के भी थोड़े से बन्दी यहां थे। हमने कुल मिलाकर साढ़े तीन घंटा जेलखाना देखने में लगाया।

इधर-उधर की चीजें देखने के साथ हम कमला और जया-जेता के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे। २ सितम्बर के पत्र से मालूम हुआ कि पासपोर्ट लेने की कोशिश की जा रही है। सभी सरकारों की मशीन बहुत धीरे-धीरे चलती है, पर भारत की नौकरशाही तो इसमें और भी गयी-बीती है।

न्यायालय। मंचूरिया में एक न्यायालय हमने देखा था, सोचा यहां भी हो सके तो नीचे का कोई न्यायालय देख लें। इसके लिए शी छन् छू मोहल्ले में गये, जिसमें ६ लाख ७० हजार आदमी बसते हैं। इसके उपविभाग केदाछू में १०,००० की आबादी है। उस समय कम्यून बनाने का बड़ा जबर्दस्त प्रयत्न चल रहा था। लक्षण मालूम होता था कि गांवों की तरह नगर भी कम्यून के भीतर आ जायेंगे। लेकिन दोनों के जीवन में अन्तर है, उत्पादन की प्रक्रिया और रहन-सहन में भी अन्तर है। यहां की व्यवस्था बड़ी पेचीदी है। इसलिए पीछे नगरों में कम्यून बनाने का प्रयास छोड़ दिया गया। इस मोहल्ले में बहुत सी सड़कें हैं और बहुत प्रकार की दूकानें हैं। यहां की ७० प्रतिशत स्त्रियां बाहरी काम में लगी रहती हैं। छू की प्रशासन सभा ८ न्यायाधीशों को नियुक्त करती है। न्यायाधीशों में वकील या कानून जानने वाले भी होते हैं और कानून का साधारण ज्ञान रखनेवाले भी। मुखिया कानून का जानकार होता है और उसके दो सहायक जन-निर्वाचित समझदार पुरुष या स्त्री। इस अदालत में विवाह, वाणिज्य, मकान भाड़े, मार-पीट, अपमान, क्रान्ति-विरोध सम्बन्धी मुकदमे आते हैं। आम तौर से सबेरे आठ से साढ़े बारह बजे तक और शाम को ढाई बजे से आठ बजे तक अदालत का काम होता है। उत्पादक श्रम चीन में प्रधान करणीय माना जाता है। उसके लिए किसी भी कार्य या प्रोग्राम में परिवर्तन हो सकता है। इतवार को छुट्टी रहती है। मुख्य न्यायपाल ली फी-लुन, दूसरे याङ् ची-येन और महिला न्यायाधीश ल्योलिङ्, एवं चाङ् फिमू फानू हमें वहां मिले। प्रधान न्यायपाल ने बतलाया कि साल में प्रायः ३०० मुकदमे आते हैं, जिनमें ५० फौजदारी के, ६० तलाक के, ५० मकान भाड़े के सम्बन्ध में और २५ व्यापार सम्बन्धी झूठ के होते हैं। सूद-ब्याज लेना कानूनन निषिद्ध है, इसलिए कर्ज का मामला कोई नहीं आता। इनमें २०० मामलों में सुलह हो जाती है। जिनमें पक्ष या विपक्ष में निर्णय होता है, उनमें भी दस-बारह से अधिक ऊपर अपील के लिए नहीं जाते।

इसके बाद प्रधान न्यायपाल हमें इजलास में ले गये, क्योंकि हमने मुकदमे की कार्रवाई देखने की इच्छा प्रगट की थी। उसी समय एक तलाक का मुकदमा पेश होने वाला था। ऊंचे मंच पर लाल कपड़े से ढंके

मेज के पीछे तीन न्यायपाल बैठे थे। बीच में मुख्य न्यायपाल और बगल में उनके दो सहायक। पास की कुर्सी पर क्लर्क-महिला थी। सामने जरा नीचे दो और कुर्सियां थीं, जिनपर भी दो क्लर्क बैठे हुए थे। सामने कई पांतियों में कुर्सियां थीं जहां ३२ दर्शक बैठ सकते थे। आगे की पंक्ति की दो कुर्सियों पर पति और पत्नी थे। पत्नी २३ वर्ष की युवती थी और पति ३२ वर्ष का। दोनों का ब्याह फरवरी १९५७ में हुआ था। पत्नी को अदालत के सामने खड़े होकर बोलने की जरूरत नहीं थी। वह कुर्सी पर बैठे-बैठे बोल रही थी: "यह मुझे मारता है। घर चलाने का भार मुझ पर है, लेकिन यह अपना सारा वेतन (५० युवान) नहीं देता। पद-पद पर मेरा अपमान करता है। मैं इसके साथ नहीं रहना चाहती।" दोनों ही गम्भीर मुद्रा में थे, लेकिन पति अधिक उदास था। पति ने कहा: "इसका मेरे ऊपर विश्वास नहीं है। दूसरों के साथ घूमने जाती है।" वादी-प्रतिवादी से बीच-बीच में न्यायाधीश अधिक और सहायक भी कुछ सवाल पूछते जाते थे। दोनों सहायक न्यायपाल वेश-भूषा से मध्य वर्ग के मालूम होते थे। पति ने मारने की बात को अस्वीकार नहीं किया। न्यायपाल ने कहा: "मारना हमारे कानून के खिलाफ है, तुम मार नहीं सकते।" ब्याह हुए १६ महीने हुए थे। स्त्री को पहले पति से तीन बरस का बच्चा था और नये विवाह से भी एक होने वाला था। पत्नी को न्यायपालों ने समझाया: "तुम स्वयं अपने हाथ से अर्जन नहीं करती, अगर तलाक हो गया, तो कल ही से तुम्हारे लिए जीविकार्जन का सवाल पैदा हो जायगा। पहले और आनेवाले बच्चे का भार तुम पर होगा। इसलिए विवाह-विच्छेद अच्छा नहीं है।" पत्नी ने कहा: "यह मारता जो है और खर्च करने में सहायता नहीं देता।" अबकी पति की ओर गम्भीर रुख लेकर न्यायपाल ने कहा: "क्या तुम आगे मारना चाहते हो? क्या उसके लिए जेल जाना चाहते हो?" पति ने कहा: "नहीं, अब मैं इसे कभी नहीं पीटूंगा।"

न्यायपाल ने कहा: "और वेतन का पैसा?" पति ने कहा: "मैं इसको दे दिया करूंगा, पर इसे मेरे प्रति प्यार तो होना चाहिए।" न्यायाधीश ने कहा: "प्यार एक-तरफा नहीं होता।" समझाने-बुझाने पर पत्नी भी जरा देर से राजी हो गयी। दोनों ने सुलहनामे पर हस्ताक्षर कर दिये। पति का

रुआंसा मुंह खिल गया। वह मुस्कराता हुआ कमरे से बाहर गया। पत्नी पर भी प्रभाव पड़ा, लेकिन उसकी गंभीरता पूरी तौर से दूर नहीं हुई।

कमला जी के आने की खबर मिली, तो मुझे इसकी फिक्र पड़ी कि तीन और पांच बरस के दो बच्चों को लेकर वह अकेली भारत से आने में दिक्कत अनुभव करेंगी। मैंने डाबर के श्री अशोक कुमार बर्मन को लिख दिया था कि कलकत्ता से आप आगे जाने की सुविधा कर देंगे। रंगून में गोयनका जी को भी लिख दिया था। आज ही अशोकजी का तार आया: "मैंने कमला जी को लिख दिया है, वह सिर्फ कलकत्ता भर आ जायें, बाकी सब काम हो जायगा।" बाहर न गये पुरुष को भी ऐसी यात्रा में हिचकिचाहट होती है। कमला जी को तो दो बच्चों के साथ दूर पेकिङ् आना था। भारत में उन्हें दिक्कतें उठानी पड़ीं। पासपोर्ट देर से ही सही, मिल तो गया। फिर इन्कम टैक्स अदा करने का सर्टीफिकेट भी लेना था और कई बीमारियों के टीकों के प्रमाणपत्र की जरूरत थी। अब विदेश यात्रा पहले की तरह आसान नहीं है। रंगून में भी कस्टम वालों ने पूरी कठिनाई पैदा की और एक महिला ने पांच रुपये झटक लिये, यह मैं कह आया हूं। आगे चीन के विमान में बैठीं तो इंगलिश या हिन्दी जाननेवाला कोई नहीं था, लेकिन मनुष्य का सौहार्द बिना वाणी के भी झलकता है।

सामाजिक स्वच्छता विभाग (पेकिङ् की मल-व्यवस्था)। मैंने जब अपने मित्रों से कहा कि पेकिङ् के पेशाब-पाखाने का क्या होता है, इसे मैं देखना चाहता हूं, तो उन्होंने आश्चर्य से कहा: "किसी मेहमान ने ऐसी इच्छा प्रगट नहीं की थी। लेकिन हमें कोई उजुर नहीं है।" उन्हें भी उस विभाग का पता लगाने में कुछ दिक्कत हुई, जो इसकी देखभाल करता है। अन्त में वह एक विशाल आफिस के मकान में मिल ही गया। वह मार्ग-नियन्त्रण-ब्यूरो के अन्तर्गत सामाजिक स्वच्छता विभाग था। इस विभाग में २७ कर्मचारी थे। हमारे यहां आफिसों में कर्मचारियों को बढ़ाना मुख्य नीति है, और चीन में उसे कम रखना जरूरी समझा जाता है। जिस बात को हम जानना चाहते थे, उसके बारे में काफी बातें आफिस में ही श्री हान ने बतलायीं। पेकिङ् का पाखाना प्रति दिन १०० टन होता

हैं, जिसमें से आधा पुराने ढंग से लारियों पर बाहर ले जाया जाता है और आधा फ्लश ले जाता है। मैंने कहा कि दोनों प्रकार का एक-एक स्टेशन मैं देखना चाहता हूं। मैं और श्री चाउ अपनी कार पर बैठे और संचालक हान अपने सहायक के साथ अपने विभाग की कार पर। आगे-आगे उनकी कार फू-छन-मैन (फूछन द्वार) की ओर चली। द्वार से और चार किलोमीतर (८ ली) पर एक लम्बा-चौड़ा मैदान मिला। उसके एक तरफ बहुत थोड़े से बेकार जैसे घर थे। उसी के पास हम कारों से उतर पड़े। छोटे मुंह वाला एक भुईंधरा (चहबच्चा) दिखाई दिया। लारियां पाखाने को इसी में लुढ़का देती हैं। आगे काम यहां के कर्मचारियों का है। पाखाने के अतिरिक्त कूड़ा-करकट भी आता है, जिनमें से राख, साग-सब्जी और कागज को तीन भागों में बांटा जाता है। कागज का दूसरा उपयोग हो सकता है इसलिए उसे खाद बनाने की आवश्यकता नहीं। दो भाग कूड़ा-करकट और तीसरा भाग पाखाने को लेकर उसे चार हाथ ऊंची, चार हाथ चौड़ी और सौ हाथ लम्बी कब्र में ठीक से रख दिया जाता है। ऊपर से मिट्टी की मोटी तह लेप दी जाती है। चारों तरफ से बन्द इस सामग्री में बहुत तेज गैस उठती है—भीतर का तापमान ६०-७० डिग्री सैन्टीग्रेड होता है। गैस इस कब्र को फोड़कर निकल न जाये, इसके लिए पूरे तौर से पोले चार-पांच हाथ के दस-बारह बांस के टुकड़े कब्र के उपर गाड़ दिये जाते हैं। ७० दिन में कब्र के भीतर पड़ी सारी सामग्री गन्धरहित खाद के रूप में परिणत हो जाती है। आस-पास के सहकारी फार्म (अब कम्यून) अपनी लारियां या गाड़ियां लेकर पहुंच जाते हैं और १२ युवान प्रति टन उसे खरीद लेते हैं। एक भी मक्खी न देखकर मैंने पूछा कि इसका क्या कारण है? अधिकारी ने बतलाया कि इतने ऊंचे तापमान में मक्खी जी नहीं सकती। उन्होंने यह भी बतलाया कि पहले इसी मैदान में बहुत सा पाखाना सुखाया जाता था। उस वक्त यदि आप आते तो यहां चारों ओर मक्खियां ही मक्खियां देखते।

फ्लश वाला स्टेशन शहर से बाहर, शायद दूसरे छोर पर था। हमारा रास्ता शहर से बाहर ही बाहर था। नजदीक जाने पर परित्यक्त ढहती दीवारें और कितने ही स्तूप देखे। मालूम हुआ, यह भूमि पहले किसी

बड़े बौद्ध विहार की थी। जमीन सौ एकड़ के करीब रही होगी। स्तूप बतला रहे थे कि यहां बौद्ध धर्म का कितना अधिक प्रचार था। सचमुच ही अगर हम १,८०० ईसवी में आये होते, तो पेकिङ् के ८० प्रतिशत से अधिक लोग बौद्ध मिलते। यह उन्हीं के कीर्तिशेष हैं। आज इनकी देखभाल करने वाला नहीं है। यदि ऐतिहासिक वस्तु या उत्कृष्ट कला होती, तो सरकार इस पर लाखों युवान खर्च करती।

कभी खेतों के बीच से भी हमें कच्ची सड़क से जाना पड़ता। दोनों कारों में से कोई भी वहां नहीं गयी थी, इसलिए बीच-बीच में ठहरकर रास्ता पूछना पड़ता। अन्त में हम वहां पहुंचे, जहां फ्लश से बाहर भेजा जाना वाला मल आता है। वस्तुतः वह यहां पाखाने की शक्ल में नहीं, बल्कि सेपटी टैंकों में गलकर पीले पानी के रूप में मोटे नलों द्वारा पहुंचता है। यहां बिजली के शक्तिशाली मोटर उसे उठाकर सीमेन्ट की नहरों में डाल रहे थे। नहरें उसे सहकारी फार्मों के खेतों में ले जा रही थीं। बिजली की इतनी शक्तिशाली मोटरों वाले घर को देखकर हमारे यहां का इंजीनियर सिर धुनेगा। घर की दीवार मिट्टी से लिपी बांस के चांचरों की थी। छत भी फूस की थी। वैसा कमरा २५-३० रुपये में आसानी से बन जायगा। दो या तीन कमरे थे। भला हमारे यहां का इंजीनियर कभी इतना नीचे गिर सकता! वह जरूर कहता कि ऐसे महत्वपूर्ण स्टेशन के लिए एक लाख की इमारत होनी चाहिए। क्या करें, चीन के कुओं में भांग पड़ गयी है। वे लोग यही सोचते हैं कि अनावश्यक खर्च नहीं करना चाहिए। अगर बिजली की मोटर झोंपड़ी में बैठने से इनकार नहीं करती है, तो उसके लिए हम क्यों महल बनायें?

जातीय संगीत अनुसन्धान संस्थान। यह संस्थान भी विशेष महत्त्व रखता था। मेरी दिलचस्पी लोक गीतों और लोक संगीत में थी। मैंने सोचा, वहां भी कुछ जानने की बातें मिलेंगी। इसलिए ५ सितम्बर को संस्थान में गया। यह पेकिङ् से १५ किलोमीतर दूर है। जिन संस्थाओं को बाहर रखा जा सकता है, उन्हें शहर के भीतर रखकर भीड़ बढ़ाने की क्या आवश्यकता? वह देहाती वातावरण में खेतों के बीच स्थित है। इसकी

स्थापना १९५२ में हुई थी। मकान अच्छे पक्के दोमंजिला, कोई-कोई तिमंजिला भी हैं। एक बड़ी इमारत जल्द ही बनने वाली थी। साठ कर्मचारियों में बीस महिलाएं हैं। सभी भारतीय नृत्य और संगीत से प्रभावित हैं। चीन में पहले भी हमारी कलाएं पहुंची थीं। हाल में जो कलाकार गये, उन्होंने उस स्मृति को जागृत कर दिया। यहां हान, तिब्बती, म्याउ, यी, थाई, मंगोल, च्वाङ्, उईगुर, तुङ्, कजाक और कोरियन जातियों के संगीत के सम्बन्ध में अनुसन्धान हो रहा है। सभी कर्मी हान हैं, इसलिए हान संगीत की ओर अधिक ध्यान जाये, तो आश्चर्य क्या? इस संस्थान का और विस्तार होने वाला है। तब और जातियों के भी संगीत पंडित यहां काम करने आयेंगे। पांच ही वर्ष पहले स्थापित इस संस्थान में ४०,००० पुस्तकों का होना बतलाता है कि इस ओर कितना अधिक ध्यान दिया जाता है। यहां के म्युजियम में २,००० वस्तुएं प्रदर्शित हैं। २०,००० गीत संस्थान ने संग्रह किये हैं। प्रदर्शित वस्तुओं में चीन के भीतर रहनेवाली सभी जातियों के प्राचीन और नवीन वाद्य-यंत्र हैं। उनमें से कुछ भारतीय वाद्य-यंत्रों से मिलते हैं। ११०० ईसा पूर्व से लेकर हाल तक की स्वरलिपियों का भी यहां अच्छा संग्रह है। कुछ स्वरलिपियां पत्थरों पर उत्कीर्ण मिली थीं।

६ की शाम को कहीं नहीं गया। श्रीलंका के राजदूत श्री गोपल्लव स्वास्थ्य के बारे में जानने के लिए आये। देर तक श्रीलंका, भारत, चीन के संबंध में बातें होती रहीं। कम्यून के विस्तार से वह भी प्रभावित थे।

७ सितम्बर को पूर्वाह्न में हम मार्कोपोलो पुल देखने गये। कुबलेखान के वक्त तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बरसों चीन में रहनेवाले प्रसिद्ध यात्री मार्कोपोलो से इस पुल का कोई सम्बन्ध नहीं है, लेकिन जापान ने मंचूरिया के बाद जब इधर की ओर पग बढ़ाया, तो यहीं दोनों सेनाओं की भिड़न्त हुई। विदेशी पत्रकारों ने इसका नाम मार्कोपोलो पुल रख दिया। पुल वैसे अच्छा, सफेद पत्थर का और पेकिङ् से ९ मील दूर एक प्रधान सड़क पर है। नीचे बहनेवाली नदी बहुत छोटी नहीं कही जा सकती। इससे आगे कुछ दूर पर पहाड़ियां हैं, जो देश की स्वाभाविक प्राचीर हैं। लेकिन गृह-युद्ध में फंसा विशृंखलित चीन, जापान का मुकाबला कैसे कर सकता

था? उसने मार्कोपोलो पुल के बाद पेकिङ् को अपने हाथ में किया। फिर नान्किङ्, शाङ्है को भी ले लिया और एक समय मुख्य चीन पर जापान का प्रभुत्व कायम हो गया।

प्राइमरी स्कूल। ८ सितम्बर को पहले तो अनेक परीक्षाओं के लिए अस्पताल में जाकर खून दे आया। फिर दस बजे तीइ-श्येन् श्याउ शू प्राइमरी स्कूल देखने गया। मंजुभाषिणी मुख्य अध्यापिका मा च्व-इन् ने स्कूल के बारे में बतलाते हुए कहा कि इसकी स्थापना १९१२ में एक आदर्श स्कूल के तौर पर हुई। इसमें छौ दर्जे हैं, जिनमें ८४० बच्चे (२१५ लड़कियां) पढ़ते हैं। अध्यापकों में २६ पुरुष और १५ महिलाएं हैं। स्कूल का वर्ष पहली सितम्बर से आरंभ होता है। एतवार को छुट्टी होती है और मई, जून और अक्तूबर की पहली तारीखों को भी राष्ट्रीय उत्सव के सम्बन्ध में छुट्टी मनायी जाती है। जाड़ों की छुट्टी १५ जनवरी से १५ मार्च तक रहती है और गर्मियों की १२ जुलाई से ३१ अगस्त तक। ६ साल के हो जाने पर ही बच्चे यहां दाखिल किये जाते हैं। पहले दर्जे में तीन घंटा (चार पीरियड) पढ़ाई का है। भाषा, गणित, ड्राइंग, गीत, व्यायाम और शारीरिक श्रम पाठ्य विषय हैं। प्रथम श्रेणी में लड़के ७०० अक्षर सीख जाते हैं। दूसरी श्रेणी में भी प्रायः वही विषय हैं और बालक ८०० अक्षर और सीख लेते हैं। आठ दिन पहले से प्रथम श्रेणी में रोमन अक्षरों का प्राइमर चलने लगा था।

श्रीमती मा ने गणित के बारे में बतलाया कि पहली श्रेणी में बीस के अंक तक जोड़-बाकी सिखलायी जाती है। दूसरे वर्ग में सौ तक और गुणा-भाग भी। चौथे में एक लाख तक का गुणा-भाग और पांचवें में और ज्यादा।

चीन में स्कूली शिक्षा बारह कक्षाओं की है। श्रीमती मा बतला रही थीं कि उसको घटाकर नौ वर्ष करने का विचार है। मातृभाषा में सारी शिक्षा होने से नौ वर्ष में सचमुच ही यहां के बच्चे हाई स्कूल की योग्यता प्राप्त कर सकते हैं।

९ सितम्बर को अस्पताल जाने पर डाक्टर चेङ् ने अस्पताल आने कहा, इसलिए मुझे फिर उसी अस्पताल में जाना पड़ा।

पुनः अस्पताल में

९ सितम्बर को ही सामान गोदाम में भेज मैं अस्पताल चला गया। अबकी उस कमरे में जगह मिली जिसमें पहले श्री बिशेन रहते थे। कोरिया और मंचूरिया जाने की भी बात चल रही थी। अभी कमला भारत से आयी नहीं थीं। तुङ्-ह्वान का आकर्षण था। पिछली बार बहुत सी नयी-नयी पुस्तकें पढ़ने को थीं। अबकी वह अवलम्ब भी नहीं था। इसलिए अपने विचारों में ही डूबना पड़ता था। बीमारी में सोचने के लिए और भी उत्तेजना मिली थी। ६६ की आयु में हृदय की बीमारी साधारण बात नहीं होती। मैं अपने मित्र महमूद जफर को देख चुका था। अन्तिम आयु में सन्तान के भविष्य का ख्याल मन में बार-बार आता था। उसी के लिए कमला को पढ़ाया था। वह साहित्यरत्न और एम. ए. हो चुकी थीं। अगले ही साल पी. एच. डी. कराने का निश्चय था। मैं यहां चला आया। सोचता था, भारत लौटकर पहला काम कमला जी का निबन्ध तैयार करवा कर यूनिवर्सिटी में भिजवा देना है। यदि उन्हें पढ़ाने की कोई अनुकूल नौकरी मिल गयी, तो चिन्ता का एक बड़ा भार उतर जायगा। नौकरी में एक यह दिक्कत भी थी कि बच्चे और कमला स्वयं सर्द पहाड़ी स्थान में पैदा हुए थे और गरम स्थान में दिन नहीं बिता सकते थे। मैदान में यदि कोई अनुकुल स्थान था तो देहरादून, जहां अपेक्षाकृत कम गरमी पड़ती है और जरूरत पड़ने पर मसूरी नजदीक है। सबसे अनुकूल स्थान उनके लिए दार्जिलिंग है। यही सब बातें दिमाग में आ रही थीं। १२ सितम्बर को मौसम बदला मालूम होता था। शरद का आगमन हो गया था। न पसीना आता था, न पंखे की जरूरत थी। कमला के पत्र में लिखा था कि मैं तीन महीने के लिए आ सकती हूं। मैंने उसी दिन तार भेजा —केवल दो महीने के लिए आओ। पासपोर्ट के लिए लखनऊ में मेरे मित्र श्री बलभद्र प्रसाद मिश्र भी बहुत कोशिश कर रहे थे। आनन्द जी ने पत्र में लिखा—मैं कमला को पेकिङ् तक पहुंचा देने के लिए तैयार हूं, पर उसके लिए निमन्त्रण चाहिए। इसमें कोई दिक्कत नहीं होती, बौद्ध संघ उसे भेज सकता था, पर अब समय नहीं था।

१३ सितम्बर को वर्षा हो रही थी। उसी दिन मसूरी से कमला का तार आया : "कमिंग आफ्टर पासपोर्ट सून" (पासपोर्ट मिलने पर तुरन्त आ रही हूं)। बड़ा सन्तोष हुआ—उन्हें और बच्चों को भी एक महीना चीन देखने को मिल जायगा। अभी भी पासपोर्ट नहीं मिला था। इसके लिए आश्चर्य हो रहा था। असल में चार जगहों का मेल होने पर ही पासपोर्ट मिलता। इसलिए देर होनी ही चाहिए थी। पेकिङ् को खटखटाया। दिल्ली में वैदेशिक विभाग और राष्ट्रपति के पास भी प्रार्थना की गयी। पासपोर्ट आफिस लखनऊ में था और कमला मसूरी में।

१५ सितम्बर को अस्पताल से छुट्टी मिली और मैं शिन्-चाउ होटल में चला गया। उसी २७० नम्बर के कमरे में जगह मिली। मन बहलाने के लिए इधर-उधर कहीं जाना चाहिए। श्री चाउ को लेकर उस दिन मैं विदेशी भाषा प्रकाशन गृह और पेकिङ् विश्वविद्यालय गया। वहां काम करने वाले चीनी तरुण-तरुणी की तत्परता देख बड़ा सन्तोष होता था। उनका हिन्दी ज्ञान बहुत ऊंचा था—जहां तक बोलने और समझने का प्रश्न है। लिखने या अनुवाद के लिए तो भाषा पर पूरा अधिकार होने की आवश्यकता होती है, जिसके पास वे पहुंच रहे थे।

विश्वविद्यालय में श्री पुरुषोत्तम प्रसादजी, प्रभा त्रिपाठी और दूसरे मित्रों से मिलने के बाद वर्माजी से विशेष तौर से बातें हुईं। उसी दिन निश्चय हो गया कि अगले दिन हमें तुङ्-हवान के लिए प्रस्थान करना है। इस बीच में यदि कमला आ जातीं, तो तै किया गया था कि उन्हें सिआन् में उतार कर तुङ्-हवान भेज दिया जाये। तुङ्-हवान मैंने उस समय देखा नहीं था। अन्तिम ४०० मील की जीप यात्रा भुगती नहीं थी, नहीं तो कभी यह सलाह न देता। संयोग ही समझिए, जो मेरे पेकिङ् लौटने के बाद ही कमला आ गयीं।



तुङ्-ह्वान की यात्रा

श्री चाउ के साथ १६ सितम्बर को हमने सिआन् की ट्रेन पकड़ी जो सबेरे नौ बजकर चालीस मिनट पर रवाना हुई थी। चेङ्-चाउ (होनान् प्रदेश की राजधानी) और लोयाङ् जैसे महत्वपूर्ण शहर इसी लाइन पर हैं। उनको हमने रात में पार किया। दाहिनी तरफ पहाड़ों की कालिमा दिखाई पड़ती थी और बायें समतल भूमि। फसल बहुत सी कट चुकी थी। एक मास पहले आया होता, तो यह शस्य श्यामला भूमि होती। सभी बड़ी ट्रेनों में रेस्तोरां (भोजन) कार होती है। पर हमारे यहां और चीन में अन्तर यह है कि हमारे यहां कुछ ही लोग रेस्तोरां कार का उपयोग करते हैं, जब कि चीन की इन गाड़ियों में धर्महल्ला होता है। श्रेणियां वहां पर भी दो-तीन हैं, लेकिन खाने के लिए सभी वहां जाना चाहते हैं। कारण यह है कि हमारे यहां के थर्ड क्लास के मुसाफिर अपने खाने के लिए उतना पैसा नहीं खर्च कर सकते, जितना कि रेस्तोरां-कार वाले लेंगे। चीन का हरेक मुसाफिर उतना खर्च कर सकता है। यदि आप मांस-मछली न लेकर चावल, रोटी, सब्जी और सूप लें, तो दाम भी बहुत कम लगेगा। चार घंटे में एक बार का भोजन समाप्त हो जाता है। यह बतला चुका हूं कि चीन में तीन बार और पूर्ण भोजन किया जाता है। पहला सात-आठ बजे, दूसरा एक-डेढ़ बजे, तीसरा सात-आठ बजे शाम को। श्री चाउ और मेरी सलाह हुई कि रेस्तोरां-कार में न जाकर अपने ही डब्बे में मेरे

लिए खाना आ जाये। रेस्तोरां-कार वाले इस प्रस्ताव से बहुत प्रसन्न हुए। मेहमान को किसी तरह की तकलीफ न हो, इसका उन्हें बहुत ध्यान रहता है। ज्यादातर लोग चीनी खाना खानेवाले थे। मेरे जैसे दो-चार ही थे, जो दूसरा खाना पसन्द करते। रसोइये सब तरह का खाना बनाना जानते थे और तजुर्बेकार थे। उन्होंने पूछ-पूछकर चीजें बनानी चाहीं। भारत में मांस-भरे और भाप में पके समोसे को हमने मोमो कहना सीखा था। तिब्बत में भी उसका यही नाम है, पर यहां उसे कहते हैं पाउत्त्व और मीठा मांस मिले ऐसे ही समोसे को पाउद कहते हैं। हमारे लिए पीकिङ् का उच्चारण अनोखा सा मालूम होता था, यद्यपि चीन के लोगों के लिए वह स्वाभाविक था। इसका कारण यह है कि अंग्रेजों ने दुनिया में कान्तन के उच्चारण को प्रसिद्ध कर दिया है। हवाङ्-हो (पीतगंगा) को वह ख्वङ्-खा कहते हैं और होपे को ख्वपे। रात को दृश्य अवश्य बदला होगा, पर उस परिवर्तन को हमने नहीं देखा। रेल किस समय पीत गंगा पार हुई, इसे भी नहीं जाना। १७ सितम्बर को सवेरे हम ऊंची-नीची जमीन पर जा रहे थे। वह जगह भी देखी जिसके पास पीत गंगा पर विशाल जलनिधि बन रही है। सभी भूमि हरी-भरी है।

सिआन

स्टेशन पर स्वागत के लिए श्री वू, एक भिक्षु तथा दूसरे भी कुछ सज्जन आये थे। वहां से हम सीधे नये बने छैमंजिले भव्य प्रासाद जैसे होटल की सबसे ऊपर की मंजिल पर पहुंचाये गये। चीन सरकार और जगहों पर तो बहुत मक्खीचूस मालूम होती है, पर वस्तुतः यह मक्खीचूसी नहीं, बल्कि देश में विशाल निर्माण खर्च के कारण अनावश्यक खर्च को कम करना है। मेहमानों में विदेशी अतिथियों का भी खयाल रहता है, इसलिए होटलों में बड़ी शाहखर्ची से काम लिया जाता है।

सिआन से आगे विमान से जाने के लिए कहा गया था। पर भीड़ के मारे उसमें जगह नहीं मिली, इसलिए हमें रेल से अगले दिन रवाना होना था। जो २०-२२ घंटे हमें मिले, उनका पूरा उपयोग करना आवश्यक

था। सिआन कोई मामूली शहर नहीं था। थाङ् के वैभवशाली राजवंश की यह राजधानी रहा था। शायद ७वीं-८वीं सदी में दुनिया में इतना बड़ा शहर कोई नहीं रहा होगा। उस समय इसका मुकाबला यदि कोई कर सकता था, तो वह कन्नौज ही था। थाङ् काल से पहले भी यह राजधानी रह चुका था। इसकी अंगुल-अंगुल जमीन सहस्राब्दियों के इतिहास को अपने भीतर संजोये थी। पांच हजार बरस पुराना इतिहास तो हाल ही में उद्घाटित हुआ। थोड़ा सा विश्राम करने के बाद मैंने वू महाशय के साथ प्रस्थान किया। सबसे पहले आज से पांच हजार वर्ष पहले के नवपाषाणयुगीन ग्राम को देखना था, जो नगर से बाहर पम्पू नामक गांव में है। मनुष्य नवपाषाण युग में आकर मनुष्य सा दिखाई पड़ता है। वह सुई से अपने चमड़े के कंचुक तैयार करता है। पहले पहल मिट्टी से बर्तन बनाता है। पहले ही पहल अनाज का उपयोग करता तथा मांस एवं अनाज को हांडी में पकाता है। शिकारी जीवन में वह बिल्कुल खानाबदोश (यायावर) था। उसका एक जगह घर नहीं होता था। नवपाषाण युग में वह अनाज की खेती शुरू करता है और खेत के खूंटे में बंध जाता है। उसकी स्वच्छन्दता लुप्त हो जाती है। दुश्मनों से बचने के लिए वह घरों के ग्राम (झुंड) में बसता है। यहां उसी तरह के एक गांव का अवशेष निकल आया। नीचे सारी ही चीजें मिट्टी की हैं। पक्की मिट्टी चूल्हों में ही दिखलाई पड़ती हैं। अब तक धरती माता ने अपनी गोद में छिपाकर पांच हजार बरस पुराने अवशेष को सुरक्षित रखा था। अब आदमी ने उस रक्षा कवच को निकाल फेंका है, इसलिए खुला रहने पर वह एक दो बरस में ही समाप्त हो जाता। सरकार इस बहुमूल्य निधि की कद्र जानती है। उसने सारे ध्वंसावशेष के ऊपर सीमेन्ट का विशाल भवन बना दिया है। रोशनी के लिए पूरा प्रबंध रखा गया है, जिससे दर्शकों को देखने में असुविधा न हो। उस समय लोग क्या खाते थे, वहां मिले अवशेषों से यह मालूम होता है। हरिन, सूअर, कुत्ते आदि उनके खाद्य थे। अनाज में कांगुन (प्रियंगु) उनका विशेष भोजन था। कांगुन को संस्कृत में प्रियंगु (गायों का प्रिय) कहा गया है। प्रियंगु को लेकर श्री चाउ से अजब मजाक रहा। हमारे यहां के नगर निवासी यह नहीं जानते कि कांगुन क्या बला है। उनमें

प्रायः किसी ने उसके पौधे को खेत में नहीं देखा। हमारे कवि मित्र शैर जंग जी स्वीकार करते हैं कि न उन्होंने कांगुन का नाम सुना और न उसके पौधे को देखा। श्री चाउ शहर के रहने वाले हैं। खेतों से उन्हें कभी काम नहीं पड़ा था। वह कांगुन को गेहूं कहते ही नहीं थे, बल्कि मुझे भी जबर्दस्ती मनवाना चाहते थे। मैं किसान-पुत्र ठहरा, मैंने कांगुन को देखा है। बचपन में उसके पीले-पीले सरसों जैसे छोटे सुन्दर दानों को भी देखा है। उसका ताजा चावल खाना पसन्द किया जाता है। भात का स्वाद तो नहीं जानता, पर दूध में पके कांगुन का स्वाद अब भी थोड़ा-थोड़ा याद आता है। वह बहुत प्रिय लगता था। वही कांगुन चीन के नवपाषाण युग के लोगों का प्रधान भक्ष्य अन्न था। श्री चाउ को पीछे अपनी गलती मालूम हुई। फिर जब कभी कांगुन देखने में आता, तो गेहूं कहने पर हम सब जोरों से हंस पड़ते।

कांगुन के अतिरिक्त चावल और जौ से भी इन लोगों का परिचय था। प्राचीन गांव में कुछ स्त्री-पुरुषों के कंकाल भी मिले, जिन्होंने सिद्ध कर दिया कि वे आधुनिक चीनियों के ही पूर्वज थे। उनकी गाल की हड्डियां, आंखों और सिर की बनावट आज जैसी ही थी। वे लोग पतली हड्डी को सुई की तरह इस्तेमाल करते थे। कई प्रकार के मिट्टी के बर्तन वहां पाये गये। इसी मिट्टी के पात्र से आगे चलकर उनके वंशजों ने प्रोसलीन (चीनी मिट्टी) के सुन्दर और महार्घ पात्र बनाये। यह स्थान इतिहास के विद्यार्थियों के लिए बड़े शिक्षणालय का काम देता है। कई बड़े-बड़े कमरों में वहां मिली चीजें सजायी गयी हैं। कुछ चीजों को यथास्थान रखा गया है। गांव के घर छोटे-छोटे थे। मालूम होता था एक ही विशाल घर की वह कोठरियां हों।

श्री वू इतिहास के पंडित हैं। यहां के पुरातत्व विभाग के वह अध्यक्ष हैं। ऐसे पुरुष से सम्पर्क होना मेरे लिए सौभाग्य की बात थी। म्युजियम की योजना सरकार के दिमाग में है, लेकिन पंचवार्षिक योजनाओं द्वारा देश की औद्योगिक उन्नति में चीनी जनगण इतना मग्न है कि वह उसको चार-छै बरस आगे के लिए रखना चाहता है। वू महाशय हमें एक बड़े संग्रहालय पैलिङ् मन्दिर में ले गये, जो नगर (मिङ्) प्राकार के पास

दक्षिण में है। मन्दिर में बहुत सी विशाल शालाएं हैं। शालाएं ही नहीं, आंगन भी मूर्तियों से भरे पड़े हैं। थाङ् वंश का कला और साहित्य में चीन में वही स्थान है, जो हमारे यहां के गुप्त या पल्लव वंश का। यह नगर छाङ्-आन् के नाम से उसी वंश की राजधानी रहा। यहां पर बहुत सी बुद्ध मूर्तियां हैं। चीन की कला पर बौद्ध धर्म छाया हुआ है, इसीलिए जो कला की प्रतीकें मिलती हैं, वह प्रायः सभी बौद्ध मूर्तियां हैं। बहुत सी सुन्दर बुद्ध प्रतिमाओं के सिर गायब थे। मुझे उस वक्त बनारस में दुर्गा-कुण्ड से सिकरौर आने वाली सड़क के पास रखी मुंडकटाबाबा की बुद्ध मूर्ति याद आयी। वह भी गुप्त काल की सुन्दर विशाल प्रतिमा है। तुर्कों ने उसे इस हालत में पहुंचाया था। चीन में किसने ऐसा किया? इसका जवाब श्री वू ने दिया: योरोपियनों, विशेषकर अमरीकनों ने सारी मूर्ति को ले जाने में असमर्थ हो पैसे देकर इन सिरों को कटवा मंगाया। शायद ये सिर अमरीका या इंगलैंड के किसी महल या म्युजियम में रखे हों। इस मन्दिर को कनफूशी (कन्फूशियस) देवालय कहते हैं। पर वैसी कोई मूर्ति नहीं दीख पड़ती। म्युजियम के रूप में परिणत इस मन्दिर में छिन् (२२१-२०६ ईसा पूर्व), हान् (२०६ ईसा पूर्व—२२० ईसवी), चाउ (५५२-५८७ ई.), सुई (५८१-६१८), थाङ् (६१८-९०७) राजवंशों के समय की बहुत सी सुन्दर मूर्तियां और दूसरी वस्तुएं संगृहीत हैं। एक शाला में दर्जनों विशाल शिला लेख हैं, जिनमें से एक पर भारतीय रंजन अक्षर और संस्कृत भाषा दिखाई पड़ती है। एक शिला लेख नेस्तोरीय ईसाइयों का परिचय देता है।

रात को नगर के पुरातत्व संचालक श्री वू महाशय से देर तक बातें होती रहीं। उन्होंने बतलाया कि थाङ् काल में छाङ्-आन बहुत दूर तक बसा हुआ था। नकशा दिखलाते हुए उन्होंने कहा कि आज जहां नगर बसा हुआ है, यहीं वह सुई और थाङ् वंश के समय भी था। पीछे बहुत सा भाग परित्यक्त होकर उजड़ गया। अब नगर बढ़ रहा है, परित्यक्त स्थानों में कारखाने और मकान तैयार हो रहे हैं। सिआन् वैसे बड़ा शहर था। आजकल उसकी जनसंख्या १२ लाख है। बिजली की मशीनों और सामान का यह सबसे बड़ा केन्द्र है। आबादी बढ़ती ही

जा रही हैं। होटल बहुत विशाल था। उसके पीछे की बड़ी-बड़ी इमारतें भी इसी में शामिल थीं।

रात को देर तक आज के देखे दृश्यों पर ही मन दौड़ता रहा। ह्वाङ्-हो की रजस्वला पीली धार। बुंदेलखंड में, विशेषकर जालौन (झांसी) की तरह ऊंचे-ऊंचे कगारों वाली बीहड़ भूमि तथा मिट्टी के पहाड़, जिनमें चित्रकूट के पास जानकी कुण्ड के साधुओं जैसी मिट्टी खोदकर बनायी कुटियां हैं। रास्ते में विशाल कांगुन के खेत हैं। कपास के खेतों की बहुतायत है तथा गांव और नगर के लोगों और स्त्री-पुरुषों की वेशभूषा में समानता। फिर खयाल आया, हर्षवर्धन के समय सातवीं शताब्दी में २० लाख का छाङ्-आन नगर एकदम वीरान होकर फिर से १२ लाख तक पहुंच गया है। उसकी जनसंख्या २० लाख तक पहुंचने में अब देरी नहीं लगेगी।

२८ सितम्बर का सबेरा हुआ। बूंदाबांदी हो रही थी। पर हमें तो १९५२ में बने रेन्-मिन्-तास्स (जनता होटल) में बन्द नहीं रहना था। पंकिल राजपथ पर आठ बजे ही चल पड़े। हमारा लक्ष्य था शिनकाउ-स्स बिहार जो यहां से २० किलोमीतर दूर था। यह कितने ही समय तक स्वेनचाङ् (हुएनशांग) का निवास स्थान था। स्वेनचाङ् ने भारत का कितना उपकार किया है? उनकी यात्रा-पुस्तक से सातवीं सदी के हमारे भूगोल-इतिहास पर बड़ा प्रकाश पड़ता है। नालंदा में वर्षों रहकर उन्होंने पढ़ा ही नहीं था, बल्कि उससे प्रेम करना सीखा था। उनसे सम्बन्ध रखने वाले बिहार का देखना हमारे लिए आवश्यक था। रास्ते में आबाद भूमि योरप के कुछ देशों की तरह ऊंची-नीची थी। दूर क्षितिज में शैल भी खड़े थे। बिहार एक पहाड़ की कोख में कुछ चढ़ाई चढ़के था। चढ़ाई अधिक कड़ी थी। बिचारी कार को ऊपर पहुंचने में बहुत दिक्कत हुई। स्थान बड़ा रमणीय और सुगम ढलवां भाग पर है। चहारदीवारी के भीतर स्तूप और मन्दिर हैं। एक बार थाङ् राजा के प्रकोप से स्वेनचाङ् ने भागकर भारत की यात्रा की, लेकिन जब लौटकर आये तो थाङ् सम्राट ने उन्हें सिर-आंखों पर बैठाया। पहले वह नगर (छाङ्-आन) के पास नायन्था (नालन्दा) में रहे। नालन्दा

उनको इतना प्रिय था कि छाङ्-आन् में भी उन्होंने अपने विहार को यही नाम दिया। पर स्वेनचाङ् को सैंकड़ों भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद करना था, छात्रों को पढ़ाना था। इन कामों के लिए यह जनाकीर्ण स्थान उपयुक्त नहीं था, इसलिए उन्होंने २० किलोमीतर दूर इस स्थान पर वास किया। विहार के महन्त (नायक स्थविर) म्यो-खो अस्सी वर्ष के थे। लेकिन अब भी स्वस्थ और सब चीजों को दिखलाने में युवकों को मात कर रहे थे। साठ बरस पहले वह यहां आकर भिक्षु बने। तब आज का दृश्य नहीं था। सभी चीजें टूटी-फूटी थीं। उनमें लगन थी। अपने धर्म और संस्कृति और महान नेता स्वेनचाङ् के प्रति अपार स्नेह था। उन्होंने अपनी पढ़ाई जारी रखी। फिर विहार के जीर्णोद्धार के काम में लग गये। कम्युनिस्ट शासन के पहले सरकार से कोई सहायता नहीं मिली। अब तो चीन सरकार स्वेनचाङ् से सम्बद्ध हरेक वस्तु के मूल्य को समझती है। नालंदा में उनकी स्मृति को पुनःस्थापित करने के लिए उसने लाखों की सहायता दी है। यह जानकर मुझे और भी प्रसन्नता हुई कि भारत में मिले भिक्षु फा-फाङ् इन्हीं महा-स्थविर के शिष्य थे। फा-फाङ् भारत और लंका में वर्षों रहे। वह अपने को तैयार कर रहे थे कि चीनी भाषा में सुरक्षित भारतीय पुस्तकों को भारतीय भाषा में लाया जाये। पर वह असमय ही चल बसे।

बीस किलोमीतर भाग आने पर भी फिर वही भीड़ स्वेनचाङ् ने यहां देखी। इस पर यहां से १५० किलोमीतर दूर नी-च्वेन चले गये। वहीं उनका देहान्त हुआ। उनकी भस्म को नायन्था, शिन्-काउ और नी-च्वेन तीनों स्थानों पर रखकर उनपर स्तूप बनाये गये। इस विहार में १९ से ८० वर्ष तक के छै भिक्षु रहते हैं। पहले भी भिक्षुओं की संख्या बहुत नहीं थी। हाते में बहुत सी जमीन थी। उसको उत्पादन-हीन रखना आज के चीन में क्षम्य नहीं समझा जा सकता, इसलिए उसे गेहूं के खेतों में परिणत कर दिया गया है। मैंने कहा—इससे अच्छा होता, यदि इसे फल के बगीचों में बदल दिया जाता। महास्थविर ने बतलाया—यहां समय-समय पर उपासक, उपासिकाएं (बौद्ध गृहस्थ) पूजा के लिए आते हैं। लायब्रेरी में पुस्तकों का अच्छा संग्रह है। स्वेनचाङ्

का स्तूप सुन्दर है। चीन में जो बौद्ध स्तूप दिखाई पड़ते हैं, उनमें स्तूप और शिखरदार मन्दिर का मिश्रण होता है। सारे चीन में इनकी संख्या हजारों होगी।

नायन्था (नालंदा)। लौटते वक्त बूंदा-बांदी नहीं थी, पर रास्ता पंकिल था। सड़क पक्की थी। कुछ कीचड़ उछल आयी थी। एक लड़की को काठ का पौआ पहने जाते देखा—भारत के गांव का बरसाती दृश्य स्मरण हो आया। हमारे यहां जैसे बद्री वाले पौंए (खड़ाऊं) इस्तेमाल किये जाते हैं, वैसे ही यहां भी थे। यही बात जापान की भी है। पौंआ का प्रसार इतनी दूर तक कैसे हुआ? आखिर हम १५-१६ किलोमीतर चलकर नायन्था (नालन्दा) बिहार पहुंचे, जो नगर से ४ किलोमीतर दूर है। कहते हैं, इसे पुस्तकों की रक्षा के लिए स्वेन्‌चाङ्‌ ने स्वयं बनवाया था। स्वेन्‌-चाङ्‌ ६६५ ई. में मरे। उससे पहले की यह इमारत है। बिहार के नायक भिक्षु थुङ्‌-श्वेन्‌ ५२ वर्ष के हैं। दूसरे सात भिक्षु २८ से ७० वर्ष की आयु के हैं। नायक बड़े ही नम्र और तरुणों जैसे उत्साही मालूम होते थे। उन्होंने यहां के बारे में कितनी ही बातें बतायीं। स्तूप सातमंजिला, ६४ मीतर ऊंचा है। इसका निर्माण ६५२ ईसवी में अर्थात्‌ स्वेन्‌चाङ्‌ की मृत्यु से १२ बरस पहले हुआ था। १,२०० बरस पुराना होने पर भी सीधा खड़ा है। भारत में इतनी उम्र की इमारतें कितनी हैं? बीच में हो सकता है, कुछ मरम्मत हुई हो। स्तूप में एक जगह काले पत्थर की पट्टी में रेखांकित बुद्ध मूर्ति है जो भारतीय कला से प्रभावित और सम-कालीन कही जाती है। प्रत्येक मंजिल के कोनों पर घंटिकाएं हैं, जो हवा के झोंके से शब्दायमान होती हैं।

नरेन्द्रयश के सम्बन्ध में मैंने "विस्मृत यात्री" उपन्यास लिखा है। नरेन्द्रयश ने अपना अन्तिम जीवन छङ्‌-आन्‌ में बिताया, इसलिए उनके बारे में जानने की मेरी बहुत इच्छा थी। एक और पुराना बिहार ता-शिन्‌-शान्‌ देखने गया। वहां के भिक्षुओं ने उन सब भारतीय भिक्षुओं का नाम पट्टिका पर लिख रखा था, जो इस बिहार में रहे थे। उनमें ना-लेन्‌-श्री-ली-य-श और च्वे-ना-चेतो (जिनगुप्त)—दोनों समसामयिक भिक्षुओं का नाम मौजूद था। बिहार की इमारतें उतनी पुरानी नहीं हैं, परन्तु मूर्तियां

पुरानी और विश्वसनीय हैं। बिहार में भिक्षु कम थे, पर वह अच्छी अवस्था में था। सरकार भी उसके महत्व को समझती है। इस भूमि में उत्खनन होने पर उस काल की और भी वस्तुएं मिल सकती हैं।

ई-चिङ् भी यहीं के थे। श्री वू ने उनके बिहार को भी दिखाया। इसका नाम स्याउ-एन्-था है। यहीं इस महान् यात्री ने अनेक ग्रन्थों का अनुवाद किया। फा-शीन् (फाहियान्), स्वेनचाङ् (हुएनशांग), ई-चिङ् (इत्-सिङ्) महान यात्री थे, जिनके यात्रा विवरण भारत के लिए अनमोल निधि हैं। ई-चिङ् का स्मारक तेरहमंजिला और ४५ मीतर ऊंचा एक स्तूप है, जो ६६६ ई. में बनाया गया था। १५५५ ईसवी में बिजली गिरने से स्तूप फट गया। च्यांग काई-शेक के राज्य में उसके जनरल हू-चुङ्-वाङ् ने यहां के भिक्षुओं को भगा दिया और अपने सिपाही तथा घोड़े रखे। सरकार इसकी मरम्मत में जल्दी ही हाथ लगाने वाली है। स्तूप बोध गया के मन्दिर से कुछ समानता रखता है।

लन्चाऊ

पेकिङ् के उच्चारण के अनुसार लन्टाउ कहना चाहिए, लेकिन तिब्बत के लोग भी इसे लन्-चाउ कहते हैं, इसलिए मैं इसी उच्चारण को दे रहा हूं। पेकिङ् से जिस ट्रेन पर हम आये थे, वह लन्-चाउ तक जाती थी। कल वह दो घन्टा लेट आयी थी, पर आज ठीक डेढ़ बजे हमें लेकर वह आगे बढ़ी। श्येन्सी की इस भूमि में पहाड़ भी हैं, पर इस जगह वह दूर दिखाई पड़ते थे। ट्रेन के पास आने वाले पहाड़ मिट्टी के थे। मिट्टी के पहाड़ों में खोदकर कोठरियां बना लेना आसान है, सिर्फ दरवाजे की जरूरत होती है। छत के लिए लकड़ियों व दीवार के लिए ईंटों की आवश्यकता नहीं होती। पर कोठरी एक ही बन सकती है। अधिक भीतर खोदने पर अन्धेरा आजायेगा। गरीबों के लिए एक कोठरी काफी थी। धनी गुहावासी नहीं थे। गांव में उनके कलापूर्ण सौध दिखाई पड़ रहे थे। अब यह कोठरियां प्रायः सूनी हो गयी थीं, आजके [illegible] के योग्य नहीं थीं। फसल खड़ी थी। अब तक अन्धेरा नहीं हो गया, हम

तक हम इस दृश्य को देखते रहे। मिट्टी के पहाड़ों के बाद जो पहाड़ आये, उनपर भी मिट्टी बहुत थी।

ट्रेन को ६ बजे लन्-चाउ पहुंचना था, पर वह ११ बजे पहुंची। स्टेशन पर स्वागताधिकारी श्री शू और स्थानीय भिक्षु संघ के प्रधान वृद्ध भिक्षु लेने आये थे। हम कार में १६५५ में बने सतमंजिले महाप्रासाद जैसे होटल के ४१० नम्बर के कमरे में टिकाये गये। इसमें दो कमरे थे, एक बैठने-उठने और दूसरा सोने के लिए। दस साल पहले इस शहर की आबादी ढाई लाख थी। अब सात लाख से भी अधिक है। इसमें शक नहीं कि पांच ही साल में वह सिआन् के बराबर हो जायगी। निर्माण का काम बड़े जोरों से हो रहा था। स्टेशन से चलते ही हमने देखा कि फैक्टरियां और श्रमिक निवासों के ढांचे खड़े हो रहे हैं।

नगर में १५ बौद्ध बिहार हैं, जिनमें ५ भिक्षुणियों के हैं। भिक्षुओं की संख्या ३० है। लामा (तिब्बती) बिहार नगर से दूर है। मस्जिदें २० और गिरजे ८ हैं। भोजन आदि से निवृत्त हो हम परिदर्शन के लिए निकले। पहले ऊ-छेन्-शान् पर्वत के नीचे मान्नी बिहार देखने गये। यह थाङ् या सुङ् काल में बना था। जिस पर्वत की जड़ में इसका निर्माण हुआ, उसका ऊपरी भाग वृक्ष-वनस्पति शून्य था, पर अब ऊपर तक वन लगाया गया है। अभी पेड़ छोटे-छोटे हैं, लेकिन दस साल में बड़े हो जायेंगे। निम्न भाग में पहले ही से वृक्ष-वनस्पति थे। छोटी धारा कलकल करती नीचे की ओर उतर रही थी। पानी अत्यन्त शुद्ध और शीतल था। कश्मीर का कोई सुन्दर भाग याद आता था। यह अतिरमणीय स्थान नगर के पास ही में अवस्थित है। इसका उपयोग नागरिक क्यों न करते? वह यहां पिकनिक के लिए आते हैं। मुख्य मन्दिर अवलोकितेश्वर आदि तीन बोधिसत्वों का है। उसके अतिरिक्त और भी मन्दिर हैं। सात-आठ बरस पहले कामचोरों के शासन में यह अवस्था नहीं थी। मन्दिरों की मरम्मत ही नहीं हुई है, बल्कि नया रंग भी किया गया है। मिन्-दाङ् भिक्षु नायक हैं, चार और भिक्षु यहां रहते हैं। चीन के लिए भारतीय नाम चमत्कार ठहरा। वह बिना आतिथ्य किये कैसे छोड़ सकते थे? छाया में बैठे। फल और चाय आयी। मुझे शीतल जल अधिक पसन्द था, पर

फिर यह लेक्चर शुरू हो जाता—ठंडा पानी बीमारी का घर है। इसलिए अब पी। मंदिर की छत ल्हासा में ७वीं सदी में बनी प्रसिद्ध मंदिर जो-खङ् जैसी थी।

मालूम हुआ, इस नदी के पार येन्-थाई रेन्-मिन्-कोन्सा (कम्यून) हैं। रेन्-मिन् का अर्थ जन या लोक और कोन्सा चीनी में कम्यून को कहते हैं। अभी तक कम्यून का नाम भर सुना था, किसी कम्यून को अपनी आंखों नहीं देखा था। इसलिए येन्-थाई जनकम्यून को देखने की मेरी इच्छा प्रबल हो उठी। ली शू ने खुशी से दिखलाना पसन्द किया। इसके विषय में मैं अपनी पुस्तक "चीन के कम्यून" में लिख चुका हूं अतः उसे दोहराना नहीं चाहता।

यदि सिआन् में विमान मिल गया होता तो लन्-चाउ देखना मुश्किल होता। यहां से च्यु-छाङ् रेल से भी जा सकते थे। लन्-चाउ से मध्य एशिया—सोवियत रेलमार्ग बन रहा है। वह च्यु-छाङ् से बहुत आगे तक बन चुका है। १९६० में पेकिङ् से रूस जाने वाले इस रास्ते को भी इस्तेमाल किया करेंगे और पेकिङ्-मास्को ट्रेन खुल जायेगी। लन्-चाउ से सोवियत के भीतर तक विमान आता-जाता है। सिङ्-क्याङ् की राजधानी उरूम्ची सिर्फ राजधानी के तौर पर नहीं, बल्कि औद्योगिक केन्द्र के कारण भी महत्वपूर्ण स्थान रखती है। वहां तक विमान जाते हैं। सबेरे कुछ अंधेरा रहते सात बजे से पहले ही हम हवाई अड्डे पर पहुंचे। विमान सवा सात बजे चला। "कमखर्च वालानशीन" को चरितार्थ करते हुए, यहां के हवाई अड्डे में अवतरण मार्ग पक्के या सीमेन्ट के नहीं हैं। कच्ची मिट्टी का मैदान ही पर्याप्त समझा जाता है। पीत गंगा के ऊपर से हमारा विमान उड़ा। लन्-चाउ उपत्यका दिखाई दे रही थी, जो चारों तरफ पहाड़ों से घिरी थी। पहाड़ यहां शैल (पथरीले) थे।

तुङ-ह्वान

तुङ्-ह्वान् चीन की अजन्ता है भारतीय संस्कृति और कला का विद्यार्थी अजन्ता देखे बिना भारत से लौट जाये तो उसकी यात्रा बिल्कुल

अपूर्ण समझी जायेगी। वही बात चीन की संस्कृति और कला के विद्यार्थी के लिए होगी, यदि तुङ्-ह्वान् गये बिना वहां से लौट आये। मैं अपने साढ़े चार महीने की चीन यात्रा को कभी पूर्ण नहीं समझ सकता था, यदि तुङ्-ह्वान् को न देख पाता। अजन्ता प्रायः ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी से सातवीं-आठवीं सदी तक निर्मित होती रही। अजन्ता की बहुत सी गुफायें और चित्र भी तैयार हो चुके थे, जबकि चौथी-पांचवीं सदी में तुङ्-ह्वान् में निर्माण आरंभ हुआ। इस प्रकार यद्यपि तुङ्-ह्वान् आयु में तीन-चार शताब्दी पीछे का है, पर उसकी गुफाओं, मूर्तियों और चित्रों का निर्माण चौदहवीं शताब्दी तक होता रहा। तुङ्-ह्वान चीनी कला के हजार वर्ष के विकास का संग्रहालय है। यद्यपि उसके ऊपर भी धर्मान्धों और विद्यांधों दोनों का हाथ पड़ा है, पर अभी भी विशाल सामग्री वहां मौजूद है। धर्मान्ध तुर्क एक-दो बार वहां पहुंचे थे, जिससे तुङ्-ह्वान् को क्षति पहुंची। विद्यांधों में ओरेल स्टाइन का नाम लिया जाता है। वह कितने ही भित्ति-चित्रों को उखाड़कर ले गये। किसी बड़ी मूर्ति को हटाने में अपने को असमर्थ देख वह मूर्ति के सिर को ही काट ले गये। आजकल का चीनी शिक्षित वर्ग स्टाइन के इस अपराध को क्षमा करने के लिए तैयार नहीं है, चाहे उनकी गवेषणाओं को वह सम्मान की दृष्टि से ही क्यों न देखता हो।

तुङ्-ह्वान् पेकिङ् से हजार मील से अधिक दूर है। वह हमारे दार्जिलिंग के सीधे उत्तर शायद उतनी ही दूर पर पड़ेगा। हृद्रोग के कारण डाक्टर मुझे इस यात्रा के लिए आज्ञा देने में हिचकिचा रहे थे। पर मेरा आग्रह भी जबर्दस्त था। अन्त में उन्होंने स्वीकृति दी और हम १६ सितम्बर को रेल से सिआन के लिए चल पड़े। दुभाषिया साथी चाङ जैसे कलाविद् और संस्कृति-साहित्य प्रेमी मिले। अगले दिन हम सिआन पहुंचे। यद्यपि पेकिङ् से तार द्वारा सूचना दे दी गयी थी, पर लनचाऊ के विमान में स्थान नहीं मिल सका और हम १८ को रेल द्वारा प्रस्थान करके १६ को लनचाऊ पहुंचे। वहां से चीन गणराज्य के पश्चिमोत्तर छोर तक विमान जाता है। हमारे लिए जगह सुरक्षित थी। न होती तो यहां से चार सौ किलोमीतर पर स्थित च्यु-छाङ् तक रेल से जाना पड़ता। यह मध्यएसिया होकर सोवियत सीमा तक पहुंचने वाले नये रेल मार्ग पर स्थित

हैं। २० सितम्बर को सवा ७ बजे सवेरे विमान उड़ा। हवाई अड्डा विशाल था, पर सब कच्चा था। जबतक आवश्यक न हो, तब तक खर्च में पूरे संकोच से हाथ डालना, यह चीनी गणराज्य का सिद्धान्त है। लनचाऊ चारों ओर पहाड़ों से घिरा है।

पहले नंगे पहाड़ मिले, जिनपर मनुष्य ने जंगल लगाने का गंभीरता से प्रयत्न शुरू किया है। पर यह ऐसा प्रदेश है, जहां आदमी कम और भूमि अधिक है। पहले सुङ्-शान् पर्वतमाला मिली, फिर ची-लिन्-शान् आदि। ची-लिन्-शान् को हिमालय कहना चाहिए। तिब्बत वस्तुतः चारों ओर से हिमालयों से घिरा हुआ है। साढ़े सात बजे हमारा विमान जिन पहाड़ों के ऊपर से उड़ रहा था, वे देवदार से ढंके थे, यानी वहां लकड़ी का कोई अभाव नहीं था। बीच-बीच में नदियों के किनारे विस्तृत उपत्यकाओं में एक-दूसरे से बहुत दूर गांव बसे हुए थे। छोटे-छोटे कोलों की जगह विशाल खेत बतला रहे थे कि यह सहकारी गांव है। सितम्बर के तीसरे हफ्ते तक चीन के बहुत से जिले सहकारी खेती की जगह जन-कम्यून के प्रबन्ध में आ गये थे। पर इधर उनके पहुंचने में एक-डेढ़ महीने की देर थी। आठ बजे फिर हमारे नीचे वृक्ष-वनस्पति हीन पहाड़ थे। हमारे दाहिने, यानी उत्तर दिशा में मरुभूमि थी जो आगे बढ़ने की ताक में बैठी थी। पर अब इन मरुभूमियों के जमाने लद गये हैं। वहां गिरे एक-एक बूंद पानी को बेकार न जाने की प्रतिज्ञा चीन में की जा चुकी है। इसका पालन भी बड़े पैमाने पर हो रहा है। खेतों के बीच से हर जगह नहरें जाती दिखाई पड़ती थीं। कुछ जगहों पर नदी की छिछली बालुकामय धार में पानी बिखरा हुआ था, जो यही बतला रहा था कि प्रतिज्ञा पूरी तरह से पूर्ण नहीं हुई है। इस मरुभूमि को देख मुझे याद आ रहा था कि इसका सम्बन्ध चीनी मध्येशिया होते सोवियत मध्येशिया के विशाल रेगिस्तानों—कराकुम् और किजिलकुम् से है। बीच में थोड़ी दूर तक सम्बन्ध विछिन्न है। सोवियत के रेगिस्तानों के आगे थोड़ी सी भूमि छोड़कर फिर ईरान की प्यासी भूमि आ जाती है, जिसका सम्बन्ध थोड़े से अन्तर के साथ बलूचिस्तान के रेगिस्तानों से और फिर सिंध के कुछ भाग को छोड़कर राजस्थान की मरुभूमि के साथ है। युगों तक चीन का रेगिस्तान चाहे अनुत्पादक बड़ा

हो, पर अब तो वह अपने नीचे से रत्नराशि उगल रहा है। इसके भीतर जगह-जगह मिट्टी के तेल और पेट्रोल के कुएं बन गये और बनते जा रहे हैं। जहां यह सम्भव नहीं है, वहां भी खरदा (खरबूजा), नासपाती, सेव, अंगूर के फल इतने मीठे होते हैं, जिनका मुकाबला दूसरे देश शायद ही कहीं करते हों।

६ बजकर ४० मिनट पर अर्थात् ढाई घन्टे में हमारा विमान च्यु-छाङ् अड्डे पर उतरा। यहां का दृश्य मुझे बिल्कुल ईरान सा दीख पड़ रहा था। उसी तरह के तृणहीन छोटे-छोटे पहाड़ दूर-दिगन्त में दिखाई पड़ते थे। उसी तरह जलहीन नदियों की चौड़ी धारायें थीं। उसी तरह मिट्टी की दीवार और छतवाले घर गांव में दिखाई पड़ते थे।

तुङ्-ह्वान् के एक अधिकारी हमारे स्वागत के लिए अड्डे पर तैयार थे। भोजन हुआ, फिर ११ बजे यात्रा आरंभ हुई। इस भूमि में सड़क बनाना कठिनाई का काम नहीं है। बर्फ कुछ अधिक पड़ती है और पहाड़ों में वह और भी उदार होती है। इस चिरप्यासी भूमि के कंठ को तर करने के लिए बस यही हिमद्रवित जल है। पहाड़ दूर-दूर हैं और सड़क उनके किनारे कभी-कभी पहुंचती थी। हवाई अड्डा छोड़ने के आध घंटे बाद हम चीनी महादीवार के पास पहुंचे। १५-१६ सौ मील लम्बी महादीवार का छोर यहीं पर था। यहां भी ८-१० गज चौड़ी दीवार खड़ी थी। इसकी मिट्टी को गीली करने के लिए बहुत जल की आवश्यकता पड़ी होगी। जीप उसके द्वार के भीतर से चली। द्वार क्या, एक पूरा महल था जिसकी मरम्मत शायद पिछली आधी शताब्दी में बहुत कम हुई है। पर वर्षा के अभाव के कारण यहां की इमारतें दीर्घजीवी होती हैं। दूर-दूर पर कभी कोई भूला-भटका गांव मिल जाता। मकान वही पुराने मिट्टी के, पर साफ सुथरे थे। नरनारियों के शरीर पर शौकीनी के वस्त्र नहीं थे, पर वे सु-आच्छादित थे। उनके शरीर में हड्डी कहीं से नहीं दिखलाई पड़ती थी। पुराने जमाने में बीच-बीच में मार्ग रक्षा के लिए पुलिस या फौज के किलेबन्द अड्डे थे। यहां एक या अधिक विशाल सरायें अवश्य रहती थीं। अब ये इमारतें ढह-ढिमला चुकी हैं। पर आज से ढाई हजार वर्ष पहले यह दुनिया का सबसे लम्बा और मूल्यवान व्यापार मार्ग था। उन्नीसवीं शताब्दी

के पूर्वार्ध तक यह चालू रहा। इस मार्ग पर एशियाई ही नहीं, योरोपीय व्यापारी भी अपने कारवां के साथ आया करते थे।

२८३ किलोमीतर पार करने के बाद अनशी कस्बा मिला। यहां ४ हजार आदमी बसते हैं। पुराने जमाने में इसकी आबादी और रही होगी। अनशी अब श्याङ् (इलाके के) कम्यून का हेडक्वार्टर है। पूरे कम्यून की आबादी चालीस हजार है। कम्यून की सबसे बड़ी पहचान यह होती है कि वहां के लोग बड़ी संख्या में चींटियों की तरह कार्यनिरत दिखाई पड़ते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि उन्हें दिन में सात-आठ घंटे से अधिक काम करना पड़ता है। पर जब वे काम करते हैं तो अदम्य उत्साह के साथ। जीप धूल का तूफान उड़ाती चल रही थी। पूरी धूल हमारे ऊपर नहीं पड़ रही थी, पर जितनी पड़ रही थी, वह धूसरित करने के लिए काफी थी। सड़क ऐसी थी जिसमें कार से चलने पर मुसीबत आ सकती थी, इसलिए हमें सर्वत्रगामिनी जीप मिली थी। अनशी में आध घंटा विश्राम करने के लिए हम ठहर गये। बस्ती को भीतर से देखा। कम्यून के अतिथिगृह की सफाई और मक्खियों का न होना बतला रहा था कि नवीन चीन की छाया यहां भी पूरी पड़ चुकी है। दो हजार वर्ष पूर्व यहां चीनी लोग नहीं रहते होंगे, पर अब तो एकमात्र वही दिखाई पड़ते हैं। चाय से स्वागत या बातचीत आरंभ करना चीन का सर्वमान्य धर्म है। यद्यपि ४ हजार फीट से ऊपर होने के कारण यहां सितम्बर के महीने में गर्मी की शिकायत करना उचित नहीं होगा, पर हरियाली से शून्य दिगन्त को देखकर आंखें अवश्य गरमी महसूस कर रही थीं। श्री चाउ ने कोशिश की कि कहीं से एक खरबूजा या दूसरा फल मिल जाये, पर नहीं मिला। मिले कैसे, जब कि दूकान में आते ही गाहक पहले ही से भीड़ लगाये रहते हैं।

४ बजे हमारी यात्रा फिर आरंभ हुई। यह भूमि देखने से भले ही रेगिस्तान सी मालूम होती हो, पर यहां बालू नहीं मिट्टी है जो जल के अभाव के कारण कण-कण बिखरी हुई है। रास्ते के गांव में नहरें बह रही थीं और कहीं-कहीं पानी जरूरत से अधिक मालूम हो रहा था। पानी की समस्या तो हल हो जा सकती है, पर इस निर्जन भूमि को बसाने के लिए आदमियों की बड़ी समस्या है। चीन के पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी प्रदेश

बहुत घने बसे हुए हैं। वहां के तरुण-तरुणियां भी बड़े साहसी हैं। इसमें शक नहीं कि इस निर्जन भूमि को आबाद बनाने में दिक्कत नहीं होगी। सवा छै बजे हम तुड्-ह्वान् पहुंचे। तुड्-ह्वान् शहर आठ-दस मील आगे था। हमें वहां जाने की आवश्यकता नहीं थी, इसलिए बगल की सड़क पर प्रायः उतने ही मील चलकर पहाड़ों के भीतर दाखिल हुए।

विद्वान और स्वयं कलाकार शाङ् महाशय यहां के संचालक थे। उनके कथनानुसार तुड्-ह्वान् में कभी कोई गांव नहीं बसा। यहां सदा भिक्षु ही रहते आये। जब वर्षा वृष्टि होने का नाम न हो, तो सीमेन्ट और चूने की दीवारों की जरूरत नहीं रह जाती है। इस पुनीत स्थान पर दुनिया के कोने-कोने के यात्री आते हैं। उनके आराम के खयाल से सरकार ने कुछ अतिथिगृह बनाये हैं, जिनकी संख्या बढ़ती जा रही है। बिजली भी लग चुकी है। हो सकता है कुछ सालों बाद कोई दुमंजिला-तिमंजिला होटल भी तैयार हो जाये। तुड्-ह्वान् गुहा के पास की भूमि सूखी नहीं है। बर्फानी जल की एक पतली नहर बीच से बहती है। जल का स्वाद मधुर नहीं है, पर वह सुशीतल है। अतिथिगृह में यात्री के आराम की सभी चीजें थीं—अच्छा साफ-सुथरा नरम पलंग, कुर्सियां, मेज और आल्मारियां। पर चार सौ किलोमीतर की धूल हमारे देह पर सवार थी, इसलिए सबसे पहले नहाने की इच्छा हुई। अतिथिगृह में स्नान-कोष्ठक का प्रबन्ध नहीं था, पर शाङ् महाशय ने एक दूसरे कमरे में प्रबन्ध करवा दिया। पानी गरम था, पर हमें नहाने में संकोच हो रहा था। सोच रहे थे, धूल क्या खा थोड़े ही जायेगी। रात्रि भोजन शाङ् महाशय के साथ हुआ। वह छै बरस तक पैरिस में रहे, फ्रेंच के अतिरिक्त कुछ अंग्रेजी भी बोल लेते थे। पानी के अभाव के कारण नदी तो नहीं कही जा सकती थी, लेकिन वह काफी चौड़ी थी। उसके पार कितने ही मिट्टी के स्तूप भारतीय (या तिब्बती) ढंग के थे, जो चौदहवीं शताब्दी में मंगोलों के शासन काल में बने थे। उनकी आयु और स्थिति को देखकर अचरज करने की जरूरत नहीं थी। हमारे घर के पिछवाड़े एक मिट्टी का स्तूप आठवीं शताब्दी में बना था, जो अब भी स्वरूप था। उस दिन गुहाओं की पंक्तियों को दूर से ही देखकर संतोष कर लिया, क्योंकि २१ और २२ सितम्बर को भी हमें यहीं रहना था।

चीन की अजन्ता

यह स्थान समुद्र तल से चौदह सौ मीतर अर्थात पांच हजार फुट से अधिक ऊंचाई पर है। इसलिए साल के किसी समय में गर्मी की सम्भावना नहीं है। जिस पहाड़ी में गुहायें खुदी हैं, वह नरम पत्थरों और रोड़ों की है। शायद इसी कारण इसे गुहा खोदने के लिए चुना गया। गुहाओं की संख्या ४८० है, अर्थात अजन्ता से पांच गुनी। शाङ् महाशय कह रहे थे कि संख्या ५०० से कम नहीं होगी। नीचे खुदाई करने पर उन्हें एकाध गुहायें मिली थीं। पहाड़ी के पार बालुकामय भूमि है। हवा तेज होने पर वह बालू को उड़ाकर इस तरफ की गुहाओं को मूंदने की कोशिश करती है। जो गुहायें आज खुली हैं, उनमें से भी कितनी ही कुछ वर्ष पूर्व बालू में डूबी और बालू से भरी थीं। शाङ् महाशय ने बालू हटवाकर एक गुहा खाली करवाई। टार्च से देखने पर दीवारों के भित्ति-चित्रों को देखकर आंखें चौंधिया गयीं। रंगसे मालूम होता था, जैसे कल ही चित्रकारी समाप्त हुई है। बहुत खुशी हुई। पर दो दिन बाद देखा कि सारे चित्र लुप्त हो चुके हैं। हवा और ताप के खतरे से बालू ने इन चित्रों को सुरक्षित रखा था। शताब्दियों बाद जब इन्हें अपने शत्रुओं से सामना करना पड़ा, तो उनके सामने वह टिक न सके। श्री शाङ् कह रहे थे कि जब तक चित्रों की सुरक्षा का कोई उपाय नहीं निकलता, तब तक नीचे दबी गुफाओं को खोलना महापाप होगा।

तुङ्-ह्वान गुहा संरक्षण संस्थान में १० कलाकार विद्वान काम करते हैं। मरम्मत के लिए १० स्थायी कमकर हैं। वैसे काम देखकर कमकरों की संख्या बढ़ायी जा सकती है। पत्थरों की नरमी के कारण गुहा की खुदाई में उतने परिश्रम की आवश्यकता नहीं पड़ी होगी, जितनी कि अजन्ता और एलोरा के कठिन संगखारा के पत्थरों को काटने में पड़ी होगी। पर इस नमी के कारण ये पत्थर भंगुर भी हैं। कई जगहों पर उनकी स्वाभाविक आकृति की रक्षा करते हुए सीमेन्ट की रक्षा दीवारें खड़ी की गयी हैं। २१ सितम्बर को हम २७ गुहायें देख सके। शाङ् महाशय स्वयं पथप्रदर्शक थे। रात्रि के समय घंटों हमारी ज्ञान-चर्चा चली, इससे उन्हें मालूम हो गया था कि

मध्य एशिया के इतिहास से मेरा काफी परिचय है। मुझे भी मालूम हो गया था कि शाङ् निरे कलाकार और विद्वान ही नहीं हैं, बल्कि एक उच्च आदर्शवादी पुरुष भी हैं।

उनकी जीवनी सुनने के बाद मेरी श्रद्धा बहुत बढ़ गयी। चीन में चित्रकला में अधिकार प्राप्त करने के बाद उन्होंने छै वर्ष पैरिस में कला सीखने में लगाये। वहीं एक चीनी कलाकार तरुणी से इनका परिचय प्रेम में परिवर्तित हो गया। दोनों स्वदेश लौटे। योरप में जाने पर तुङ्-ह्वान् का पूरा महत्व उन्हें मालूम हुआ। स्वदेश लौटने पर वे राजधानी चुङ्किङ् पहुंचे। तब चीन का अधिकांश भाग जापानियों के हाथ में था। चुङ्किङ् में च्यांग के मंत्रियों ने जब उनके सामने तुङ्-ह्वान जाने का प्रस्ताव किया, तो शाङ् को मुंह मांगा वरदान मिल गया। लेकिन एक चीनी संभ्रान्त कुल की कन्या तथा पैरिस में पली तरुणी में वहां जाने का उत्साह नहीं था। उसने यही कहा कि पहले जाकर देख आओ, तो मैं चलूंगी। शाङ् अपने तीन-चार सहायकों के साथ स्थानीय अधिकारियों के लिए च्यांग कोई-शेक का फरमान लेकर तुङ्-ह्वान् के लिए रवाना हुए। लन-चाउ से आगे प्रायः हजार किलोमीटर की यात्रा खच्चरों, घोड़ों या बैलगाड़ियों से करनी पड़ी। रास्ते में ही आटे-चावल का भाव मालूम हो गया। खाद्य सामग्री वैसे भी यहां सुलभ नहीं थी, पर यह तो द्वितीय महायुद्ध का जमाना था। जैसे-तैसे कई हफ्तों बाद वह तुङ्-ह्वान् की गुफाओं में पहुंचे। तुङ्-ह्वान् कस्बे के अधिकारियों ने च्यांग काई-शेक के फरमान को जितने गौर से पढ़ा, उतना उसके अनुसार काम करने के लिए उत्साह नहीं दिखाया। तुङ्-ह्वान् कस्बा १६-१८ मील दूर था। यदि वहां रहना होता, तो भूखे मरने की आवश्यकता न होती। पर उन्हें तो जंगल में डेरा डालना था। शाङ् महाशय कह रहे थे कि उस समय की भूख और कठिनाइयों को बताना संभव नहीं है। अधिकारियों से कोई सहायता नहीं मिली। सौभाग्य से गुहा के पास तथा गुहा से सम्बद्ध चार लामा रहते थे। लामा वैसे तिब्बती भिक्षुओं को कहते हैं। मंगोलों के वक्त में यहां तिब्बती लामा रहते होंगे। पर अब तो शताब्दियों से चीनी लामा ही यहां रहते हैं। वह जाति और भाषा दोनों से चीनी हैं, पर पूजा-पाठ तिब्बती पुस्तकों के आधार पर करते हैं। पोशाक भी उनकी तिब्बती

लामाओं जैसी है। च्यांग काई-शेक जापानियों के साथ कहीं भी डटकर मुकाबला करने में सफल न हुआ। १९४२ में अमरीका की सहायता उसके पास पहुंच रही थी, सेना भी उसने बहुत भर्ती की थी, पर उनका इस्तेमाल वह जापानियों से लड़ने की अपेक्षा चीनी कम्युनिस्टों को घिरावे में रखने के लिए कर रहा था। तुङ्-ह्वान् कस्बे में भी उसकी सेना मौजूद थी। सेना की उच्छृंखलता का तो इसी से प्रमाण मिलेगा कि बेचारे ताउ साधु को बेकसूर उन्होंने मार डाला।

शाङ् महाशय और उनके साथियों का जीवन दुस्सह हो जाता, यदि यहां के लामाओं ने उनकी सहायता न की होती। बतला रहे थे कि "उनके पास खाने-पीने का सामान बहुत भरा पड़ा था। हर पर्व-त्यौहार के समय यहां मेला सा लग जाता था। नर-नारी पूजा और मनौती के लिए हजारों की संख्या में पहुंचते थे। खाद्य-सामग्री ही नहीं, मुर्गी-मुर्ग, दुम्बे और पैसों का चढ़ावा चढ़ाते थे। वह इतना होता था कि तीन-चार लामा दो-तीन साल भी खाकर समाप्त नहीं कर सकते थे। हमारी स्थिति को जानते ही भोजन की ओर से उन्होंने हमें कुछ निश्चिन्त सा कर दिया।" लामा अब दो ही रह गये हैं। उनमें से एक गृहस्थ बनकर गुहा की मरम्मत के काम में लगा हुआ है। अगल-बगल के चीनियों में धर्म के प्रति अब उतना उत्साह नहीं रह गया है। पहले वे बीमार लामा के मंत्रों और गुहा मन्दिरों की दया से रोगमुक्त होना चाहते थे। अब वे जगह-जगह स्थापित अस्पतालों में जाते हैं। बेकारी, गरीबी से त्राण पाने के लिए अब उन्हें देवता की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि चीन में मनुष्य काम को नहीं ढूंढ़ रहा है, बल्कि काम मनुष्य को ढूंढ़ रहा है। सोलह वर्ष बाद आज तुङ्-ह्वान् के लामाओं की वही स्थिति हुई होती, जैसी १९४२ में शाङ् महाशय की हुई थी। कारण कि उनके धनागम के स्रोत अब बन्द हो चुके हैं। पर सरकार बड़े लामा को पचास युवान (सौ रुपया) मासिक तथा गर्मी-जाड़े के कपड़े देती है। छोटे लामा को अपने मठ के खेतों से जरूरत से अधिक आमदनी हो जाती है। यहां की नाखें (नासपातियां) देखने में बेशर्म मालूम होती हैं, क्योंकि पेड़ों में पत्तों से अधिक फल लगे हुए थे। लेकिन खाने पर मालूम हुआ कि कश्मीर की नाखें भी इनके सामने कुछ नहीं हैं।

कुछ मास बाद इधर की सेना का जनरल शाङ् महाशय के प्रदेश शान्-चाङ् का आदमी निकल आया। उससे परिचय हो जाने के बाद उनकी आर्थिक कठिनाइयां ही नहीं दूर हो गयीं, बल्कि गुहा के प्रांगण से बालू हटाने के लिए उसने सैकड़ों सिपाही भेज दिये। शाङ् बड़े उत्साह से अपने काम में लग गये। वह मुख्यतः चित्र और मूर्ति के पंडित हैं। अब एक सुशिक्षित सुसंस्कृत विद्वान होने के नाते उन्होंने इतिहास को भी पढ़ने का गंभीर प्रयत्न किया। अपने तीन साथियों के साथ सात मास की कठिन तपस्या का अन्त हो चुका था। उनके आने के कुछ ही समय पहले ताउ-ह्वाङ् साधु को चीनी सैनिकों ने मार डाला था। यह वही ताउ भिक्षु थे, जिन्हें एक गुहा की मरम्मत करते समय एक छोटी सी कोठरी का पता लगा, जो तालपत्र और कागज के सैकड़ों ग्रन्थों तथा बहुत से अनमोल चित्रपटों से भरी हुई थी। स्टाइन को पहले खबर मिली और वह तुङ्-ह्वान् पहुंचकर बहुत सी चीजों को हथियाने में सफल हुआ। फिर फ्रेंच विद्वान पेलियो पहुंचे। उन्होंने भी बहती गंगा में हाथ धोया। खाने की कुछ सुविधा हो जाने पर भी शाङ् महाशय अपने बनाये चित्रों को बेचकर अपना खर्च चला सकते थे। सैनिकों ने जहां बालू हटाने का काम किया, वहां वृक्षों के लगाने में भी हाथ बंटाया। कुछ वर्ष तक पत्नी यहां नहीं आयीं। १९४९ में कम्युनिस्टों का शासन स्थापित हुआ। वे शाङ् महाशय की हर तरह से सहायता करने के लिए तैयार थे। तुङ्-ह्वान् की अनमोल कृति का मूल्य उन्हें मालूम था। अंत में शाङ् की पत्नी भी आ गयीं। यद्यपि वह भी चित्रकला की पंडिता थीं, पर तुङ्-ह्वान में केवल कलाकार नहीं रह सकता। इस निर्जन बयाबान में न कहीं सिनेमा था, न क्लब, न संगीत और नृत्य का सुभीता। पत्नी पैरिस की बन चुकी थी। उन्होंने अन्त में प्रस्ताव किया कि मुझ में और तुङ्-ह्वान में से तुम्हें एक को पसन्द करना होगा। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि शाङ् किसी मूल्य पर भी तुङ्-ह्वान छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। पत्नी अपनी एक लड़की और एक बेटे को छोड़कर चली गयीं। पुत्री उस वक्त किसी विद्यालय में पढ़ रही थी। वहां से उसे हटाना पड़ा। चित्रकार पिता की पुत्री थी, अतः चित्र की ओर उसकी स्वाभाविक रुचि थी। एक अमरीकी महिला ने यह देखकर लड़की को

विशेष शिक्षा के लिए अमरीका ले जाने की इच्छा प्रगट की। १९४७ से १९५० तक वह अमरीका में रही। फिर स्वदेश लौटी। आजकल पेकिंग में वह किसी विशेष पद पर काम कर रही है।

अक्तूबर १९४९ में कम्युनिस्टों का शासन यहां किस तरह स्थापित हुआ, उसके बारे में शाङ् महाशय बतला रहे थे—कम्युनिस्ट सेना को यहां लड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ी। उनके आने की खबर सुनते ही शत्रु भाग खड़े हुए। धनी सुखी थे। गरीब भूख और सर्दी के मारे मर रहे थे। घोड़े की लीद के धुएं में स्त्री-पुरुज प्रायः रात में नंगे पड़े रहते थे। कम्युनिस्टों के आने पर धनी लोग बड़ी-बड़ी भेंटें लेकर उपस्थित हुए। किसी को मारने की आवश्यकता नहीं थी। अगले साल भूमि-व्यवस्था में सुधार किया गया, जिससे गरीबों की अवस्था में भारी परिवर्तन हुआ। शाङ् महाशय कलाकार और विद्वान हैं, पर साथ ही चीनी राष्ट्र और संस्कृति के अनन्य भक्त भी हैं। इस नाते कम्युनिस्ट न होने पर भी अच्छे कार्यों को देखकर उनके हृदय में कम्युनिस्टों के प्रति श्रद्धा बढ़ती गयी। तुङ्-ह्वान के लिए उन्होंने क्या नहीं किया? उनकी वर्तमान पत्नी भी चित्रकला और मूर्तिकला में पारंगत हैं और साथ ही अपने पति की तरह ही तुङ्-ह्वान में भक्ति रखती हैं। चीन में हर जगह आगन्तुक से कोई सलाह मांगने का रिवाज है। मैंने कहा—यहां १,००० वर्ष पुराने कितने ही स्त्री-पुरुषों के चित्र और कुछ मूर्तियां भी हैं। उनसे वेशभूषा के साथ नमूने तैयार किये जायें। मुझे क्या मालूम था कि शाङ् की पत्नी दर्जनों ऐसी मूर्तियां तैयार कर चुकी हैं। उन्होंने बड़ी प्रसन्नता के साथ अपनी कृतियों को दिखलाया।

शाङ् महाशय का प्रति दिन घंटों साथ रहा। उन्होंने तुङ्-ह्वान को समझने में बड़ी मदद की। गुहाओं में थाङ्-कालीन (सातवीं शताब्दी) कला की महत्वपूर्ण झांकी विशेष रूप से मिल जाती है। १०३ नम्बर की गुहा में बुद्ध की प्रतिमा सुन्दर है और भित्ति चित्र में विमलकीर्ति का प्रसन्नमुख अत्यन्त दर्शनीय है। आठवीं-नौवीं शताब्दी वाली ११२ नम्बर की गुफा के भित्ति चित्र भी अद्भुत हैं। ९८ नम्बर की गुहा वंशवंश कालीन (हमारे यहां के गुप्त काल की) है। इसमें भीतरी दरवाजे के बायीं ओर राजा और दरबारियों का चित्र है। चीन के ये शासक तुर्क थे, जो धीरे-धीरे चीनी

बन गयें। ६१वीं गुफा सुङ् राजवंश के सामन्त साइलो ने बनवायी थी। इसमें उसके सारे परिवार का चित्र अंकित हैं। गुहायें बनाने वाले सभी एक समान धनी नहीं थे। जो अधिक सम्पन्न था, वह बड़े कुशल कलाकारों को नियुक्त करता था। पर थाङ्-काल हमारे यहां के गुप्त काल के समान था। राज्यों और बड़े सामन्तों की गुहायें अधिक बड़ी हैं। सातवीं सदी (थाङ्-काल) में १६वीं गुफा बनायी गयी थी। प्रवेश द्वार के भीतर दाहिनी ओर की दीवार में वह छोटी (१७वीं) गुहा थी जिसमें ग्यारहवीं शताब्दी में पुस्तकों और चित्रों को छिपाकर ऐसे बन्द कर दिया गया था कि बाहर से निरी दीवार दिखाई पड़ती थी। यह कोठरी प्रायः आठ फुट लम्बी, छै फुट चौड़ी और आठ फुट ऊंची थी। उसकी दीवारों में थाङ्-कालीन सुन्दर रेखा-चित्र अब भी दिखाई देते थे। १६ नम्बर की गुहा विशाल हैं। कहीं-कहीं बाद के लोगों ने भी पुराने चित्रों को धूमिल देखकर उन्हें पुनः अंकित करने या नये चित्र बनवाने की कोशिश की है। सोलहवीं गुहा में मंगोल काल में भित्ती के ऊपर सहस्त्र भुज अवलोकितेश्वर का चित्र इसी तरह बनाया गया।

सवेरे के दर्शन कृत्य को समाप्त कर हम लौटे। फिर हमने यहां के छोटे से म्यूजियम को देखा। अनेक मूर्तियां, शिलालेख और कितनी ही पुरानी पुस्तकें दो कमरों में सजाकर रखी थीं। वहीं पर दृढ़ काले पत्थर पर छठी शताब्दी के संस्कृत शिलालेख को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह तुङ्-ह्वान नगर से छै किलोमीतर दूर मिला था। शिला खंडित है। अक्षर सुन्दर पर सूक्ष्म हैं। साथ में चीनी अक्षरों में भी शायद वही बात लिखी हुई है। जल्दी-जल्दी में लेख का पढ़ना संभव नहीं था। शाङ् महाशय ने उसे कागज पर उतरवाकर दे दिया।

अपराह्न में फिर हम गुहा देखने में लगे। उत्तरवेई काल (४२८ ईसवी) की गुफायें और मूर्ति चित्र सबसे पुराने हैं। थाङ्-कालीन कला का सौन्दर्य उनमें नहीं है, बल्कि वे आदिम कृति हैं और उनकी अकृत्रिमता तथा ताजगी स्वयं लुभावनी है। दीवारों पर चित्रांकित करने से पहले पुआल मिली मिट्टी का प्लास्तर किया जाता था। यद्यपि यह सीमेन्ट या चूने की तरह मजबूत नहीं था, लेकिन यहां के लिए वह काफी दृढ़ था। ६५वीं गुहा मंगोल काल की है, जहां छै भुजाओंवाली प्रज्ञा पारमिता चित्रित हैं। ६६वीं गुहा

थाङ् काल की है। यह बहुत विशाल है। इसमें स्थापित तैंतीस मीतर ऊंची बुद्ध प्रतिमा तुङ्-ह्वान् की सबसे बड़ी मूर्ति है। बुद्ध कुर्सी में बैठे हुए हैं। ६७वीं गुहा पंचवंश-कालीन अर्थात पुरातनतम है। इसके भित्ति चित्र सुन्दर हैं। गुहा छोटी है।

थाङ्-कालीन गुहायें अधिक विशाल हैं और कला की दृष्टि से सुन्दर भी। इस काल की १४८ संख्यक गुहा में पन्द्रह मीतर लम्बी बुद्ध की निर्वाण प्रतिमा है। इसमें भित्ति चित्र के अतिरिक्त सैकड़ों भिक्षुओं और दूसरों की मूर्तियां भी हैं। टूटे सिर और हाथ बतला रहे थे कि मुसलमानों का यहां प्रहार हुआ था। खंडित अंगों को फिर से बनाने की कोशिश की गयी, पर उनमें वह सफाई नहीं आ सकी। दक्षिण ओर अंतिम गुहा १३१ नम्बर की है। इस गुहा में कितने ही सामन्तों और मंत्रियों की मूर्तियां हैं।

उस दिन शाम को हम लामा मठ में गये। लामा तन्जिन् सम्ङ् की आयु ८७ वर्ष की है। जब वह बारह वर्ष के थे, तो यहां आकर भिक्षु बने थे। तुङ्-ह्वान् में भिक्षुओं की संख्या कभी अधिक नहीं रही। मैंने पूछा, आपके बाद कौन इस स्थान को संभालेगा। उन्होंने दूसरे भिक्षु का नाम लिया। पर वह भी साठ वर्ष के हो चुके थे। अब भी प्रधान भिक्षु को आशा है कि कोई तरुण शिष्य होने के लिए आयेगा, पर चीन के तरुणों की वर्तमान मनोवृत्ति उसके अनुकूल नहीं है।

२२ सितम्बर को आसमान में बादल दिखाई पड़ रहे थे। लेकिन वह लोगों में किसी तरह की आशा का संचार नहीं कर सकते थे। लोग समझते हैं कि ये केवल दिखाऊ बादल हैं। इस सारे साल यहां वर्षा की बूंदें नहीं पड़ीं।

नाश्ते के बाद फिर हम गुहा की ओर चले। चीन में चाय का कोई विशेष स्थान खानपान के रूप में नहीं है। वह तो पीने के गरम पानी का काम देती है। हम २८ नम्बर की गुहा में पहुंचे। भारत और तिब्बत में कभी भी बुद्ध की मूर्ति मूंछों सहित नहीं दिखाई पड़ती। पर यह मूर्ति मूछन्दर थी। संचालक ने बताया कि यहां की एक मूर्ति को स्टाइन उड़ा ले गया। इस प्रदेश को चीनी भाषा में ली-युवान कहते हैं। इसका अर्थ है नासपातियों (नाखों) का उद्यान। तुङ्-ह्वान् की नासपातियां इसका

समर्थन कर रही थीं। तिब्बती भाषा में इसका नाम ली-युल है। इसका अर्थ है कांसे (धातु) का देश। ली शब्द का दोनों भाषाओं में भिन्न-भिन्न अर्थ है। नवीं शताब्दी में कुछ समय के लिए सारे सिङ्-क्याङ् पर तिब्बत शासन था। यह तो हो नहीं सकता था कि तिब्बती बौद्ध शासक तुङ्-ह्वान् की पवित्र भूमि की उपेक्षा करते। उनके समय में दस से अधिक गुहायें बनायी गयीं। लेकाक, ग्रुंडवेडल, स्टाइन, पेलियो आदि ने तुङ्-ह्वान् और मध्य एशिया की सामग्री पर जो पुस्तकें लिखीं, उनका शाङ् महाशय ने बड़े प्रयत्न से संग्रह किया है। वस्तुतः तुङ्-ह्वान महीनों देखने और पढ़ने का स्थान है। तो भी दो-ढाई दिन में हमने उसके दर्शन का सुख प्राप्त किया।

२२ तारीख को चार बजे संचालक महाशय हमें तुङ्-ह्वान नगर में ले गये। वह यहां से १८ किलोमीतर पर है। पुराने नगर का ध्वंसावशेष मुख्य सड़क के किनारे पहले ही पड़ता है। रास्ते की भूमि मरुभूमि जैसी विशाल थी, यद्यपि वह बालू की भूमि नहीं थी। उसमें जहां-तहां स्तूपाकार मिट्टी के छोटे-बड़े चबूतरे दिखलाई पड़ते थे। संचालक महाशय ने बताया कि ये सभी प्राचीन काल की कब्रें हैं। इस प्रदेश का इतिहास अतीत के गर्भ में विलीन है। चीनी इतिहासकार जबतब इसका कुछ उल्लेख जरूर करते हैं, पर उनसे अंधकार दूर नहीं होता। इन कब्रों में कोई ईसवी सन के आरंभ की भी हो सकती हैं। वह वे थे जो मंगोलायित जाति के नहीं थे। वे उस समय के जीवन के बारे में बहुत सी बातें बतला सकती हैं, क्योंकि उस काल में शक और पुराने घुमन्तू सरदार जीवन की बहुत सी सामग्री के साथ ठाट-बाट दफनाये जाते थे।

निर्जल भूमि में जल पहुंचाकर आबाद करने का प्रयत्न दिखाई दे रहा था। खेतों में मिस्री कपास खड़ी थी। मुझे तो ख्याल आता था, यहां तरबूजों की भी खेती होनी चाहिए। वर्तमान तुङ्-ह्वान् नगर की आबादी दस हजार है। कितने ही घर गिरे पड़े हैं, जिनसे मालूम होता है कि नगर पहले और बड़ा रहा होगा। अब तो जरूर बढ़ेगा। रेल यहां से दो-ढाई सौ किलोमीतर दूर से जा रही है, पर चीन के एक बहुत समृद्ध तैल क्षेत्र चैदम तक के लिए पास से रेल की नापी हो चुकी है, जो जल्दी ही बन जायेगी।

फिर तुङ्-ह्वान में कपड़े के कारखाने बन कर रहेंगे। यहां की आबादी मुख्यतः चीनियों की है, पर कुछ उइगुर (तुर्क) परिवार भी रहते हैं। दोनों के चेहरे-मुहरे एक से होते हैं। कौन चीनी है और कौन उइगुर, यह बतलाना मुश्किल है। पर हमारे साथी एक चीनी भद्रजन कह रहे थे कि हम बतला सकते हैं—उइगुरों का रंग ज्यादा सफेद होता है। वस्तुतः इधर के उइगुर शकों और तुर्कों की सम्मिलित सन्तान हैं। शक तो पीले बालों वाले और अत्यन्त गोरे होते थे। इसलिए उइगुरों का अधिक गोरा होना स्वाभाविक है। कस्बे की कई सड़कें दूकानों से भरी थीं, जिनमें हर तरह की सामग्री सजाकर रखी हुई थी। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दूकानों में से कोई वैयक्तिक नहीं थी। पेकिंग से बहुत दूर यहां भी किसी नर-नारी या बच्चे को मैंने नंगे पैर नहीं देखा। आर्थिक तल कितना ऊंचा उठा है, इसकी जानकारी मैं चीन में जूते से ही किया करता था। नगर के अतिथिगृह में हम थोड़ी देर के लिए ठहरे। उसी के आंगन में दो सौ तरुणियां जमा थीं। सब कम्यून से सम्बद्ध थीं और किसी सभा-सम्मेलन में आयी थीं। आंगन के एक छोर पर हाई स्कूलों के लड़के-लड़कियां लौह यज्ञ में लगे हुए थे। १९५८ का उत्तरार्ध चीन के लिए लौह-यज्ञ का समय था। साल के अन्त तक सन १९५७ के ५२ लाख टन फौलाद को १ करोड़ ७ लाख टन फौलाद में परिणत करना था। तुङ्-ह्वान कैसे चुप रह सकता था। लौटते वक्त हमने देखा कि रबर टायर वाली गदहे-घोड़ों और खच्चरों की गाड़ियां सैंकड़ों की तादाद में धुनों से भरी हुई गुहा के सामने से निकलकर आ रही थीं। एक चूल्हे को लड़के-लड़कियां ईंटों से तैयार कर रहे थे। कुछ दूसरे तारकोल के बड़े पीपों के भीतर ईंटें लगाकर चूल्हा बना रहे थे।

हमारी प्यास चाय से बुझ नहीं सकती थी। इसलिए एक बड़ा तरबूज लाया गया। हमें किताब की दूकान देखनी थी। इसी महीने से रोमन लिपि में पढ़ाई प्रारम्भ हुई थी। अभी पहली ही कक्षा में उसे लिया गया था। मैंने पेकिंग में प्राइमर खरीदने की कोशिश की, पर जवाब मिला कि जब तक स्कूलों की मांग पूरी नहीं कर ली जायगी, तब तक बाहरी आदमी को नहीं दी जा सकती। यहां मुझे वह आसानी से मिल गयी।

२२ सितम्बर को हमने भोजन के बाद साढ़े सात बजे प्रस्थान किया। दो

ही दिन में तुङ्-ह्वान हमारे घर सा परिचित हो गया था। उसे छोड़ने में दुख हो रहा था। जीप साठ किलोमीटर प्रति घंटे दौड़ रही थी। सवा चार घंटे बाद नोमन नामक नये कस्बे में भोजन और विश्राम के लिए ठहर गये। यहां एक-मंजिला विशाल अतिथिशाला थी। नहरों के लिए जो बड़े पैमाने पर प्रयत्न हो रहा था, वह रास्ते में देखने को मिला। पांच बजे हम च्यू-छाङ् के होटल में पहुंचे। रात के रहने का प्रबन्ध हवाई अड्डे के होटल में था, इसलिए हम वहां चले गये।

च्यू-छाङ् इस निर्जन भूमि में ५० हजार आबादी का नगर है। उसे भी देखने की इच्छा हो सकती थी, पर पहली अक्तूबर को चीन का राष्ट्रीय महोत्सव देखना अत्यावश्यक था। बीच में लो-याङ् भी देखना था। इसलिए इच्छा को संवरण करना पड़ा।

२४ सितम्बर को १ बजकर २० मिनट पर हमारा जहाज उड़ा। उसमें उरुमची और हामी से आने वाले मुसाफिर भी थे। ४००० मीतर (१३-१४ हजार फीट) पर वह उड़ रहा था। इसलिए काफी ठण्ड थी। पौने तीन घन्टे बाद हम लनचाउ में उतरे। आज विमान अनिश्चित सा था, इसलिए स्वागत करने वाले कुछ देर से आये। नहाने की इच्छा बलवती थी, लेकिन होटल के स्नानकोष्ठक में पीतगंगा का जल आ रहा था, जो बरसाती मिट्टी से भरा था। मैंने उसी से स्नान किया। शरीर कुछ धूसरित तो हो गया होगा, पर पीतगंगा का जल भी मेरे लिए गंगाजल के समान ही पवित्र था।

यहां से सिआन के लिए विमान का टिकट लिया जा चुका था। २५ सितम्बर को कुछ अन्धेरा रहते छै बजे ही हम अड्डे पर पहुंचे। हर अड्डे पर विमान की पूरी परीक्षा करनी पड़ती है। विमान कुछ बिगड़ा दीख पड़ा। अधिकारियों ने मरम्मत करने की कोशिश की। सवा घन्टे तक हम प्रतीक्षा करते रहे। रेल से जाने की इच्छा नहीं होती थी, क्योंकि बहुत समय लगता। मन कहता था—आखिर जो पुर्जा यहां ढीला है, वह च्यू-छाङ् में ढीला ही रहा होगा, क्यों न उसे चालू कर देते। पर विमान-चालक मुसाफिरों की तरह बेपरवाह नहीं होते। चीन में सुरक्षा का विशेष ध्यान रखा जाता है, इसीलिए वहां उतनी दुर्घटनाएं नहीं होतीं। सवा घंटे बाद निराश होकर हम होटल लौट आये। रेल से जाने के सिवा कोई चारा

नहीं था। रेल में भी अगर टिकट नहीं मिलता, तो जा नहीं सकते थे। पर मेहमान होने से उसका इन्तजाम आसानी से हो गया। ट्रेन रात को ९ बजकर ४० मिनट पर जाने वाली थी। अब हमारे पास दिन भर का समय था, जिसका सदुपयोग करना आवश्यक था।

पश्चिमोत्तर अल्पजातिक कालेज

यहां की एक विशेष संस्था थी, जिसकी स्थापना १९४९ में हुई थी। इसमें आम्दो (तिब्बती), हुई, मंगोल, उइगुर, हस्साक (कजाक), तातार, उजबेक, सीपेङ्, ताखुर, तुङ्-शान्, यू-कू, पो-आर, साला, थां-जो, मंचू और हान—१६ जातियों के तरुण पढ़ते हैं। अम्दो (तिब्बती) की सबसे अधिक संख्या है। उनके १२०० बालक (४०० बालिकायें) यहां हैं। हुई २०० उइगुर २००, उजबेक १०, हान ४०० विद्यार्थी हैं। सब मिलाकर ५३०० छात्र हैं। प्रान्तों के हिसाब से शान-सी, शेन-सी, कान-सू, छिङ्-है, निङ्-श्या प्रान्तों के विद्यार्थी हैं। ३०० कर्मी (३० स्त्रियां) यहां पढ़ाने का काम करते हैं। १९५७-५८ में इसपर डेढ़ लाख युवान खर्च हुआ था। भोजन, शिक्षण, सभी मुफ्त हैं। यहां कम से कम अपर प्राइमरी पास लड़के लिये जाते हैं। पिछड़ी जातियों में शिक्षा की कमी को देखकर अधिक उम्र के लड़के भी ले लिये गये हैं। इसलिए छात्र १४ से ४० वर्ष तक के हैं। संचालक मा-क्वो-तुङ् २६ वर्ष के तरुण हैं। उन्होंने संस्थान दिखलाया। तिमंजिले सीमेन्ट के बने, साफ-सुथरे बहुत से मकान हैं। अनेक छात्रालय और भोजनालय हैं। विद्यार्थियों की रुचि देखकर जातियों के अनुसार भोजनालय बने हैं। गैर-मुस्लिम जातियां यद्यपि खाने में विशेष निर्बन्ध नहीं मानतीं, पर चीनी खाना तिब्बती लोगों को पसन्द नहीं हो सकता। न ही तिब्बती खाना चीनियों को पसन्द हो सकता है।

पढ़ाई सबेरे साढ़े ८ बजे से १२ बजे तक और दोपहर बाद २ बजे से ५ बजकर ५० मिनट तक होती है। चीन में घर में पाठ याद नहीं किया जाता। स्वाध्याय का समय साढ़े सात बजे से रात के साढ़े नौ बजे तक है। उत्पादक शारीरिक श्रम छात्रों और अध्यापकों दोनों के लिए अनिवार्य है।

पुस्तकालय में भिन्न-भिन्न भाषाओं की २२,००० पुस्तकें हैं। १९५४ में नाट्यशाला बनायी गयी। इसमें १७०० दर्शक बैठ सकते हैं। सोने के लिए बड़े-बड़े कमरे हैं। प्रत्येक में १६ छात्र रहते हैं। यहीं संस्थान के भीतर ही दूकानें, डाकखाना तथा बैंक भी हैं। गीत, नृत्य, अभिनय का अच्छा प्रबन्ध है। फिल्म भी दिखाये जाते हैं।

अम्दो के महान बिहार लबरङ् का एक तरुण सोनम् (पुण्य) मिल गया। इससे तिब्बती बोलने की छूट हो गयी। वह तीन बरस से यहां पढ़ रहा था। अब वह अपने बिहार लौटने वाला था। मैंने पूछा—वहां किस विभाग में तुम पढ़ते रहे? उसने कहा—तन्त्रविभाग में। मैंने सलाह दी—छैमा (न्याय) और छन्नी (दर्शन) को पढ़ने में मन लगाना, वह अधिक उपयोगी है। सोनम् ने बतलाया कि यहां से बस द्वारा लबरङ् दो दिन में पहुंचा जाता है। किराया ७ युवान (१४ रुपया) है। ल्हासा जाने में १६ दिन लगते हैं और किराया १३० युवान् (२६० रुपये) है। यह संस्थान बड़ी सुन्दर व्यवस्था के साथ अनेक पिछड़ी जातियों में नेता पैदा करने की कोशिश कर रहा है। यह ऐसे स्थान पर स्थापित है, जहां अल्प-संख्यक जातियों की बड़ी भारी संख्या है।

फिर हम कन्सू-सिङ् पो-पा-क्वाङ् (संग्रहालय) देखने गये, जिसकी स्थापना १९५४ में एक मामूली से घर में हुई थी। संचालक हू लो-फू पहले पीकिङ् विश्वविद्यालय में अध्यापक थे। उन्हें यहां रहते १६ वर्ष हो गये। प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक पुरातत्व में उनकी विशेष दिलचस्पी है। उन्होंने बताया कि लनचाऊ नगर में नव-पाषाण युग और ताम्र युग की वस्तुएं मिली हैं और मिलती जा रही हैं। हमारे पास स्थान नहीं है, इस-लिए उन्हें बक्सों और कोठरियों में बन्द करके रखा गया है। म्यूजियम की विशाल इमारत बनने वाली है। दो कमरों में नवपाषाण युग के हथियार और मिट्टी के बर्तन प्रदर्शित किये गये थे। ये हथियार ईसा पूर्व ३००० के थे और कुछ चीजें ईसा पूर्व २००० की। नवपाषाण युग के लिए पीतगंगा का मध्य भाग बहुत उपयोगी है। श्री हू ने आठवीं-नवीं शताब्दी की हाथी दांत में उत्कीर्ण एक सुन्दर कृति दिखाई। इसमें बाहर की तरफ अपेक्षा-कृत बड़ी, पर भीतर सूक्ष्म मूर्तियां बनी थीं। दोनों को एक काल में एक ही

शिल्पी ने बनाया, इसमें सन्देह है। ऊपरी मूर्तियों में सुन्दरता, वेषभूषा अजन्ता की तरह है। भीतरी में बुद्ध की सुन्दर मूर्तियां हैं। आधा दांत ११ अंगुल लम्बा ४ अंगुल चौड़ा है। प्रकाश नहीं था, इसलिए फोटो नहीं ले सका।

स्थविर यो-श्येड् और शू महाशय स्टेशन हमें छोड़ने आये। रात के ६ बजकर ४० मिनट पर हमारी गाड़ी रवाना हुई।

सिआन्

रात को परिचित रास्ते ही से ट्रेन चली। सवेरे आसमान बादलों से घिरा था। सिआन के पास वह कुछ कम हुआ। सर्द जगह से आ रहे थे। अब हमें गर्मी मालूम हुई। सिआन में हम उसी होटल में ठहरे।

हमारे पास आधा ही दिन था। २५ को बड़े सवेरे ही यहां से लोयाङ् के लिए रवाना होना था। ४ बजे हम संचार सम्बन्धी यंत्र बनाने वाला कारखाना देखने गये। यह अप्रैल १९५६ में बनना शुरू हुआ और फरवरी १९५८ में इसका उद्‌घाटन हुआ। यातायात के पांच प्रकार के बड़े-बड़े यंत्र यहां बनते हैं। अब चीन में यह अपने किस्म का एक ही कारखाना है। शाङ्है में छोटे यंत्र बनते हैं। बिजली से सम्बन्ध रखने वाले बड़े-बड़े यंत्रों को यहीं बनाया जाता है। सितम्बर के महीने में ७००० वस्तुएं बनी थीं। इस साल (१९५८ में) ७५ हजार बनने वाली थीं। कारखाने में सात सौ श्रमिक और एक सौ कर्मचारी काम करते हैं, जिनमें ४० प्रतिशत स्त्रियां हैं। शाङ्है में पहले इस तरह का कारखाना था, इसलिए वहां के बहुत से तजर्बेकार श्रमिक और कर्मी यहां काम करने के लिए आये। काम तीन पाली में होता है। वेतन ४० से २४० युवान मासिक है। ८ विशाल वर्कशाप हैं। एक श्रमिक ने अपनी चतुराई दिखाते हुए छै सौ पुर्जे बनाये थे। जरा भी गर्द न रहे, इसके लिए सभी कमरों को साफ रखा गया था। हमें भी नया जूता पहनकर भीतर जाना पड़ा। शाम को पांच बजे भोजन का समय है, इसलिए अधिकांश कमकर रसोईखाने में चले गये थे। जो लड़कियां मिलीं, वे उच्च विद्यालय में शिक्षा प्राप्त थीं। सभी कमरे तापनियंत्रित थे।

कारखाने से निकलकर कमकरों के घरों को भी देखा। विवाहितों के रहने के मकान एक तरफ थे। अविवाहित तरुणों और तरुणियों के रहने के लिए अलग-अलग मकान थे। नये मकान अधिक सुखप्रद थे। एक परिवार में तरुण पुरुष १०८ युवान मासिक कमाता था। उसकी मां, पत्नी और तीन बच्चे काम नहीं करते थे। उसे घर का भाड़ा तीन युवान मासिक देना पड़ता था।

जनता होटल सात-मंजिला है जिसमें एक हजार कमरे हैं। वह एक विशाल प्रासाद जैसा है। ऊपर की छत पर जाकर सारा नगर दिखाई देता है। उत्तर की ओर थाङ्-कालीन प्रासाद थे।

लोयाङ

२७ सितम्बर को सबेरे ६ बजकर ४० मिनट पर हमारी ट्रेन चली और ४ बजकर पन्द्रह मिनट पर हम लोयाङ् पहुंच गये। लोयाङ् चीन की सबसे पुरानी राजधानी है। इसे रवीन्द्र के शब्दों में कहा जा सकता है—"प्रथम प्रभात उदय तब गगने"। चीन जाति सभ्यता के क्षेत्र में यहीं अवतीर्ण हुई। पश्चिमी हान (ईसा पूर्व २०६-२४ ई०) यहीं से शासन करते थे। पूर्वी हान (२५-२२० ई०) के शासन में यह समृद्धि के उच्च शिखर पर पहुंचा था। उसके बाद भी कभी राजलक्ष्मी रूठती और कभी सन्तुष्ट हो जाती। चीनी सभ्यता, कला, साहित्य की दृढ़ नींव लोयाङ् में ही रखी गयी, इसमें सन्देह नहीं। लोयाङ् ने ही सबसे पहले भारत के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित किया। पूर्वी हान सम्राट मिङ् (५७-७५ ई०) ने स्वप्न में एक सुवर्णमय पुरुष देखा। उनके एक दरबारी ने बतलाया कि यह पश्चिम के ऋषि फो या फोता (बुद्ध) का रूप है। सम्राट ने तुरन्त बौद्ध भिक्षुओं और बौद्ध पुस्तकों को लाने के लिए तीन दूत भारत भेजे। उस समय संस्कृति, धर्म तथा कितनी ही हद तक भाषा में भी काश्गर का प्रदेश भारत का ही अंग था। प्राचीन खश जाति की सन्तानें काश्गर प्रान्त से कश्मीर और कुछ आगे तक रहती थीं। ये लोग पहले ही से बौद्ध धर्म में दीक्षित थे। संभवतः इसी रास्ते दूतमंडल गया। वह अपने साथ दो

भिक्षुओं—काश्यप मातंग और धर्मरत्न को लेकर बहुत सी धर्म पुस्तकें सफेद घोड़े पर लादे ६२ ईसवी के आस-पास लोयाङ् पहुंचा। काश्यप मातंग मध्यमंडल (उत्तर प्रदेश-बिहार) के रहने वाले हीनयान साहित्य के पारंगत थे। वह दक्षिण भारत में भी धर्मप्रचार कर चुके थे। उनके साथी धर्मरत्न भी मध्यमंडल के ही निवासी थे। दोनों भिक्षुओं ने चार गून्थों का अनुवाद कर यहां बौद्ध धर्म की नींव रखी। वे श्वेत घोड़े पर धर्मगून्थ ले आये थे, इसलिए सम्राट मिङ् ने उनके लिए जो बिहार बनवाया, उसका नाम श्वेताश्व-बिहार पड़ा। उस बिहार के ६८ बरस के नायक भिक्षु स्स-रू स्टेशन पर हमें लेने आये थे। स्टेशन से हम अन्तर्राष्ट्रीय होटल पहुंचे। इसकी चौमंजिला इमारत १९५७ में बनकर तैयार हुई। कमरे स्वच्छ और सुन्दर थे, लेकिन इसे प्रासाद नहीं कहा जा सकता था। नगर की आबादी १९४९ में १ लाख ३० हजार थी। ९ बरस बाद आज ४ लाख ३० हजार हैं। हमारे यहां भी बहुत से प्राचीन नगर ह्रास की चरम सीमा पर पहुंच गये हैं। हमारे यहां उन्हें उज्जीवित करने की कोशिश नहीं की गयी हैं। मिर्जापुर १८वीं सदी में एक बहुत ही समृद्ध नगर था। उसे पीछे ढकेल कर कानपुर आगे चला गया। एक समय दुनिया का सबसे बड़ा नगर कन्नौज अब कस्बा रह गया है। मथुरा की हालत कुछ ही बेहतर है। अयोध्या का ही बिगड़ा रूप अवध है। पहले अयोध्या से फैजाबाद तक फैले नगर को अवध कहा जाता था। नवाब ने उसके एक बड़े भाग का नाम बदलकर फैजाबाद रख दिया। वह अयोध्या से पृथक माना जाने लगा। अयोध्या हमारी सात पुरियों में है। पर उसके उठने की अभी कोई संभावना नहीं दीखती। हमारी सातों पुरियां ईसवी सन् की आरम्भिक ६-७ शताब्दियों में भारत के सबसे बड़े नगर, सांस्कृतिक और औद्योगिक केन्द्र थे। अयोध्या और मथुरा से भी गयी-बीती हालत मायापुरी (हरद्वार) की है। काशी औरों की अपेक्षा कुछ बेहतर हालत में है। कांची (दक्षिण काशी) की भी हालत बुरी है। अवन्तिका (उज्जैन) मध्यप्रदेश की राजधानी बन जाती, तो उसके दिन लौट आते। पर आंख के अंधों को समझाये कौन? उन्होंने लेजाकर भोपाल में राजधानी बनायी। करोड़ों लगाकर वहां इमारतें बनायी जा रही हैं। मालव भूमि की यह महिमा है, जो उसने अच्छे और

प्रचुर परिमाण में कपास पैदा कर वहां कपड़े की मिलें बनाने के लिए आरम्भ किया। दूर तक फैला उज्जैन का ध्वंसावशेष जैसा है, वही हालत लोयाङ् की थी। मीलों चले जाइये, पुराने नगर के चिन्ह मिलते हैं। कम्युनिस्टों ने लोयाङ् को मृतसंजीवनी दे दी। सातवीं पुरी द्वारावती (द्वारिका) भी एक कस्बे से बढ़कर नहीं है। लोगों के धर्म भाव ने ही उसे एक तीर्थ के रूप में जीवित रखा है। पुरानी पुरियों को आजकल जीवित रखने का यही रास्ता है कि वहां बड़े पैमाने पर उद्योग कायम किये जायें, कल-कारखाने बनाये जायें। इसी कारण लोयाङ् की आबादी ६ बरस में ३ लाख बढ़ गयी है।

श्वेताश्व-बिहार

इसका नाम चीनी में पे-मा-स्स (श्वेत-अश्व-बिहार) है। सबसे पहले इसी पुण्य स्थान के दर्शन की इच्छा मन में आयी। ले जाने के लिए बिहार के महास्थविर आ गये थे। ५ बजने के बाद हम कार से १२ किलोमीतर चलकर बिहार में पहुंचे। अधिकतर रास्ता खेतों और गांव में से था। खेतों में कहीं-कहीं उभरे हुए ककुद (सांड के डील) दिखाई देते थे। इनकी संख्या हजारों थी। मालूम हुआ, ये सब पुरानी कब्रें हैं। धीरे-धीरे शहर अपनी परित्यक्त भूमि को फिर आत्मसात कर रहा है, इसलिए इन कब्रों को खोलकर भीतर की पुरातत्व सामग्री भी जमा कर ली जायेगी। अभी ही एक पूरे म्यूजियम की सामग्री जमा हो गयी है।

श्वेताश्व-बिहार हरे-भरे वृक्षों के भीतर चहारदीवारी से घिरा बड़ा सुन्दर लगता है। इसके भीतर तीन एकड़ से अधिक जमीन है। आसपास के गांव कम्यून में सम्मिलित हो गये हैं। बिहार के पास भी काफी खेत हैं, जो अब कम्यून के अन्तर्गत हैं। महास्थविर, उनके साथी तथा शिष्य नवीन चीन की प्रगति को बड़ी सहानुभूति और उत्साह के साथ देखते हैं। पुराने सूत्रों और विनयपिटक के पढ़ने की ओर विचारशील भिक्षुओं का ध्यान अधिक जा रहा है। चीन में जबतब ऐसे भिक्षु भी पैदा हुए, जो उत्पादक शारीरिक परिश्रम के समर्थक थे। हीनयानी भिक्षु ऐसा नहीं करते, क्योंकि "विनय" में उसका समर्थन नहीं है।

फाटक छोटा किन्तु सुन्दर है। भीतर घुसते ही दाहिने कोने पर काश्यप और बायें धर्मरत्न (या धर्मण्य) की समाधियां गोल स्तूप के रूप में हैं। इनका नीचे का भाग गढ़े हुए पत्थरों और ऊपरी भाग हरित-तृण से आच्छादित है। इस रूप में वह बड़े सुन्दर लगते हैं। सीधे आगे बढ़ने पर एक के पीछे एक कई मन्दिर आते हैं। बिहार में ६ भिक्षु रहते हैं, जिनकी आयु ३५ से ७५ वर्ष तक की है। एक मन्दिर के दाहिने और बायें पार्श्व मन्दिर में काश्यप और धर्मरत्न की दो सुनहली मूर्तियां हैं। इनका निर्माण मंगोल काल (१२२६-१३६८ ई०) में हुआ था। मंचू काल (१६४४-१६११) में इन पर सोना चढ़ाया गया। काश्यप और धर्मरत्न के समकालीन न तो ये मन्दिर हैं और न मूर्तियां ही। पर उस समय की अक्षरांकित बड़ी-बड़ी ईंटें यहां मिलती हैं। यह कह कर साधारण भिक्षु ने भी जब हमें ईंट दिखलानी चाही, तो मालूम हुआ कि उनकी संस्कृति कितनी गहरी है। वे जानते हैं कि सांस्कृतिक वस्तुओं—मूर्तियों, ईंटों—का अध्ययन बहुत उपयोगी है। हम देर तक मन्दिरों को देखते रहे। भिक्षुओं के रहने के कमरे भी हमने देखे। वे बहुत स्वच्छ और परिष्कृत थे। पाखाने-पेशाब की जगह अत्यन्त शुद्ध थी। मक्खियों का कहीं नामोनिशान न था।

लौटते वक्त अंधेरा हो गया था। मैं अपने २०५ नम्बर के कमरे में जाकर विश्राम करने लगा।

लोङ-मेन की गुहायें

चीन में पहाड़ काटकर बनाये सबसे अधिक गुहा मन्दिर लोङ्-मेन् में हैं। ये लोयाङ् से १३ किलोमीतर दूर हैं। २८ सितम्बर को हम नाश्ते के बाद वहां पहुंचे। गुहा के संचालक श्री मा सभी चीजों को समझते थे। उन्होंने बड़े उत्साह के साथ हमें सब दिखलाया। छोटी-बड़ी २१०२ गुहायें हैं, जिनमें १७०० इस तरफ और ४०० लो नदी के परले पार। दोनों पहाड़ों के बीच काफी चौड़ी जगह में यह नदी बहती है। पानी इसमें बारहों मास रहता है, यद्यपि डूबने लायक नहीं। लोयाङ् शहर के नाम में इस नदी की छाप है। दोनों ओर के पहाड़ और उसके पास की भूमि कोयलों से भरी

हैं। उनमें काम जोर से लगा हुआ था। लौह यज्ञ का नारा इस सारी भूमि को मनुष्यमय किये हुए हैं। मालूम होता है, कोई मेला है। हजारों आदमी इधर से उधर घूम रहे थे। कोई कन्धे पर एक मन कोयला कांवर में डाले ले जा रहा था, कोई १५ ही सेर टोकरी में ले जा रहा था। सभी काम में व्यस्त थे। गर्मी प्यास लगाती है। गुफाओं को बनाते वक्त पहाड़ के चश्मों का खास तौर से ध्यान रखा गया था। चश्मे आज भी शीतल स्वच्छ जल बहा रहे हैं। हमारे मित्र ठंडा पानी पीने से बाज रखने की बराबर कोशिश करते थे। बतलाना चाहते थे कि बीमारी से बचने के लिए ही हम चीनी उबला पानी पीते हैं। यहां कोयला ढोने वाले कांवर या टोकरी जमीन पर रखकर चश्मे के पानी को अंजुली से उसी तरह पी रहे थे, जैसे हिमालय के लोग। मैंने श्री चाऊ से कहा—देखिये, चीन के लोग भी शीतल जल का आनन्द लेना जानते हैं।

सारी गुहाओं को कौन देख सकता था? मुख्य-मुख्य गुहाओं को मा महाशय ने दिखलाया। उत्तरी वेई (३८६-५३४ ई०), उत्तरी छी (५५०-५७७ ई०), पश्चिमी वेई (५३५-५५७), सुई (५८१-६१८) और थाङ् (६१८-९६० ई०) वंशों के समय में ये गुफायें बनीं। सबसे अधिक गुहायें उत्तरी वेई और थाङ् काल की हैं। इनकी संख्या क्रमशः १०३ और ११०० थी। तीसरी गुहा उत्तरी वेई काल में बनायी गयी। इसमें धर्मचक्र परिवर्तन मुद्रा वाले बुद्ध की मूर्ति है। कुछ मूर्तियां छिन्न-मस्तक हैं। इनके सिरों को अमरीकी चुरा ले गये। गुफाओं की छतें कहीं अंडाकार और कहीं गोलाकार हैं। थाङ्-काल में बनी पहली और दूसरी गुहायें अतिविशाल हैं। इनकी मूर्तियों के वक्ष और स्कन्ध बड़े सुन्दर गुप्तकालीन मूर्तियों जैसे हैं। पर मुख में वह लावण्य नहीं है। एक गुहा से दूसरी गुहा में जाते हम देख रहे थे कि लोग शकरकन्द खाकर शीतल जल पी रहे हैं। सबसे बड़ी गुहा थाङ्-काल की है, जिसमें स्थापित बुद्ध की मूर्ति १७ मीतर ऊंची है। इसकी दाहिनी ओर खड़ी सारिपुत्र की मूर्ति अखंड है, पर बायीं ओर मौद्गल्यायन की मूर्ति टूटी है। आगे की ओर पहले विशाल छत भी थी, जो अब गिर चुकी है। चारों महाराजाओं (देवताओं) की मूर्तियां भी अच्छी हालत में हैं।

इन गुफाओं में किसी समय हजारों भिक्षु रहते होंगे, पर अब उनकी

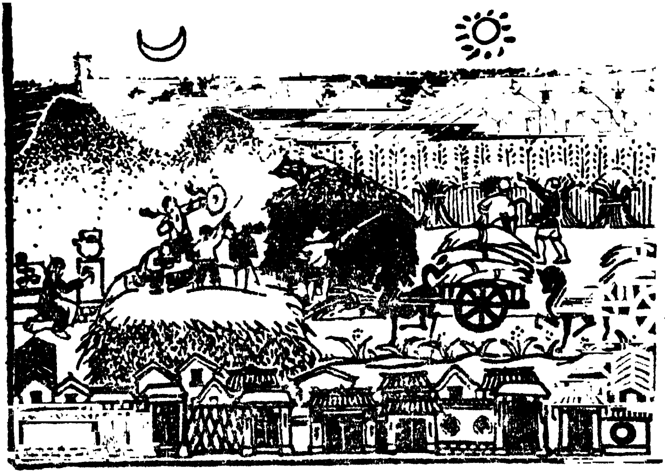
संख्या आधा दर्जन भी नहीं है। जहां तक गुहाओं की कला का सम्बन्ध है, उसकी ओर सरकार पूरा ध्यान दे रही है। श्री मा इसी देखरेख के लिए हैं।

लौटते वक्त नगर से आठ किलोमीतर दूर कुङ्-कानपू में लोयाङ् का संग्रहालय देखने गये। बारहवीं शताब्दी में एक प्रसिद्ध राजभक्त वीर हुआ था। लोगों में राजभक्ति फैलाने के विचार से मिङ् सम्राट वाङ्लिन ने यहां मन्दिर बनवाकर उसकी मूर्ति स्थापित करा दी। इसी का उपयोग अब म्यूजियम के रूप में हो रहा है। विशाल शालायें बेकार ही पड़ी थीं। चीन के पिछले ५,००० वर्ष के इतिहास की पुरातत्व सामग्री यहां जमा की गयी है। नवपाषाण और ताम्र युग के हथियार तथा मिट्टी के बर्तन क्रमशः सजाये हुए हैं। लोयाङ् पुरानी कब्रों के लिए मशहूर है। नई इमारतों की नींव खोदते समय उनको भी खोदना पड़ता है। उन्हीं से तत्कालीन समाज पर प्रकाश डालने वाली विपुल सामग्री मिल जाती है। उन्हीं को यहां सजाया गया है। पीकिङ् के मिङ् प्रसाद की तरह यहां भी बड़े घोड़े के साथ एक कूचा वाले सवार की मूर्ति थी। मैंने संचालक का ध्यान इधर विशेषतौर से आकृष्ट किया। इतिहास को देखने से मालूम होता है कि भारत ने चीन को बहुत कुछ दिया, पर चीन से लिया केवल रेशम और लीची और हाल में मूंगफली तथा चाय। पर बात ऐसी मालूम नहीं होती। भारत में सामन्तवादी और तत्सम्बन्धी कला तथा संस्कृति का बहुत विकास हुआ, वैसे ही चीन में भी हुआ। भारत में सारे देश का एक शासन यदि कभी हुआ तो वह सिर्फ मौर्य काल में। उसके बाद तो सम्पूर्ण उत्तर या सम्पूर्ण दक्षिण का यदि एक शासन हो जाता, तो वही बहुत समझा जाता। हां, सांस्कृतिक एकता की भावना हमारे लोगों में बराबर रही है। चीन में सांस्कृतिक एकता ही नहीं, बल्कि राजनीतिक एकता की भावना सदा अतिप्रबल रही, वह बार-बार स्थापित हुई। उदाहरणार्थ, छिन वंश (२२१–२०६ ई० पू०), पूर्वी हान (२५–२२० ई०), सुई (५८१–६१८), थाङ् (६१८–९०७), सुङ् (९६०–११२७), मंगोल (१२६९–१३६८), मिङ् (१६४४–१३६८), छिङ् या मंचू ((१६४४–१९११)। इतने बड़े विशाल देश पर जिसका एकछत्र राज्य हो, वह सामन्त वंश विलासिता और विलास सामग्री में चरम उन्नति को क्यों न प्राप्त हो। रेशमी कपड़ा उन्हीं का आविष्कार था। जंगली कीड़ा इतना सुन्दर सूत नहीं खींच सकता था।

वेशभूषा में भी बहुत सी नयी चीजें यहां आविष्कृत हुई होंगी। चीन के पड़ोसी सामन्तों ने रेशमी वस्त्र की तरह अनेक चीजों को अपनाया होगा। मेरा ख्याल है, श्रृंगार के लिए हमारे यहां जो लाल बिंदिया स्त्रियों और बच्चों को लगायी जाती है, वह चीन की देन है। गुप्त काल से पहले ऐसे प्रसाधनों का उल्लेख हमारे यहां नहीं मिलता। यदि ये चीन से आये, तो कब्रों में से मिली मूर्तियों में इनका अस्तित्व ढूंढ़ना पड़ेगा। सौभाग्य से ईसवी सन की आरम्भिक शताब्दियों की भी बहुत सी मूर्तियां मिलती जा रही हैं, जिनका रंग भी सुरक्षित है।

अपराह्न में हम ट्रैक्टर कारखाना देखने गये। यह चीन के सबसे बड़े ट्रैक्टर कारखानों में है। १ अक्तूबर १९५५ से बनना आरंभ हुआ। १९५६ में इसमें ४,००० कमकर थे, १९५७ में ८,००० और १९५८ में १४,०००। अभी भी यह पूरी तौर से काम करने नहीं लगा है। १९५९ से उत्पादन बढ़ेगा। तब कमकर १६,००० हो जायेंगे। ५० अश्वशक्ति के १३,००० और १२० अश्वशक्ति के ७,००० ट्रैक्टर प्रति वर्ष यहां बनाये जायेंगे। इसकी बनावट छाङ्-छुन् के मोटर कारखाने जैसी है। जहां परिवार सहित आधे लाख लोग बसते हों, वहां के मकानों की विशालता के बारे में क्या कहना? चीन की प्राचीन राजधानी को कैसे उठाया गया, उसका नमूना यह कारखाना है। शहर से यहां तक बस्ती बढ़ती जा रही है। कुछ दिनों में यह शहर का ही एक अंग हो जायगा। मजदूरों के लिए रहने के मकान, विनोद शालायें, दूकानें, शिक्षणालय सभी हैं। मजूरों का वेतन ३० युवान से ११० युवान तक है। सबसे अधिक वेतन पाने वाला विशेषज्ञ ३०० युवान पाता है।

रात को दो आपेरा देखे। यह स्थानीय आपेरा थे। एक सम्भ्रान्त परिवार की कन्या ने पिता के विरोध करने पर भी अपने प्रेमी तरुण से विवाह करने में सफलता प्राप्त की, यह पहले आपेरा का विषय था। अभिनय और वेश-भूषा सभी सुन्दर थे।



राजधानी महोत्सव

लोयाङ् में शायद एकाध दिन और रहते, पर हमें पहली अक्तूबर का महोत्सव भी देखना था, जो साल भर में एक ही बार देखा जा सकता है। ट्रेन से चलकर ३० सितम्बर के ११ बजे दिन में हम पेकिङ् पहुंचे। श्री चेङ् स्टेशन पर आये हुए थे। अब तक शिङ्-चाउ होटल में हमें स्थान मिला था। लेकिन महोत्सव के लिए देश और विदेश के दर्शक बहुत बड़ी संख्या में आते हैं। प्रयत्न करने पर भी उसमें स्थान नहीं मिल सका। अबकी छिन्-मन होटल के २०५ नम्बर के कमरे में जगह मिली। यह शिङ्-चाउ से भी बड़ा होटल है। यह दो कमरों वाला सूट था। यह इसलिए भी आवश्यक था कि पत्नी और बच्चे आ रहे थे। तार से ज्ञात

हुआ कि कमला को पासपोर्ट मिल गया है। अब यही उत्सुकता थी कि कब वे आयें और देखने का सम्मिलित प्रोग्राम बनाया जाये।

३० की शाम को महोत्सव के उपलक्ष्य में प्रधान मन्त्री का भोज पेकिङ् होटल में था। मैं भी निमन्त्रित था। श्री ली के साथ वहां गया। प्रधान मन्त्री चाउ एन-लाई अतिथियों के स्वागत के लिए देहली में खड़े थे। सबसे हाथ मिलाना, मुस्कराकर "कैसे हैं" कहना। यही शिष्टाचार था। हजार अतिथि थे। ज्यादा समय दे ही कैसे सकते थे? विशाल हाल में मेहमानों के बैठने के लिए मेजें सजी हुई थीं। हमारी मेज पर मैं, ली और एक और बौद्ध सत्पुरुष बैठे थे। पास में ईसाई मेहमान थे। भोज से ज्यादा नगर के अलंकार ने आकृष्ट किया। होटल भी अलंकृत था और यह महाशाला तो और भी। घंटे-डेढ़-घंटे तक भोज रहा और भाषण हुए। साढ़े आठ बजे हम होटल में लौट आये।

पहली अक्तूबर

१ अक्तूबर का सबेरा हुआ। आसमान साफ था। महोत्सव और भी अधिक सफल रहेगा, इसकी संभावना थी। सड़क पर लोगों की भीड़ थी। सभी जगह छुट्टियां थीं। लोग उत्सव मनाने में लगे थे। हर्षोत्फुल्ल तरुण-तरुणियां, बालक-बूढ़े सड़कों पर घूम रहे थे। पुलिस को नियन्त्रण करना कठिन हो रहा था। यद्यपि उत्सव ६ बजे शुरू होने वाला था, पर एक घंटा पहले ही जाकर अपना स्थान लेना था। कार कितने ही घूम-घुमौए रास्ते से मिङ्-प्रासाद के पास के एक बगीचे में खड़ी हजारों कारों में जा मिली। मिङ्-प्रासाद के मुख्य द्वार को थ्यान-आन्-मिन् (स्वर्गीय शांति द्वार) कहते हैं। इसके आगे दोनों पार्श्वों में सड़क के नजदीक बहती नहर के पास दो सीढ़ीदार विशाल मंच हैं। विशेष अतिथियों को यहीं बैठाया जाता है। हमारा मंच बायीं ओर का था। हम एक घंटा पहले आये थे। जान पड़ता था, कुछ लोग हम से भी ज्यादा चुस्त थे, वह पहले ही आ गये थे। मंच सुरक्षित था, पर सीढ़ी पर स्थान सुरक्षित नहीं था। नाना जाति के लोग थे। रूसी भी थे, दूसरी योरोपीय जातियों के लोग भी थे, भारतीय भी

थे, पर हमारी जगह से हटकर। आठ बजे से दो बजे तक छै घंटा खड़े या बैठे तमाशा देखना मेरे जैसे स्वास्थ्यवाले आदमी के लिए रुचिकर नहीं था। पर उत्साह में पांच घंटे तो मैंने खड़े-खड़े बिताये। ९ बजे अध्यक्ष माओ प्रधान द्वार के अपने निश्चित स्थान पर आकर खड़े हो गये। कार्रवाई ठीक समय पर शुरू हो गयी। मास्को के लाल मैदान में मई दिवस और अक्तूबर-क्रान्ति के महोत्सव मैंने देखे हैं। यह मैदान उससे कम नहीं है। हमारे सामने के मकानों के ऊपर मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन और स्तालिन के बड़े-बड़े चित्र लगे हुए थे। थ्यान्-आन्-मिन् में माओ का बहुत बड़ा चित्र टंगा था, जिसके ऊपर ही इस वक्त वह स्वयं खड़े थे। जीवित महापुरुषों का चित्र उनके जीवन और प्रभुता के समय भी अधिक प्रदर्शित करना रूस की तरह यहां भी बहुत होता है।

पहले प्रतिरक्षा मन्त्री ने मैदान में आयी सेना का निरीक्षण किया। फिर उन्होंने भाषण दिया। इसके बाद मैदान में मानवता तरंगित हो उठी। सभी आगे की ओर बढ़ने लगे। नौ सेना, स्थल सेना और वायु सेना, सभी सेनाएं भाग ले रही थीं। आकाश में चीन के बने सैनिक जेट-विमान तीन-तीन की तिकोणी पांत में दौड़ने लगे। टैंक और शक्तिशाली तोपें भूमि को दहलाती गतिशील हुईं। ऐसा दृश्य था, जिसे देखकर हरेक चीनी के खून में एक डिग्री तापमान जरूर बढ़ा होगा। यह सैनिक प्रदर्शन ही नहीं था, बल्कि जीवन के हर क्षेत्र का प्रदर्शन था। कारखानों के मजदूर अपनी सजी ट्रकों में बैठे सामने से गुजरे। कम्यून के किसान भी किसान और नागरिक सेना (मिलिसिया) के रूप में मार्च कर रहे थे। अन्य सैनिकों से उनमें अन्तर यही था कि वह किसानी पोशाक—बन्द गले के कोट और पैन्ट—में थे। उनके सिरों पर सफेद रूमाल या टोपी थी, हाथों में बन्दूकें थीं। व्यायाम-प्रेमी नरनारी ट्रकों पर बीच-बीच में व्यायाम करते, नट-नर्तक उसी तरह अपनी कला दिखाते। वहां संक्षिप्त रूप में सारा चीन आ गया था। स्कूलों के लड़के अपने कण्डों और व्यूह से कभी लाल-कमल के सरोवर की तरह दिखाई देते और कभी सफेद कमल के। सफेद, काले, पीले, लाल, हरे सभी वर्णों से भूमि रंजित मालूम होती थी। उनके उत्साह का क्या कहना? प्रदर्शन में रबड़ के बड़े-बड़े गुब्बारे तो छूट ही रहे थे.

एक विकराल नाग भी गुब्बारों के सहारे आसमान में छोड़ा गया। जान पड़ता था, सींग और चार पैरों वाला चीनी नाग सचमुच ही इस देश की विजय का सन्देश आकाश में पहुंचाने जा रहा है।

दो बजे से थोड़ा ही पहले प्रदर्शन समाप्त हुआ। लोग लौटने लगे। नगर में मेला लगा हुआ था। लेकिन अभी सबसे बड़ा आकर्षण रात की आतिशबाजी थी। ली महाशय अपने तीनों छोटे-छोटे बच्चों और पत्नी के साथ हमें देखने के लिए ले गये। ली की दोनों लड़कियों के सिर पर गोल टीका देखकर मुझे विचारमग्न होना पड़ा। उनके बच्चे असाधारण गोरे और सुन्दर थे। उसपर वह लाल बिन्दु सौन्दर्य को बढ़ाने वाला था। पर मेरे मन में खयाल आता था कि भारत का यह लाल बुंदा यहां कैसे आया। चीन में बौद्ध धर्म को स्वीकार किया गया, चित्र और बहुत सी बातें भी उसने अपनायी, लेकिन सबको अपना रूप देकर। चीन की संस्कृति कोई टुटपूंजिया संस्कृति नहीं थी, इसलिए वह भारत की नकलची नहीं हो सकती थी। अपने देने लायक दिनों में भारत ने किसी देश की संस्कृति को अपने सम्पर्क से बिगाड़ना नहीं चाहा। यह लाल बिन्दी भारत से आयी, इसके मानने में दिक्कतें थीं। हमारा आदान-प्रदान १२वीं सदी में समाप्त हो गया, जबकि भारत में बौद्ध धर्म ही उच्छिन्न हो गया। फिर देने-दिवाने की बात नहीं उठ सकती थी। अगर यह लाल बिंदिया भारत से आयी, तो किस शताब्दी में? थाङ्-काल अर्थात हर्षवर्धन और उसके दो शताब्दी पीछे के समय में? उस समय सारी दुनिया कला और विलास में चीन को शिरोमणि मानती थी। जब कोई भारतीय भूषण वहां की ललनाओं ने स्वीकार नहीं किया, तो बिंदियों को क्यों स्वीकार करेंगी? गुप्त काल (५वीं-छठी सदी) के हमारे साहित्य में सिन्दूर-बिन्दु का थोड़ा-थोड़ा उल्लेख शायद देखा जाता है। अश्वघोष (प्रथम शती) विशेषक का उल्लेख करते हैं। हो सकता है बिंदिया चीन ने ही हमारी महिलाओं को सिखाया हो। आजकल चीन में इसका रिवाज बहुत कम हो गया है। हां, चीनी कला के भक्त अपने बच्चों को इससे अलंकृत करते हैं। स्त्रियां कोई भी सिर में बिन्दी नहीं लगातीं। पुराने काल के आपेरा नाटकों में नायक के गोरे ललाट पर भी अंगूठे के बराबर गोल बिन्दी लगती है। इससे जान

पड़ता है कि एक समय इसका बहुत प्रचार था। यह विचारणीय है। सौभाग्य से ईसवी सन की आरम्भिक शताब्दियों के कब्रों से बहुत ही सुन्दर, सु-अलंकृत मिट्टी-लकड़ी की मूर्तियां निकल रही हैं। फैसला उन्हीं के हाथ में है। यदि आरम्भिक चारों शताब्दियों में चीन में इनका रवाज खूब रहा, तो निश्चय ही हमने इसे चीन से सीखा। यही क्यों, हमने सामन्ती समाज के विलास की बहुत सी चीजें चीन से ली होंगी। हमारे सामन्त कभी निर्लेप नहीं रहे। कुषाण-शक आये तो उन्होंने हमारे राजाओं को पायजामा पहना दिया। गुप्त सिक्कों पर ऐसे चित्र मिलते हैं।

चीन ने बारूद का आविष्कार किया। मंगोलों ने उसे चमड़े की तोपों से फेंककर शत्रुओं के दुर्गों और घरों में आग लगाने का काम लिया। पीछे योरप में कांसे-पीतल की तोपें ढालकर उसे एक भयंकर अस्त्र तोप का रूप दिया। बाबर की सेना से भारतीय सेना पांच-गुना अधिक थी, लेकिन तोपों के सामने वह घास-मूली की तरह काट दी गयी। चीन अपनी बारूद का तमाशा (आतिशबाजी) हजार बरस से दिखाता आया है। आज तो आतिशबाजी सभी जगह है। पर, चीन में वह अधिक कलापूर्ण है। आसमान में पहुंचकर रंग-बिरंगे प्रकाश के फूलों का छिड़काव तथा दूसरी आकृतियां बड़े सौम्य भाव को प्रदर्शित कर रही थीं। १० बजे तक वह चलती रही। मुझे यही अफसोस हो रहा था कि जया-जेता उसे देखने से वंचित रह गये।

दूसरी अक्तूबर को पेट में गड़बड़ी मालूम हुई। डाक्टर ने कहा किसी कीटाणु का फसाद नहीं है, यह प्राकृतिक विरेचन है। उसी दिन शाम को मिङ्-सम्राट की कब्र खुदाई का दृश्य फिल्म में देखा। कैसे कृत्रिम पहाड़ के भीतर घुसकर दीवार के सहारे दरवाजे को ढूंढ़ा गया? कैसे उसे बिना क्षति पहुंचाये खोला गया और भीतर के कमरों में ३०० बरस पहले रखी हुई चीजें कैसे दिखाई पड़ीं? इस सबको स्पष्ट दिखाया गया था। सिर्फ सम्राट के शव का मुंह नहीं दिखाया गया था। मालूम हुआ ये वस्तुएं मिङ्-प्रासाद में प्रदर्शित की गयी हैं। वहां जाने के लिए जल्दी नहीं थी, क्योंकि आखिर कमला के आने पर फिर हमें मिङ्-प्रासाद देखना था।

४ अक्तूबर को हम यातायात उद्योग की राष्ट्रीय प्रदर्शनी देखने गये। सोवियत ने अपनी प्रदर्शनी के लिए एक कलापूर्ण विशाल इमारत बनायी थी, जो अब चीन सरकार का स्थायी प्रदर्शनी प्रासाद है। वह बहुत विशाल है, पर प्रदर्शनी के लिए वह भी अपर्याप्त था। इसलिए एक दूसरे प्रासाद में भी आधी प्रदर्शनी रखनी पड़ी। सैयां की विशाल प्रदर्शनी मैं देख चुका था, पर इसके सामने वह बच्चा थी। किसी जगह छपाई के प्रेस और दूसरे यंत्र थे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सभी चीन के बने थे। किसी कमरे में रेडियो और टेलीविजन के सैट रखे थे, जिनके हरेक पुर्जे, हरेक बल्ब चीन के, सो भी अधिकतर पेकिङ् के बने थे। फिर विशालकाय घर्षण यंत्र, छिद्रकारक यंत्र, रोलिंग यंत्र। विशाल मशीनें बाहर आंगन में रखी थीं। लोयाङ् के बने ट्रैक्टर भी मौजूद थे। अनेक प्रकार की कारें, ट्रक, बसें भी मैदान में रखी थीं। अपेक्षाकृत छोटे यंत्र विशाल हालों में थे। सिर्फ तैयार माल ही नहीं, बल्कि उनकी कच्ची सामग्री भी वहां थी। प्रदर्शनी का उद्देश्य यह था कि उसे देखने वाला चीन की प्रगति को समझ सके। इसके लिए हर कमरे में भाषण देने वाले पुरुष या महिलाएं थीं। एक कमरे में भाषण के साथ परिचय सुनकर जहां दूसरे कमरे में दाखिल हुए कि पहले का वक्ता पीछे रह गया और नये वक्ता ने अपना भाषण वहां की चीजों के बारे में करना शुरू कर दिया। तरह-तरह के जूते, साइकिल, फोटो-कैमरा, फिल्म, सिलाई मशीनें, घड़ियां और वस्त्र देखने में आये। एक विशाल हाल में रसायन उद्योग से सम्बन्ध रखने वाले यंत्र तथा कच्चे-पक्के माल थे। दवाइयों के हाल को देखने से मालूम हुआ कि चीन पैन्सिलीन, स्टैप्टोमैशीन आदि दवाइयां काफी बनाने लगा है।

यातायात के साधनों को देखने के लिए हमें दूसरे प्रासाद में जाना पड़ा। यहां रेल, जहाज, हवाई जहाज, टेलीफोन, तार आदि के यंत्र दिखलाये गये थे। रेल के रास्तों को सुरंगें निकालकर छोटा किया जाता है, कहीं बारूद से पहाड़ को उड़ाकर रास्ता साफ किया जाता है। प्रदर्शनी में पहाड़ का पूरा दृश्य तैयार किया गया था। सुरंगें दिखलायी गयी थीं और उड़ाने पर पहाड़ किस हालत में रह गया, इसे दिखलाने का भी प्रबन्ध था।

६ अक्तूबर को बौद्ध संघ के श्री वाङ् ने टेलीफोन से कहा कि ताशकन्द

में एशिया-अफ्रीका के लेखकों का सम्मेलन हो रहा है। उसमें जाने के लिए तार आया है। मैं परिवार के आने की प्रतीक्षा में था। इस समय ताशकन्द कैसे जा सकता था? चीन के लेखक भी जा रहे थे, इसलिए साथ भी होता। पर मैंने न जाने का ही निश्चय किया।

७ अक्तूबर की रात को सवा आठ बजे चेङ् महाशय का फोन आया—"हमें तार से खबर मिली है, ६ तारीख को श्रीमती सांकृत्यायन पेकिङ् पहुंचने वाली हैं।" "कुफ्र टूटा खुदा-खुदा करके", आखिर सारी बाधायें दूर हुईं और अब कमला और बच्चे जल्दी ही पेकिङ् आने वाले हैं।

६ अक्तूबर को प्रतीक्षा कर रहा था। सूचना मिली कि कुनमिङ् से चलकर वह सिआन पहुंच गयी हैं। पर आज मौसम ठीक नहीं है। वह कल आयेंगी। मित्रों ने बहुत कोशिश की कि सिआन से टेलीफोन से सम्बन्ध स्थापित करके मैं बात कर लूं। पर उसमें सफलता नहीं मिली। मुझे यह चिन्ता थी कि पहले-पहल वह विदेश में आयी हैं,, तजुर्बा नहीं है। भाषा की भी दिक्कत है, जरूर कुछ कष्ट होता होगा। पीछे उन्होंने बतलाया कि कष्ट सिर्फ रंगून तक रहा।

हमारे मेजबान हमसे भी ज्यादा स्वास्थ्य के लिए फिक्र रखते थे। इसलिए मुझे अस्पताल बराबर जाना पड़ता था। ६ अक्तूबर को कार्डियोग्राम कराया।

आखिर १० अक्तूबर का सबेरा हुआ। सिआन से तायुवान में ठहरते हुए विमान पेकिङ् आने वाला था। कहीं मौसम खराब हुआ, तो फिर यात्रा स्थगित हो सकती थी। मन में यही शंका उठ रही थी।

साढ़े १२ बजे हम हवाई अड्डे पर पहुंचे। श्री चेङ् और श्री चाङ भी साथ थे। थोड़ी देर में विशाल विमान भूमि पर उतरा। हमारे यहां की तरह यहां विमान के पास जाने में कोई दिक्कत नहीं थी। पर अभी चलने-फिरने में संयम रखने की हिदायत थी, इसलिए मुसाफिरखाने के ऊपरी कमरे से नीचे ही मैं उतर आया। विमान की खिड़की से ही शायद जया-जेता ने पापा को देख लिया और कैसे करना चाहिए, इसे भी सोच लिया था। जेता ने आकर पैर छुआ। विदेश में पैर छूने की प्रथा अच्छी नहीं समझी जाती, लेकिन साढ़े तीन साल के बालक को यह समझाने

की आवश्यकता नहीं थी। वहां से हम होटल के अपने कमरे में आये। कमला ने अपनी यात्रा के मीठे-कड़ुए अनुभव बतलाये। चीन में जिस व्यवहार को उन्होंने देखा, उससे बहुत प्रभावित थीं।

बच्चों को भी चीन पसन्द

कितने सौभाग्यवान हैं ये बच्चे, जो साढ़े तीन और पांच वर्ष की आयु में नवीन चीन के बहुत से भागों को एक महीने तक देखते रहे। उनके पिता-माता को यह सुयोग बहुत पीछे मिला। बच्चे हरेक चीज को अपनी दृष्टि से देखते हैं। चीन की महिलायें अपने बच्चों को बहुत प्यार करती हैं। वह इन्हें और भी प्यार से गोद में उठा लेतीं और हर चीज को दिखातीं। उन्होंने चीन में रहते सिर्फ दो वाक्य सीखे—नी हाऊ (कैसे हैं या प्रणाम) और शे-शे (धन्यवाद)। उनको भाषा की आवश्यकता भी नहीं थी। संकेत से ही सब समझ जाते थे। यदि चार-पांच महीना रहना पड़ता, तो इसमें शक नहीं वे चीनी बोलने लगते। जया ने तो यह नियम कर लिया था कि मैं दो लकड़ियों से ही खाना खाऊंगी। वह इसमें निष्णात भी हो गयी। चिमटे की तरह लकड़ियों से वह किसी भी चीज को उठा सकती है और भात के प्याले को मुंह से लगाकर लकड़ियों के सहारे उसी तरह खा सकती है, जैसे चीनी बच्चे। बचपन में आदमी बहुत जल्दी किसी चीज को सीख सकता है।

यह बतला चुका हूं कि पोलियो के आक्रमण के कारण जेता का दाहिना हाथ कमजोर है। वह केहुनी से कंधे तक अपेक्षाकृत पतला भी है। ११ अक्तूबर को उसे शिशु चिकित्सालय में दिखाने गये। सूचि-स्पर्श (सूई की मधुर चुभाई) इस बीमारी में ज्यादा लाभदायक होती है। संचालक ने विशेषज्ञ को बुला लिया। उन्होंने अच्छी तरह देखा। सूई की चिकित्सा के लिए अधिक दिन रहना पड़ता। यह तभी हो सकता था जब हाथ की हालत बहुत खराब होती। पर जेता अपने दायें हाथ को अच्छी तरह इस्तेमाल कर सकता है। लिखने के लिए भी वह दाहिने हाथ का ही उपयोग करता है। हाथ की पकड़ से मालूम होता है कि उसमें शक्ति है। फर्क

इतना ही है कि बायें की अपेक्षा वह कमजोर है। विशेषज्ञ ने बतलाया कि सूचि-स्पर्श की जगह त्रिकोंटी काटने से भी काम चल जायगा। उन्होंने जेता की मां को इसका ढंग बतला दिया।

श्री चाउ फूछू से आगे का प्रोग्राम निश्चित हुआ। मध्य और दक्षिण चीन में घूमते दो या तीन नवम्बर तक हम चीन से विदा ले सकते थे। उसी दिन मिङ्-प्रासाद को पुनः देखने गये। मिङ्-समाधि की वस्तुएं मेरे लिए भी नयी थीं। बच्चों और उनकी मां के लिए हरेक चीज नयी थी। सब अपनी-अपनी दृष्टि से उन्हें देखते और आनन्द अनुभव करते रहे।

१२ अक्तूबर को हम पेहै और सम्राट का पूजा मंदिर देखने गये। प्रतिध्वनि सबको आश्चर्य में डाल रही थी। अक्तूबर का मध्य था। कमला ने समझा होगा, अभी तो गर्मी होगी। लेकिन पेकिङ् की गर्मी सितम्बर के साथ खत्म हो गयी थी। अब सर्दी लग रही थी। वह अपने साथ गर्म कपड़ा नहीं लायी थीं। बच्चों को भी जरूरत थी। हमारे मेजबान ने उपयुक्त कपड़े लाकर दे दिये। कमला को बहुत सिर दर्द रहा। १३ को परीक्षा करने के बाद डाक्टर ने भी सर्दी को ही कारण बतलाया। उस दिन का प्रोग्राम संध्या के समय पेकिङ् विश्वविद्यालय जा भारतीय बंधुओं से मिलने भर सीमित रहा। दूर देश में देश की बातें बराबर नहीं सुनने में आतीं। यदि कोई नया आदमी आता है, तो सबके मन में देश की हालत जानने की उत्सुकता जग उठती है।

१४ अक्तूबर को जया को जुकाम हो गया। तो भी हमने कार्यक्रम जारी रखा। सबेरे के वक्त तुङ्-स्स मुहल्ले में लुङ्-च्दाउ भिक्षुणी बिहार देखने गये। इसकी स्थापना मिङ् काल में हुई थी। बिहार में २२ से ८० वर्ष तक की ८६ भिक्षुणियां रहती हैं। इनमें २० की आयु २२ और ३० के बीच है। इसका अर्थ है कि अभी भी स्त्रियां भिक्षुणी जीवन की ओर आकर्षण रखती हैं। ६१ वर्ष की ध्वोन्-चौ बिहार की नायिका हैं। सिंहल की भिक्षुणी ने चीन में आकर भिक्षुणी संघ स्थापित किया, यह उन्हें मालूम था। पर पूरा वंश-वृक्ष याद नहीं था। उन्होंने उपसंपदा के लिए उपयोगी "कर्मवाचा" पुस्तक दिखलायी और बतलाया कि हरेक भिक्षुणी को भिक्षुणी

संघ और भिक्षु संघ दोनों में उपसंपदा (दीक्षा) लेनी पड़ती है। धर्मकांड में २४ घंटे लगते हैं। उपसंपदा का क्रम वही है, जिसे श्रीलंका के भिक्षुओं में अब भी देखा जाता है। बिहार बहुत ही स्वच्छ और सुन्दर था। पेकिङ के ऐसे तीन बिहारों में २०८ भिक्षुणियां रहती हैं।

सर्दी हमारे प्रोग्राम में बाधक नहीं हो सकती थी। पर घूमने के लिए सबको स्वस्थ रहना चाहिए। जुकाम के बाद जया को बुखार आ गया। डाक्टर ने पैन्सिलीन का इंजेक्शन दिया। अब एक आदमी को उसके साथ रहना आवश्यक था। कमला रह गयी और मैं चीन के लोककथा साहित्य अनुसंधान सभा में गया। नाम से ही मालूम होगा कि इसका काम विशाल चीन राष्ट्र में प्रचलित लोककथाओं का संग्रह और अध्ययन करना है। इस सभा की स्थापना १९५० में हुई थी। आफिस में ४५ कर्मचारी थे। अब निश्चय किया गया है कि प्रत्येक प्रदेश में इसकी शाखा हो। अभी भी ऐसी सभा प्रदेशों में हैं, परन्तु वे एक-दूसरे से सम्बद्ध नहीं हैं और न केन्द्रीय सभा की अंगभूत हैं। लोककथाओं और लोकगीतों के संग्रह के लिए टेप-रिकार्डर का भी इस्तेमाल होता है। बहुत सी लोकवार्ताएं आज के चीनी जीवन और आन्दोलन से प्रभावित हैं। यह हो नहीं सकता था कि किसान और मजदूर वर्तमान स्थिति से प्रेरित होकर नयी लोकवार्ताओं का निर्माण न करते। दीवार समाचारपत्रों में कभी-कभी सुन्दर लोकगीत या लोककथाएं आती हैं। इनके संग्रह का सूत्रपात हो गया है। लेकिन जिस विस्तार के साथ होना चाहिए, उसमें कुछ देर लगेगी। सभा ने अपने यहां से कई पुस्तकें भी प्रकाशित की हैं।

होटल लौटकर देखा कि जया का बुखार उतर गया है। रात को पेकिङ आपेरा देखने का प्रोग्राम था। मैं जया के पास बैठ गया और मां-बेटे आपेरा देखने गये। जेता (साढ़े तीन वर्ष) को आपेरा ने बहुत प्रभावित किया। छै महीने बाद भी वह भारत आकर उसका अभिनय करता है। चीनी राजा कैसे हाथ भांजते हुए गम्भीरता से सिंहासन की ओर बढ़ता है. इसका अभिनय उसके लिए कठिन नहीं है। पर बेचारे को नाभी तक लटकने वाले दाढ़ी-मोंछ कहां मिलें और उससे भी सुन्दर लगनेवाली सिर की लचकती दोनों सींगें यहां देखी भी नहीं जा सकतीं। यदि ये दोनों साधन

मिल जाते, तो जेताजी घर में आये हर मेहमान को पेकिङ् आपेरा दिखाने के लिए तैयार थे। इसी से मालूम होगा कि पेकिङ् आपेरा कितना आकर्षक है। कमला संगीत में दिलचस्पी रखती हैं। वह आपेरा में गाये जाने वाले गीतों के स्वर की बड़ी तारीफ कर रही थीं और कठिन अभ्याससाध्य बतला रही थीं। मेरे लिए तो वह भैंस के सामने बीन थी।

१५ अक्तूबर को हम सपरिवार मिङ् समाधि और चीन की दीवार देखने गये। श्री चाउ हमारे पथप्रदर्शक थे। जया को कल बुखार आया था, लेकिन वह जाने के लिए सबसे ज्यादा उत्सुक थी। सर्दी काफी थी और महादीवार के पास तो तेज हवा हड्डियों को चीर रही थी। पर दीवार दिखाये बिना भारत लौटना अच्छा न होता। अब मैं कुछ ज्यादा चल-फिर सकता था। महादीवार के बाद द्वितीय मिङ् सम्राट की समाधि देखने ऊपर तक चढ़ गया। यहीं पर भोजन हुआ। लौटते तक मिङ् समाधि जलनिधि देखते हुए लौटना था। पिछली बार जलनिधि का काम समाप्त नहीं हुआ था। काम करने वालों के बहुत से तम्बू अब भी वहां लगे हुए थे। पर अब स्थान खाली पड़ा था।

पाउदिन

१६ अक्तूबर को श्वीशे कम्यून देखने जाना था। भारत लौटने के लिए बर्मा से गुजरना पड़ता, जिसके लिए बर्मी दूतावास में बीजा पाने के लिए कुछ रुपये और अपने दोनों पासपोर्ट दे आये। स्टेशन से पौने ११ बजे हमारी रेल चली। जया-जेता और उनकी मां के लिए यह चीन की पहली रेलयात्रा थी। यहां रेलों में भीड़ न थी, न धकमधुक्का। सभी चीजें साफ थीं। २ घंटे २० मिनट की यात्रा के बाद हम पाउदिन स्टेशन पर पहुंचे। श्वीशे कम्यून इसी जिले में है। यदि कम्यून में ही रहने का प्रबन्ध होता, तो वहां स्टेशन मौजूद था। पर अभी वहां विदेशी मेहमानों के ठहरने लायक जगह नहीं थी। पाउदिन का होटल दुमंजिला ही था, पर बहुत सुन्दर और साफ-सुथरा था।

होटल में बैठे क्या करते। चीन में मक्खियां भी तो नहीं हैं। सोचा,

कहीं घूम आयें। थोड़ी ही दूर पर हजार विद्यार्थियों वाला नार्मल स्कूल था। उसे देखने गये। इसमें ६० अध्यापक थे, जिनमें चार महिलाएं थीं। पाठ्यकाल दो से तीन बरस का था। नवीं कक्षा पास छात्र-छात्राएं यहां पढ़ने आते थे। पहले उन्हें १० युवान मासिक वृत्ति दी जाती थी। अब वे स्कूल की फैक्टरियों में काम करके २० युवान मासिक लेते हैं। स्कूल के हाते ही में दस छोटी-छोटी फैक्टरियां हैं, जिन्हें आगे बड़ा रूप दिया जायगा। फैक्टरियों का एक नमूना खाद-कीटाणु फैक्टरी थी। इसमें ३० छात्र-छात्राएं काम करते थे। ७ युवान की पूंजी और २ कोठरियों से इसका आरंभ हुआ। घटिया सेव की लेई को कृमिरहित करके खाद के कीटाणु उनमें डाल दिये जाते हैं। निश्चित मात्रा में विकसित हो जाने पर एक-एक छटांक की शीशियों में भरकर लेबिल लगा दिया जाता। हमारे यहां भी यह काम आसानी से किया जा सकता है। लेकिन लेबिल लगायी शीशियों को खरीदेगा कौन? यह समस्या हल नहीं हो सकती। यहां वह समस्या ही नहीं है, क्योंकि खाद के बड़े-बड़े कारखाने उसे तुरन्त खरीदने के लिए तैयार हैं। इससे स्कूल को हजार युवान प्रतिमास लाभ होता है। उसमें से ६०० युवान वह ३० छात्रों में बांट देता है। गांधीजी ने स्वावलम्बी शिक्षणालयों का स्वप्न देखा था। हमारे यहां वह कभी पूरा नहीं हुआ। यहां जान पड़ता है कि कुछ ही वर्षों में सारी शिक्षण संस्थाएं—विश्वविद्यालय तक—स्वावलम्बी हो जायेंगी। यहां की शिक्षा में शारीरिक श्रम एक आवश्यक अंग हो है।

स्कूल की प्लास्टिक फैक्टरी, बढ़ईखाना, लोहारखाना, ढलाईखाना आदि को देखने के बाद भी हमारे पास समय था। इसलिए हम यहां के कृषि कालेज को देखने गये। पाउदिन ३ लाख ८० हजार आबादी का अच्छा खासा शहर है। नयी दुमंजिला-तिमंजिला इमारतें बनकर उसे एक सम्भ्रान्त नगरी का रूप दे रही हैं। हर जिले में एक कृषि कालेज हमारे लिए आश्चर्य की बात है। हमारे यहां तो प्रान्त के लिए एक कृषि कालेज हो जाये, तो बहुत समझा जाता है। इस कृषि कालेज में २ हजार छात्र और १६ हजार एकड़ जमीन थी। ४०० एकड़ बाग-बगीचे, हजार एकड़ साग-सब्जी, बाकी में और फसलें। सहायक प्रिंसिपल ने हमें खेतों को दिखाया। शाम हो गयी थी। थोड़ा ही समय था, इसलिए हम कालेज की कक्षाओं को नहीं देख सकते थे।

एक छौ एकड़ (४० मौ) के कपास के खेत को देखा। कपास का पौधा दो मीटर (प्रायः ५ हाथ) ऊंचा था, जिसमें आदमी छिप सकता था। एक कपास के पेड़ में दो सौ कलियां देखीं। कलियां हमारे यहां की कलियों से चौगुनी बड़ी थीं। एक एकड़ में बिनौले सहित ६ टन और बिनौले बिना २ टन (५६ मन) उपज हुई। इस पर हमारे यहां विश्वास करना मुश्किल है। गेहूं ४.९० टन प्रति एकड़ की भी वही बात है। पर यहां वह यथार्थ है। कुछ करामाती चीजें भी देखने को मिलीं। एक पौधे में जमीन के भीतर आलू लगे हुए थे और डालियों में टमाटर। दोनों की कलम लगाने से यह चमत्कार पैदा किया गया था। एक और पौधा दिखाई पड़ा, जिसके नीचे शकरकन्द था और ऊपर कोई फल वाली लता। कालेज ने एक एकड़ में २४ टन ((६७२ मन) शकरकन्द पैदा किया। जिस खेत ने एकड़ में पौने ५ टन पैदा किया था, उसमें बालिश्त भर के हरे-भरे गेहूं उगे हुए थे। सहायक प्रिंसिपल ने बताया, इस सारे खेत को चार हाथ गहरा खोद दिया गया। फिर खाद और मिट्टी की तह बिछाकर उसे पाट दिया गया। उसीमें यह गेहूं खड़ा है। बर्फ पड़ने पर यह उसके नीचे ढंक जायगा। बसन्त आयेगा। बर्फ पिघल जायगी, फिर यह जल्दी-जल्दी बढ़ निकलेगा। एकड़ में ४ टन गेहूं तो अवश्य होगा। इसी खेत में अगले साल मई-जून में मक्के की फसल बोई जायगी।

चलते समय मैंने पूछा—तब तो यह कालेज स्वावलम्बी होगा। पर सहायक प्रिंसिपल ने कहा—"अभी थोड़ी कसर है।" कहां तो इस कालेज के छात्र आधे पूरे किसान और आधे बिल्कुल विज्ञान के विद्यार्थी हैं। दूसरी ओर हमारे सफेदपोश विद्यार्थी और अध्यापक हैं, जो किसान का अभिनय भी पूरी तौर से नहीं कर पाते।

१७ अक्तूबर को साढ़े ८ बजे हम श्दीशै कम्यून देखने गये। पांच बजे शाम को वहां से लौटे। शाम के समय स्टेशन पर हम कम्यून के लोहे बनाने के भट्टे देख रहे थे। संचालक ने एक लोहे का टुकड़ा हमें दिया, जो हमारे साथ भारत आया। जेता महाराज जब अपनी चीन यात्रा का वर्णन बड़े जोश के साथ करने लगते हैं, तो लोहे का यह टुकड़ा जरूर दिखलाते हैं।

रात को हम अपने होटल में लौट आये। १८ अक्तूबर को रेल दोपहर

के साढ़े बारह बजे मिलने वाली थी, इसलिए हम शहर देखने निकले। यहां का चिड़ियाखाना एक विशाल बगीचे में है। इसी में एक संग्रहालय (पहले का सामन्त महल) भी है, जिसमें पुरातत्व की सामग्री व कम्युनिस्ट शासन की स्थापना की सामग्री बड़े ही सुव्यवस्थित ढंग से रखी हुई थी। जिले के शहर में सिंह, बाघ आदि जन्तुओं का होना हमारे देश के लिए संभव नहीं है। पाउदिन के चिड़ियाखाने के सामने लखनऊ का चिड़ियाखाना भी कुछ नहीं है। जेता को सिंह और बाघ देखकर बड़ी खुशी हुई, पर उससे भी अधिक खुशी वहां के बन्दरों को देखने से हुई। एक कृत्रिम पहाड़ी को ऊंची चहारदीवारी से घेरा गया था। इसीमें ५० से अधिक उन्मुक्त बन्दर कूद-फांद रहे थे। सभी बिना पूंछ के थे। प्रकृति प्राणियों के रूप में कैसे परिवर्तन करती है, पाउदिन के बन्दर इसके उदाहरण थे। अत्यन्त सर्द मुल्क में जाड़े में बन्दर की लम्बी पूंछ को गरम रखना संभव नहीं, इसलिए वह जाड़ों में कटकर गिरती गयी। फिर पूंछ बनाना बेकार समझकर प्रकृति ने उन्हें बिना पूंछ का कर दिया। साइबेरिया के अत्यन्त शीतल स्थानों या हिमालय की १४-१५ हजार फीट से ऊपर की जगहों में चूहे भी बिना पूंछ के होते हैं। इसका भी कारण यही है। बन्दरों में एक बहुत शक्तिशाली बदमाश था, जो अपनी शक्ति का दुरुपयोग करके दूसरे बन्दरों पर प्रहार करता था। उसे तीन-चार हाथ की जंजीर से बांध दिया गया था। दर्शकों को अपनी ओर घूरते देखकर उसका पारा गर्म हो जाता और वह अपनी जगह कूदने लगता। जेता को पाउदिन का यह बन्दर अब भी याद है और वह उसके कूदने का अभिनय करता है। पर, यदि कहें कि, "तू पाउदिन का बन्दर है," तो नाराज हो जाता है।

पेकिङ से प्रस्थान

साढ़े १२ बजे ट्रेन चली और सवा तीन बजे हम पेकिङ् पहुंचे। पता लगा, अखिल चीन बौद्ध संघ के अध्यक्ष गे-शेरब ग्यंछो (प्रज्ञा सागर) आ गये हैं। गे-शेरब तिब्बत की मेरी दो यात्राओं के सुपरिचित मित्र थे। ल्हासा के प्राचीन विहार कुन्देंलिङ में उन्हीं की सहायता से धर्मकीर्ति के

न्यायग्रन्थ "वादन्याय" की शान्तरक्षितकृत टीका मुझे प्राप्त हुई और उन्हीं के प्रभाव से मैं उसका फोटो ले सका। यह १९३४ की बात है। उसके बाद ही वह ल्हासा छोड़कर चीन चले आये। वह वस्तुतः प्रज्ञा के सागर हैं। तिब्बत के सबसे बड़े विद्वान हैं। वह पुङ् बिहार में रहने वाले ७ हजार भिक्षुओं में ही नहीं, बल्कि सारे तिब्बत के बड़े विद्वान हैं। तेरहवें दलाई लामा ने जब कजूर (१०३ पोथी) का नया ब्लाक बनवाने का संकल्प किया, तो उसके संपादन की जिम्मेवारी गे-शे शेरब पर रखी। तेरहवें दलाई लामा उनका कितना सम्मान करते थे, यह इसी से मालूम होगा। उनके शिष्यों की संख्या हजारों है। इनमें अच्छे विद्वान भी सैकड़ों हैं। उनके शिष्य बैकाल झील (साइबेरिया) के बुर्यत मंगोलों, बाहरी मंगोलिया के खलखा मंगोलों, भीतरी मंगोलिया के मंगोलों, अम्दो के तिब्बती लोगों, खम्बा लोगों, लद्दाख और कनौर के लोगों में भी मिलेंगे। महामेधावी पंडित, दार्शनिक, चित्रकार गे-शे गेन्दुन छोम्फेल (संघधर्मवर्धन) उनके ही शिष्य थे, जिन्हें १९३४ में मेरे साथ आने की गुरु ने अनुज्ञा दी थी। गेशे धर्मवर्धन १०-१२ वर्ष भारत में रहे, और कम्युनिस्ट विचारों के होकर तिब्बत लौटे। वह अपने अम्दो देश जाना चाहते थे, पर तिब्बत के प्रतिगामी अधिकारियों को मालूम हो गया और उन्हें जेल में डालकर इतनी सांसत दी गयी कि बाहर निकलकर वह कुछ ही दिनों के मेहमान रहे। जब चीनी मुक्ति सेना ल्हासा पहुंची, तो डाक्टरों ने बचाने की बहुत कोशिश की, पर वह नहीं बच पाये। जिस तरह तूलिका पर उनका पूरा अधिकार था, उसी तरह गद्यपद्य पर भी। उन्होंने "अभिज्ञान शाकुन्तल" का तिब्बती में अनुवाद किया। गीता का उनका तिब्बती अनुवाद तो छप ही चुका है। एक छोटा सा उपन्यास भी उनका छपा है। और कितनी ही चीजें लिखी थीं, जो जगह-जगह बिखरी पड़ी हैं—कुछ दार्जिलिंग में, कुछ ल्हासा में और कुछ अन्य स्थानों में। डाक्टर जार्ज रोयरिक के साथ वे कई साल कुल्लू में रहे। ऐसे योग्य शिष्य का इतनी जल्दी निधन होना, गेशे शेरब के लिए दुखद घटना है।

२१ वर्ष बाद १९५५ में नेपाल में गेशे से भेंट हुई थी। अबकी वह गर्मियों में अपने जन्म देश अम्दो चले गये थे। आशा बिल्कुल नहीं थी कि उनसे

भेंट हो सकेगी। मेरे लिए यह समाचार बड़े ही हर्ष का था। उसी दिन पांच बजे शाम को मैं उनके दर्शन के लिए गया। ७६ वर्ष के हैं। शरीर वैसे स्वस्थ मालूम होता है, पर जरा तो जरा ही है। कितनी ही देर तक बातें होती रही। अगले ही दिन हमें पेकिङ् छोड़ना था।

१६ अक्तूबर को गेशे शेरब होटल में मिलने आये। इस आयु में फिर मिलने की संभावना कम रहती है, इसलिए हम दोनों का हृदय आद्र हो गया था। गेशे नवीन चीन से बिल्कुल सन्तुष्ट हैं। वह भली-भांति समझते हैं कि तिब्बत की प्राचीन जाति को यह ऐसा अवसर मिला है, जिसमें उसकी उन्नति के सारे रास्ते खुल गये हैं। हाल में तिब्बत के सामन्तों ने जो तूफान-बद्तमीजी खड़ी की, उसका उन्होंने तीव्र विरोध किया। गेशे शेरब सामन्त नहीं, साधारण वंश में पैदा हुए थे। अपनी बिद्या-बुद्धि से सामन्तों का सम्मान प्राप्त किया। पर उनके सामने सदा साधारण जनता का ही हित रहा है। वह चीन में हो रहे परिवर्तन को अपनी आंखों देख रहे हैं। यदि उनको कुछ असन्तोष है, तो यही कि ये परिवर्तन तेजी के साथ तिब्बत में भी क्यों नहीं लाये जाते। तिब्बत के सामन्तों ने जो अपने हाथों अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारी, उससे तिब्बत के जन-गण हितैषी किसी पुरुष को हर्ष हुए बिना नहीं रहेगा। भारत के प्रतिगामी और समाजवाद के नाम पर समाजवाद को न आने देने के लिए आमादा लोग तिब्बती सामन्तों के असफल प्रयास पर आंसू बहा रहे हैं। पर काल के चक्र को उल्टा नहीं घुमाया जा सकता। वे चीन और भारत की दो हजार बरस पुरानी मैत्री पर प्रहार करने की कोशिश कर रहे हैं, पर इसमें सफलता हो नहीं सकती। पुरानी मैत्री को किसी भी दूसरे रूप में बदलने का मतलब है, सीमा पर संकट को निमंत्रण देना।

आसमान बादल से घिरा था। तब भी श्री चाउ फू-छू, बौद्ध संघ के दूसरे मित्र एवं श्री पुरुषोत्तम प्रसाद त्रिपाठी, श्री देशकर आदि स्टेशन पर आये। उसी दिन कमला और बच्चों ने नौका बिहार भी किया। मध्याह्न भोजन प्रसिद्ध पेकिङ् बत्तक भोजनालय में हुआ। आग में भुनी बत्तक का भोज कला के रूप में होता है। बत्तक का स्वाद मुझे तो बहुत प्रिय है, पर कमला को वह उतना पसन्द नहीं आया।

हम शाङ्-है की ट्रेन पर बैठे जो सवा पांच बजे शाम को पेकिङ् से चली। पाउदिन रास्ते में मिला। सिनेमा के दृश्य की तरह चीन की भूमि, उसके ग्राम-नगर हमारे सामने से गुजर रहे थे। ८ बजकर २५ मिनट पर शू-श्यान स्टेशन आया। यहीं च्यांग काई-शेक की रीढ़ कम्युनिस्टों ने तोड़ी थी। इस निर्णायक युद्ध में कुओमिन्तांग के ५ लाख सैनिक खेत रहे थे।

रात को वर्षा होती रही। हर स्टेशन पर लोहा बनाने के भट्ठों की लाल लपटें दिखाई पड़ती थीं, जो अंधेरे में बड़ी आकर्षक मालूम होती थीं। जेता को उन्होंने इतना आकृष्ट किया था कि भारत लौटने पर देहरादून में रिसपना के किनारे जिस मकान में हम रहने लगे, उसके सामने चूने के भट्टों की लपटों को देखकर वह अपने समवयस्कों और बड़ों को भी कहता —लोहा बनाया जा रहा है, कोक बनाया जा रहा है। उस बिचारे को क्या मालूम कि यह चीन नहीं भारत है। यहां लोहा और कोक का हर जगह बनना संभव नहीं है। यदि बनने लगे, तो यहां दरिद्रता कैसे रहेगी?

सबेरे के वक्त अब भी आसमान ढंका हुआ था। हम पहाड़ी भूमि में चल रहे थे। सूखे पहाड़ों पर ४-५ हाथ लम्बे वृक्ष रोप दिये गये थे। दोपहर के पहले ही हमारी ट्रेन चीन की सबसे बड़ी नदी याङ्ची के किनारे पहुंची। शाङ्-है ट्रेन का अर्थ अब मालूम हुआ। इस जगह से कई सौ मील ऊपर बूहान में रेल का पुल बनाना एक बड़ा चमत्कार समझा जाता है। इस जगह भी पुल बनने जा रहा था, जो बूहान से भी अधिक श्रमसाध्य है, क्योंकि यहां नदी का पाट और अधिक चौड़ा है। वह सागर-संगम के नजदीक पहुंच गयी है। शायद दो-तीन बरस बाद चीन में यात्रा करने वाला यहां पुल पर से होकर गुजरेगा। पर ट्रेन सीधे शाङ्-है जाती है। महानदी में विशाल जहाज खड़ा था, जिसपर हमारी ट्रेन को चार टुकड़े करके रख दिया गया। यात्री सब उसी तरह अपने डिब्बों में बैठे रहे। जेता को देखकर आश्चर्य हुआ, कहने लगे—"रेल जहाज में बैठ गयी, कैसा चीन है?" जहाज के नीचे वह नदी के पानी को भी बहते देख रहा था। कुछ मिनट में सब काम हो गया। जहाज परले पार से उरले पार आया और फिर ट्रेन के चारों टुकड़े जोड़ दिये गये। इंजन खींचकर थोड़ी ही देर में उसे नानकिङ् के प्लाटफार्म पर ले गया।



मध्य चीन

नानकिङ् २,४०० बरस पहले भी एक राज्य की राजधानी रहा। दस-दस राजवंशों ने यहां से चीन पर शासन किया। मिङ् काल से इसका नाम यही है, जिसका अर्थ है दक्षिणी राजधानी। उससे पहले पे-ईशो, चेन्ये, सी-थौ, चिङ्-लिङ्, यू-त्रो इसके नाम थे। च्यांग काई-शेक ने भी इसी को अपनी राजधानी बनाया था। उस वक्त नगर में ७ लाख और उपनगर में २ लाख आदमी रहते थे, जिनमें ३ लाख बेकारी के शिकार थे। नौ ही बरस बाद अब बेकारी का नाम नहीं और जनसंख्या बढ़कर २५ लाख (११ लाख उपनगर) हो गयी। कुओमिन्तांग ने नानकिङ् से २४ अप्रैल १९४९ को मुंह काला किया। अब यह नगरी च्याङ्-शू प्रदेश (जनसंख्या ४ करोड़ १२ लाख ५२ हजार १९२) की राजधानी है। प्रदेश समुद्र तट पर बसा हुआ है। चीन की संस्कृति का यह मुख्य केन्द्र तो है ही, साथ ही यह उद्योग का भी एक बड़ा केन्द्र है। पहले १,००० मजदूरों

वाले यहां दो ही कारखाने थे। इस वक्त २७ कारखाने काम कर रहे हैं, जो पहले से १४ गुना अधिक उत्पादन करते हैं। १९५७ में जो उत्पादन हुआ था, उससे इस साल दो गुना हुआ। उद्योगों में मशीन टूल, रेडियो, बिजली के सामान, रेल इंजिन, मोटर, आदि के निर्माण शामिल हैं।

१९४९ में मुक्ति के समय युगों से प्रसिद्ध कोच्ची रेशम बनाने वाले सिर्फ आठ कारीगर यहां बच रहे थे। वे भी बेचारे भूखे मर रहे थे। लाल या दूसरे पुष्ट रेशमी वस्त्रों पर नाना प्रकार के बेलबूटे और पशु-पक्षी बनाने को ही कोच्ची कहा जाता है। चीन, तिब्बत और दूसरे बहुत से पूर्वी देशों के उच्च सामन्त वर्ग में इसकी बड़ी मांग थी। मांग उतनी कम नहीं हुई थी, जितनी कि कुओमिन्तांग की उपेक्षा ने इस हस्तशिल्प को नुकसान पहुंचाया। आज इस शिल्प में ८०० कारीगर काम कर रहे हैं।

नानकिङ् शिक्षा का भी केन्द्र है। यहां ६४ कालेज हैं, जिनमें दो मैडिकल कालेज भी शामिल हैं। ३३ वैज्ञानिक इंस्टीच्यूट और १०२ हाई स्कूल हैं। ऐतिहासिक संग्रहालय, प्राणी संग्रहालय आदि यहां की दर्शनीय संस्थाएं हैं। मिङ् वंश के संस्थापक प्रथम सम्राट की समाधि यहीं है।

२० अक्तूबर को २ बजे हम नानकिङ् पहुंचे। उस दिन वृष्टि के कारण बहुत देखना संभव नहीं हुआ। फिर भी कार पर नानकिङ् की सड़कें और बाजार देखे। मुख्य सड़क काफी चौड़ी थी।

२१ को भी दिन अच्छा नहीं रहा। बीच-बीच में वृष्टि हो जाती थी। सबसे पहले हम यू-ह्वा-थाई पहाड़ देखने गये। च्यांग काई-शेक के २२ साल के शासन में लाखों क्रान्तिकारी और उनके समर्थक मारे गये। जिस पर जरा भी सन्देह होता, उसकी सजा मौत थी। इस पहाड़ के ऊपर भी कुछ क्रान्तिकारी मारे गये। उसी जगह सबके लिए यहां सम्मिलित स्मारक १९५५ में बनवाया गया। नानकिङ् के पहाड़ हरे-भरे हैं। ऐसे ही एक पहाड़ पर हरी घासों से ढका यह स्मारक चबूतरा है। दूसरे देश में यहां सीमेन्ट पत्थर की कोई चीज खड़ी की जाती, पर चीन प्रकृति के समीपतम रहने वाली कला को ही पसन्द करता है। बीच में हरा चबूतरा है। चारों तरफ देवदार के वृक्ष लगाये गये हैं, जो अभी बहुत बड़े नहीं हैं, लेकिन कुछ वर्षों बाद विशाल हो जायेंगे। नानकिङ् के लोग अक्सर इस सुभूमि

में आते हैं। वहां से पहाड़ ही पहाड़ के रास्ते हम उस सड़क पर आ गये, जो डाक्टर सन यात-सेन की समाधि को जाती है। इस सड़क के दोनों किनारे चिनार के वृक्ष लगे हैं, जिनकी शाखाएं मिलकर प्राकृतिक मेहराब जैसी मालूम होती हैं। डाक्टर सन यात-सेन की सभी वसीयतों का च्यांग काई-शेक दुश्मन था, यद्यपि वह अपने को उनका एकमात्र उत्तराधिकारी कहता था। डाक्टर सन यात-सेन की पत्नी की बहन और सबसे बड़े चीनी धनिक की लड़की उसकी पत्नी थी। इस सम्बन्ध तथा थैलीशाहों की अनन्य-भक्ति च्यांग को ऊंचा उठाने में कारण बनी। डाक्टर सन यात-सेन की शवाधानी पेकिङ् के पास एक बौद्ध विहार में रखी गयी थी, यह हम बतला आये हैं। च्यांग ने १९२६-१९२९ के तीन वर्षों में उनकी समाधि बनवायी और उसमें उनके शव को ला कर स्थापित किया। चिनारों वाली सड़क हमें वहां ले गयी। पर्वत वक्ष में एक ढलुआं, काफी लम्बी-चौड़ी जमीन है। यह सुन्दरतम स्थान है, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन च्यांग ने जो ईंट-सीमेंट का मार्ग तैयार किया, वह बिल्कुल भद्दा लगता है। ठीक समाधि के स्थान में जाने के लिए चढ़ाई चढ़नी पड़ती, इससे मैं वहां नहीं जा सका। कमला, जया श्री चेङ् के साथ वहां गये। मालूम हुआ कि एक हाल में संगमरमर की कब्र है, जिसके ऊपर भी उनकी संगमरमर की मूर्ति लेटी हुई है। शान्त, एकान्त रमणीय हरा-भरा यह स्थान नगर से १०-१२ किलो-मीतर पर है। आने-जाने के लिए बसें बराबर मिलती हैं।

वहां से हम ज्योतिष सम्बन्धी वेधशाला में गये, जो काफी ऊंचे पहाड़ पर है। सड़क अधिक चौड़ी नहीं है और टेढ़ी-मेढ़ी भी है। वहां कई नये मकान बने हुए हैं। वेधशाला आधुनिक ढंग की है। लेकिन उसके पास ही चीन के पुराने वेधशाला-सम्बन्धी धातु के यंत्र रखे हुए हैं। वहां के अधिकारी हरेक चीज से परिचय कराने की कोशिश करते हैं।

छी-शा-स्स

यह चीन के दर्शनीय पुराने बौद्ध विहारों में है। दक्षिणी छी वंश (४९९-५०२ ई०) में इसकी स्थापना हुई। जिस सुन्दर रमणीय हरे-भरे पर्वत

की कुक्षि में यह घुसा हुआ है, उसका नाम मिङ्-सङ्-साउ है। बाहर कमलों वाली कई पुष्करणियां हैं। विशाल बिहार में २१ से ६२ साल की उम्र के ४० भिक्षु रहते हैं। बिहार में खेत भी हैं और पास में बन भी। भिक्षुओं की जीविका के ये मुख्य साधन हैं। नान्-किङ् के चारों ओर १२ कम्यून हैं, जिनमें एक यहां तक फैला है। नगर से यहां तक ४० किलोमीतर की सड़क है, जो बरसात के कारण उतनी अच्छी नहीं थी, तो भी कार के जाने में कोई दिक्कत नहीं हुई। इस दिशा में यही पहाड़ नान-किङ् के समीपतम है। १३०० बरस पुराने इस बिहार में बहुत सी राष्ट्रीय महत्व की बस्तुएं हैं। इसलिए इसके संरक्षण और मरम्मत की जिम्मेवारी सरकार ने अपने ऊपर ले रखी है। बिहार के भीतर ही एक छोटे शैल में सहस्र बुद्ध गुहाएं हैं। यहीं छठी शताब्दी का बना ५० फुट ऊंचा स्तूप है, जिसकी मरम्मत दक्षिण थाङ् काल में हुई थी। बिहार के संस्थापक के पुत्र ने अक्षोभ्य बुद्ध के लिए एक विशाल पत्थर का मंदिर बनवाया था। पुरानी मूर्तियों और गुहाओं को जहां क्षति होने की संभावना है, वहां सीमेन्ट की रक्षाकवच बना दी गयी है। नाना देशों के यात्री इस बिहार को देखने आते हैं। उस बादल बर्षा के दिन में एक दर्जन से अधिक योरोपीय नर-नारी आये हुए थे। बिहार के कितने ही घरों में रहने के लिए कोई नहीं था। उनमें अब लोह खान में काम करने वाले मजदूर रहते हैं। आसपास के पहाड़ लोहे से भरे हैं।

दिन वर्षा का ही नहीं, बल्कि अधिक शीतल भी था। नगर लौटकर ५१ वर्ष पहले स्थापित हुए प्रेस को देखने गये, जिसमें चीनी त्रिपिटक के ब्लाक थे। संचालक श्री लू और व्यवस्थापक ने उसे दिखलाया। श्रद्धालु पुरुष यंग ने इसकी स्थापना की थी। उद्देश्य था चीनी भाषा में अनुवादित सभी बौद्ध त्रिपिटक को छापकर सुलभ करना। एक लाख से अधिक ब्लाक थे। च्यांग के २२ वर्ष के शासन में इस संस्था को नाम शेष करने में कोई कसर उठा नहीं रखी गयी। मकानों पर दूसरों ने अधिकार कर लिया, कितने ही ब्लाकों को लोग इधर-उधर उठा ले गये। मुक्ति (१९४९) के बाद इस ओर ध्यान गया। श्री लू बड़े विद्वान हैं। उन्होंने बतलाया, सिर्फ ४० हजार ब्लाक रह गये थे। ढूंढ-ढूंढकर बाकी ब्लाकों को जमा किया गया। अब उनकी संख्या १ लाख २० हजार है। यहां से छाप कर

चीनी त्रिपिटक या उसकी पुस्तकें दूसरे शहरों में भेजी जाती हैं। स्वेन-चाङ् के सारे ग्रन्थ यहां मुद्रित होते हैं।

कमरे सभी स्वच्छ थे। सभी काम सुव्यवस्थित चल रहा था।

२२ अक्तूबर को कल से हालत कुछ ही बेहतर थी। साढ़े ८ बजे सबेरे हम म्यूजियम देखने गये। संचालिका कुमारी चन चाउ-वे म्यूजियम से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं की विशेषज्ञा हैं। सामग्री को जिस सुव्यवस्थित ढंग से रखा गया था, उसी से उनकी पंडिताई का पता लगता था। च्यांग काई-शेक के समय इस म्यूजियम का आरंभ हुआ था। मुक्ति के बाद कई इमारतें बनायी गयीं। जापान के कब्जे के समय इन हालों और मकानों में सिपाही रहते थे। जापानियों के भागने पर च्यांग आ बैठा। पर उसने म्यूजियम को नहीं खुलवाया। जब वहां से भागने लगा, तो म्यूजियम की बहुत सी बहुमूल्य सामग्री ताइवान (फारमूसा) ले गया। जो रहीं वह कोठरियों में बन्द थीं। मुक्ति के बाद म्यूजियम का उद्घाटन किया गया। आजकल यहां २ लाख वस्तुएं हैं। दिन-दिन उनकी संख्या बढ़ रही है। नई इमारतें, नये रेलपथ और सड़कें जहां भी जा रही हैं, वहां जमीन के भीतर से ऐतिहासिक महत्व की चीजें निकल रही हैं। कुमारी चन ने पुरापाषाण, नवपाषाण, पित्तलताम्रयुग, लौहयुग आदि के क्रम से वस्तुओं को लगाया था। इधर नवपाषाण युग ६००० से १००० ईसा पूर्व तक रहा। लौह युग का आरंभ ६०० ईसा पूर्व में हुआ। एक कमरे से दूसरे कमरे में घुसते सभी वस्तुएं सामने आ जातीं। सारी वस्तुएं अभी परिदर्शित भी नहीं की गयी हैं। उनको देखने के लिए हमारे पास समय भी नहीं था।

वहां से हम कोच्वी-निर्माणशाला देखने गये, जिसका थोड़ा सा जिक्र हम कर चुके हैं। इस महत्वपूर्ण कला की बहुत सी सुन्दर विशेषताएं हैं। जिस कारखाने को हम देखने गये थे, उसकी स्थापना मंचू शासन में १८७४ में हुई। उस समय और उससे पहले भी इस रेशमी वस्त्र की दरबारियों और सामन्तों में बड़ी मांग थी। कुओमिन्तांग के शासन काल में पश्चिम की अंधी नकल करना सभ्यता मानी जाती थी, इसलिए कोच्वी की मांग अत्यन्त कम हो गयी। इस कारखाने में यंत्र का उपयोग किया जाता था। मुक्ति के समय ४ पुरानी मशीनें और १७ कमकर रह गये थे। सरकार का ध्यान इस कला की ओर

गया। अब कमकरों की संख्या १ हजार और बुनने की मशीनें ६० हैं। ऐसी ६ फैक्टरियां इस वक्त नानकिङ् में काम कर रही हैं। कमकरों में ६० प्रतिशत स्त्रियां हैं। वेतन ४६ से ६६ युवान मासिक हैं। सस्ते विदेशी, एनीलाइन के रंग पहले चलते थे। अब अनुसन्धानशाला में पुराने ढंग से रंग बनाये जाते हैं। कौन इन वस्त्रों का उपयोग करता है, इसके बारे में भी मालूम हुआ। आजकल हान जाति में इसका प्रचार नहीं है। तिब्बती आदि अल्पमत जातियों के भद्र लोग अब भी इसका व्यवहार करते हैं। दूसरे व्यवहार करने वाले नाटक और सिनेमा वाले हैं। इसका दूसरे भी व्यवहार करें, ऐसा कोई उपाय करना चाहिए। मैंने कहा—आखिर गर्मियों में रेशमी वस्त्र के बुशशर्ट और फ्राक स्त्री-पुरुष व्यवहार करते ही हैं। कुछ थोड़े से परिवर्तन से वे इसे भी स्वीकार कर लेंगे। कारखाने वाले सचमुच ही भविष्य के लिए कुछ चिन्ता प्रकट कर रहे थे। नाटकों की संख्या बहुत अधिक होने पर भी ६ कारखानों के माल का इस्तेमाल नहीं कर सकते। न अल्पमत जातियां ही अपने पुराने भद्रवर्ग और सामन्तों को ज्यादा दिन तक कायम रख सकेंगी।

सान-छिन-स्स

वैसे भी मध्य चीन और दक्षिण बहुत ही हरा-भरा प्रदेश है। आजकल वर्षा बीत जाने पर भी कभी-कभी फुहारें पड़ने लगती थीं। इसलिए सर्वत्र सुहावनी हरियाली दिखाई पड़ती थी। बिहारों की स्थापना सुन्दर स्थानों पर हुई है। यह बिहार एक छोटी सी पहाड़ी जैसी जगह में अवस्थित है। यहां २६ से ७७ वर्ष की उम्र की भिक्षुणियां रहती हैं। १६४४ में मिङ् वंश का अन्त हुआ और मंचू वंश ने शासन संभाला। उस समय एक सामन्त का यहां प्रसाद था, जो मिङ् वंश में सेवा कर चुका था। राज वंश के परिवर्तन के बाद सामन्त भी अपनी भक्ति बदल देते हैं। उक्त सामन्त कुछ अड़ियल सा था। इसने मंचुओं की सेवा स्वीकार नहीं की और यहां एकान्तवास करने लगा। उसने अपने महल को बिहार में परिवर्तित कर दिया। उसमें आजकल भिक्षुणियां रहती हैं। सभी कुछ-न-कुछ

शिक्षिता हैं। स्त्रियों में जान पड़ता है, भक्ति का चिराग देर तक टिमटिमाता है। चीन में भिक्षुओं की संख्या कम हो रही है, पर भिक्षुणियों के लिए वह बात नहीं है।

शाम को हम नानकिङ् की एक मोटर फैक्टरी को देखने गये। चीन में आधे दर्जन से ऊपर मोटर बनाने के कारखाने हैं। वह विदेशी पुर्जों को जोड़ना भर अपना काम नहीं समझते, जैसा कि भारत में होता है। इस कारखाने की संचालिका (डाइरेक्टर) ल्यू थीं। जिस बंगले में आफिस था, वह च्यांग के किसी आफिसर का बंगला था। पास में छोटा सा हौज था, जिसमें कमल भी फूलते होंगे। छत और कड़ियों में कला प्रदर्शन करने की कोशिश की गयी थी। हमारे देश में मोटर का कारखाना बनता तो कम-से-कम ८-१० लाख तो बंगलों-मकानों पर ही खर्च कर दिये जाते। संचालिका ने बतलाया कि काम सीखने वाले को हम २२ से ३२ युवान (४४ से ६४ रुपया) मासिक देते हैं। काम सीख लेने के बाद वेतन ३७ से १२० युवान तक होता है। च्यांग काई-शेक के भागने के समय यह मरम्मत करने की एक वर्कशाप थी। उसी को बढ़ाते-बढ़ाते बड़े मोटर कारखाने के रूप में परिणत कर दिया गया। इस समय कारखाने में ४ हजार मजदूर काम कर रहे हैं। १९५९ में उनकी संख्या ७ हजार हो जायगी। पहले १६ अश्वशक्ति की मोटर बनायी जाती थी, फिर ५० अश्वशक्ति की। अब ७० अश्वशक्ति की मोटरें बनने लगी हैं। इस समय एक प्रकार की लारी बनती है, वह तीन प्रकार की बनने लगेगी। १९५८ में १०० लारियां बनायी गयीं। कारों में एक ऐसी थी, जिसकी सारी बाडी प्लास्टिक की थी। प्लास्टिक ऐसी नहीं, जिसमें आग लग जाये। प्लास्टिक के कारण कार का वजन तिहाई रह गया। उन्होंने बतलाया कि १९५९ में १० हजार लारियां और २० हजार मोटर इंजन बनेंगे। मेरे पूछने पर कहा—इंजनों के मोटे भाग दूसरे कारखानों से ढलकर आते हैं। बाकी सारे पुर्जे यहीं बनते हैं। आगे कारखाने में वह भी ढलने लगेंगे। सारे चीन ने लौह-यज्ञ का व्रत ले लिया है, फिर यह मोटर कारखाना पीछे कैसे हो सकता था? संचालिका ने बतलाया कि २२ अक्तूबर (एक दिन पहले) को हमने ६ टन फौलाद बनाया था, अर्थात महीने में १८० टन फौलाद। संचालिका प्लास्टिक

कार पर बैठाकर हमें मजूरों के निवास दिखाने ले गयीं। जिस कारखाने का उद्देश्य मरम्मत भर करना था, वहां अधिक जगह कैसे हो सकती थी? आस-पास के घरों को तोड़-ताड़कर कारखाना बढ़ा दिया गया था। मजदूर एक मील से अधिक दूरी पर रहते थे। सभी मकान नये और दुमंजिला-तिमंजिला थे। शिशुशालायें और बालोद्यान अनेक थे। हम छेन परिवार का निवास देखने गये। परिवार में सात व्यक्ति हैं, जिनमें पांच काम करने वाले थे। सबका सम्मिलित वेतन २२९ युवान मासिक था। सम्मिलित परिवार का यह अच्छा नमूना था। उनके पास रहने के कमरों के अतिरिक्त रसोई बनाने और पाखाने के एक-एक कमरे थे। मैंने संचालिका से पूछा—कम्यून तो यहां भी आयेगा? उन्होंने बड़े उत्साह के साथ कहा—"हम इसके लिए तत्परता से काम कर रहे हैं।" उस समय तो मालूम होता था कि कम्यून गांवों और शहरों सबमें फैल जायेंगे। कम्यून का आरंभ गांव की साधारण जनता ने किया था। वह अपने तजर्बे से उसपर पहुंची थी। पर शहरों की बनावट अलग होती है। इसीलिए पीछे शहरों में कम्यून स्थापित करने की बात छोड़ दी गयी। मैंने पूछा—"कम्यून में तो अलग-अलग रसोई की गुंजायश नहीं रहती। हर इमारत में परिवार पीछे जो रसोई घर बनाये गये हैं, वह बेकार साबित होंगे।" संचालिका ने कहा—"नये मकानों में हम नहीं बनायेंगे।" छेन परिवार मकान, पानी-बिजली सबके लिए ८ युवान (१६ रुपया) मासिक देता था।

शाङ्है

हम मध्य चीन में घूम रहे थे। नानकिङ् के बाद शाङ्है देखना था। नानकिङ् में तो देवताओं ने दया नहीं दिखायी। अगर बूंदा-बांदी नहीं होती, तो आसमान धूमिल अवश्य रहता। २३ अक्तूबर को सबेरे ८ बजकर ४ मिनट पर जब हमने रेलगाड़ी से प्रस्थान किया, तो आसमान साफ था। यह पहाड़ी प्रदेश नहीं कहा जा सकता, लेकिन पहाड़ों का बिल्कुल अभाव भी नहीं था। देहात देखने में हमारे यहां के उन प्रदेशों जैसा मालूम होता था, जहां धान की खेती ज्यादा होती है। इस धान पैदा करने वाले

प्रदेश में एक ही खेत में से दो फसलें धान की पैदा होती हैं। धान के लिए पानी की आवश्यकता होती है। पहले कैसे करते होंगे, यह नहीं मालूम, पर इस समय तो पानी की वहां भरमार है। सर्वत्र नहरों का जाल बिछा हुआ है। बड़ी नहरों में बड़ी नावें और छोटे स्टीमर चल सकते थे। छोटी नहरों में डोंगियां चल सकती थीं। कुछ छोटी नहरें तो यातायात के लिए नहीं, बल्कि मछली पालने का काम देती थीं। नहरों का धरातल आस-पास के खेतों से नीचा था, इसलिए पानी अपने आप खेतों में नहीं चढ़ सकता था। अगर पानी चढ़ने लायक नहरें बनाते, तो ह्वाङ्हो, ह्नुई, या याङ्-ची जैसी विशाल नदियों के ऊपर पुल बांधकर इन्हें ऊपर से लाना पड़ता। तब दो हजार मील की नहर बनाना आसान नहीं था। हर जगह मौजूद इन नहरों के पानी को किसान इस्तेमाल तो जरूर करते होंगे, पर वह बहुत कष्टसाध्य रहा होगा। आजकल तो बिजली की मोटर लगाकर सीढ़ी सा लकड़ी का यंत्र बैठा देते हैं और रात-दिन पानी नीचे से ऊपर पहुंचता रहता है। मछलियों के लिए ये नहरें पहले भी बड़ी उपयोगी थीं और अब भी हैं।

कितनी ही दूर तक लाइन पर्वत के किनारे-किनारे गयी। फिर सुरंगें आयीं और ट्रेन पर्वतश्रेणी के दूसरे पार जा पहुंची। गांव की खपरैल की छतों, उनके क्यारों और क्यारियों को देखकर कभी बंगाल याद आता और कभी मद्रास।

छै घंटा चलने के बाद दो बजे हम शाङ्है स्टेशन पहुंचे। पहले ही से सूचना मिल चुकी थी, इसलिए लोग स्टेशन पर आये हुए थे। वे हमें चिनचाङ् होटल में ले गये। अंग्रेजों के शासन में यह कैथी होटल के नाम से प्रसिद्ध था। उत्तरी चीन में ग्यारहवीं सदी में खित्तन राजवंश ने शासन किया था, जिसके कारण रूस और मध्यएशिया में चीन को खिताई कहा जाने लगा। हमारे यहां भी नानखिताई प्रसिद्ध है, जिसका अर्थ है खिताई की रोटी। अंग्रेजों ने इसी खिताई को कैथी बना दिया। यह एक विशाल होटल है। हमें १०वीं मंजिल पर १०२१-२२ नम्बर के कमरे रहने को मिले। अभी चार मंजिलें और ऊपर थीं। शाङ्है चीन के भीतर था। पहले वह चीन का नहीं, अंग्रेजों, अमरीकियों, फ्रांसीसियों, दुनिया के

बहुत से साम्राज्यवादी देशों का नगर था। उस समय यहां सबके हिस्से अलग-अलग थे। यह इलाका ब्रिटिश कन्सेशन के भीतर था। आज सारे कन्सेशन समाप्त हो गये। ८० लाख की आबादी का यह नगर अब पूरा चीन का है। चीन का ही नहीं, यह एशिया का सबसे बड़ा नगर है। दुनिया के चार-पांच नगर ही इसके मुकाबले में पेश किये जा सकते हैं। चीन गणराज्य की कारखानों की उपज का पांचवा हिस्सा शाङ्-है में पैदा होता है। इसीसे इसका महत्व समझ में आ सकता है। चीनी संविधान में इसे एक प्रदेश माना गया है। यहां जहाज, मशीनटूल, नाना प्रकार के यंत्र, मोटर, फौलाद, बिजली के यंत्र, रेडियो, छापे की मशीनें, कपड़े, रसायन आदि के बहुत से बड़े-बड़े कारखाने हैं। १९५७ में सिर्फ शाङ्-है ने जितना कपड़ा बनाया, वह इंगलैंड के सारे कपड़े की उपज से अधिक था। शिक्षा के लिए यहां पांच विश्वविद्यालय, १७ कालेज, ८० टैक्नीकल कालेज, ३०० हाई स्कूल, और २७०० प्राइमरी स्कूल हैं। शाङ्-है को मैंने १९३५ में भी देखा था। २२ वर्षों में बहुत अन्तर हो गया है। पिछले ९ वर्षों में जो परिवर्तन हुआ, उसे कहने की आवश्यकता ही नहीं।

मुख्य नगर देखने में कलकत्ता या बम्बई सा मालूम होता है। क्योंकि जिन हाथों ने कलकत्ता और बम्बई को बनाया, उन्होंने ही इसे भी बनाया है। आर्मेनियन डेविड सासून बम्बई की सबसे अधिक कपड़ा मिलों का मालिक था। यहां पर उसका मकान शाङ्-है और एशिया की सबसे ऊंची इमारत थी। सासून अपनी बम्बई की मिलों को मारवाड़ियों के हाथ में बेच पूरा पैसा लेकर भाग गया। पर शाङ्-है से वह एक कौड़ी ले गया होगा, इसमें सन्देह है।

शाम के वक्त नगर देखने के लिए निकले। पहले डाक्टर सन यात-सेन के बंगले में गये। चीन के राष्ट्रपिता डाक्टर सुन कितने ही सालों तक इसी मकान में रहे थे। यह मकान न जाने कितने हाथों में गया होगा। पर शायद दीवारों को बदला नहीं गया। अब छोटी सी फुलवारी से घिरे इस दुमंजिले मकान को म्यूजियम बना दिया गया है। डाक्टर सुन की पत्नी अब भी जीवित हैं। अपने पति के साथ बरसों वह इस मकान में रहीं। बंगले को पूर्व रूप में लाने में उन्होंने बड़ी सहायता की। सभी कमरों को

उसी तरह रखा गया है। फर्नीचर कुछ पुराने मिल गये हैं, नये बहुत कम हैं। डाक्टर सुन की लिखी किताबों का यहां एक बहुत अच्छा संग्रह है। बहुत से पुराने चित्र और फोटो भी स्थान-स्थान पर लगाये गये हैं। हरेक चीनी तरुण बड़ी श्रद्धा से इस जगह आता है। डाक्टर सुन कम्युनिस्ट नहीं थे, लेकिन सोवियत रूस और कम्युनिज्म के प्रति उनकी बहुत आस्था थी। मरने के समय अपनी वसीयत के तौर पर उन्होंने जो पत्र लिखा था, उसमें भी उन्होंने कहा था कि सोवियत से चीन को बहुत आशा है। जब साम्राज्यवादी गिद्ध खिसकते चीन को चारों ओर से घेरे हुए थे, उस समय सोवियत ने ही चीन को खुलकर सहायता दी थी। लेकिन डाक्टर सुन के आंख मूंदते ही च्यांग काई-शेक ने बागडोर संभाल ली; जिसके कारण चीन भीषण गृह युद्ध में दो दशाब्दियों से अधिक तक फंसा रहा।

वहां से हम फ्रेंच बाग को देखते हुए लौटे। इसीके दरवाजे पर टंगी पट्टी पर लिखा रहता—"कुत्ते और चीनी इसके भीतर नहीं जा सकते"। एक दिन यह पट्टी चीन के भीतर लगायी गयी थी। आज के चीनी इसे पढ़कर अपमानित नहीं होते, बल्कि उन्हें गोरे साम्राज्यवादियों की बेवकूफी पर हंसी आती है। होटल से लौटने से पहले शाङ्-है-ताशा होटल में गये। यह १८ मंजिल की ७० मीतर ऊंची शाङ्-है की सबसे ऊंची इमारत है। छत पर से सारा शहर दिखाई पड़ता है।

२४ के पूर्वाह्न यू-फू-स्स (विहार) देखने गये। यहां २६ से ८० वर्ष तक के ६० भिक्षु रहते हैं। इसके बारे में मैंने डायरी में लिखा—"सुन्दर, स्वच्छ, समृद्ध, विशाल वेश्म।" यहां के नायक भिक्षु बड़े पंडित और सुसंस्कृत पुरुष हैं। कला की चीजों में भी रुचि रखते हैं। उन्होंने कितने ही पुराने ग्रन्थ, मूर्तियां आदि संगृहीत किये हैं। विहार के साथ एक दूकान भी है, जिसमें धार्मिक ग्रंथ, पूजा की मूर्तियां, मालाएं आदि बेचने के लिए रखी रहती हैं। यह दूकान स्वयं इस बात की साक्षी है कि बौद्ध धर्म के अनुरागी इस विशाल शहर में काफी हैं।

वहां से हम चिन्-आन्-स्स (विहार) देखने गये। इस विहार का आरंभ तीसरी-चौथी सदी में हुआ था। उस समय शाङ्-है शहर की क्या संभावना हो सकती थी। समुद्र के किनारे एक गांव था, जहां यह विहार

स्थापित हुआ था। दक्षिणी सुङ्-काल (१०वीं-१२वीं सदी) में इसे वहां से यहां स्थानान्तरित किया गया। मन्दिर की मुख्य बुद्ध प्रतिमा ३०० वर्ष पुरानी है। इस बिहार में २४ से ६० बरस की उम्र के तीस भिक्षु रहते हैं। सारे शाङ्-है नगर में १०० छोटे-बड़े बिहार हैं, जिनमें ४० भिक्षुणियों के हैं। २००० भिक्षु और ५०० भिक्षुणियां उनमें रहती हैं। सबसे पुराना शिलालेख सुङ् काल का है, जो यहां सुरक्षित रखा हुआ है। बिहार के बाहर सड़क पर अशोक स्तम्भ की नकल का एक विशाल स्तम्भ है। यह दोनों बिहार तान्त्रिक सम्प्रदाय के हैं। लेकिन चीन और जापान के तान्त्रिक बौद्ध तिब्बतवालों की सी मान्यता नहीं रखते। शाङ्-है नगर में सुखावती, ध्यान, तेनथाई, अवतंसक बौद्ध सम्प्रदायों के भी विहार हैं। किसी समय ये भेद एक-दूसरे के बीच में जबर्दस्त खाई बने हुए थे। अब वह खाई पट गयी है। सभी संप्रदाय बौद्ध एकता को जीवन में अनुभव करते हैं। चिन्-यान्-स्स के नायक छ-सुङ् की अवस्था ६५ बरस की है। वह भी यहां के ख्यातनामा प्रतिष्ठित भिक्षु पंडित हैं।

१९३५ में मैंने शाङ्-है के चापे मुहल्ले को विशेष तौर से देखा था। १९३१ में जापानियों ने बड़ी क्रूरतापूर्वक इस चीनी मुहल्ले का ध्वंस किया था। सिर्फ दीवारें खड़ी थीं। जापानी बमों ने छतों को तोड़ दिया था, न जाने कितने निरीह आदमियों को मारा था। मेरे कहने पर मेजबान मुझे चापे ले गये। पर वहां खंडहरों की नगरी अब नहीं थी। पीछे जब जापान ने चीन पर अधिकार किया, तो उसने भी चापे में बहुत से मकान बनवाये।

अपराहन में फिर नगर देखने निकले। पेकिङ् की तरह यहां भी एक विशाल सोवियत प्रदर्शनी हुई थी, जिसके लिए एक विशाल तथा खूबसूरत इमारत बनवायी गयी। उसे सोवियत ने चीन को अर्पित कर दिया। उसी में जब-तब प्रदर्शनी हुआ करती है। शाङ्-है ५०-५५ लाख से बढ़कर अब ८० लाख की नगरी हो गया है, अतः अब मकान दूर-दूर तक चले जायें, तो क्या आश्चर्य? एक जगह उपनगर में श्रमिकों के लिए ६ ग्राम बसाये गये हैं। शायद ग्राम नाम काव्यमय है, इसीलिए यह नाम दिया गया, नहीं तो यहां दुमंजिले और अनेक मंजिले बहुत से घर हैं। आस-पास में फूल-फल की क्यारियां हैं, जिससे मकान हरे-भरे मालूम होते हैं। शायद इसीलिए

यह नाम प्रसिद्ध हुआ। इन ६ ग्रामों में ४० हजार लोग बसते हैं। दूकान, होटल, रेस्तोरां और नागरिक जीवन के लिए आवश्यक सभी चीजें यहां मौजूद हैं। आठ जगहों में गरम पानी वितरित होता है। टेलीफोन के सात स्थान हैं। शिशुशालायें सात और बालोद्यान चार हैं। बैंक, डाकखाना भी मौजूद हैं। एक परिवार को देखने गये। उसमें पांच व्यक्तियों में दो काम करने वाले थे, जो ८४ और ७० युवान प्रति मास कमाते थे। उनके लिए दो कमरे थे। रसोई का कमरा पड़ोसी के साथ सम्मिलित था। शौचालय अलग था। बिजली-पानी के साथ घर का किराया ६ युवान (१२ रुपया) था। दादी भी जब धर्म में अनुराग नहीं रखतीं, तो पोते-पोतियां क्या रखेंगे। रास्ते में चार हजार आदमियों के रहने लायक इमारतें बनी थीं, जहां पहले झोपड़ियां थीं। मुक्ति (१९४९) से पहले शाङ्है में ६० प्रतिशत लोग रोगी, भूखे और बेकार थे। अब यह बात एक बीती कहानी हो गयी। एक क्लब में गये जिसमें गीत, वाद्य और नृत्य का विशेष तौर से प्रोग्राम होता था। यहीं मुहल्ले वालों ने हमारा स्वागत किया। लोगों की भीड़ तो शायद जया-जेता और उनकी मां को देखने एकत्रित हो गयी थी। अंग्रेजों के शासन के समय शाङ्है में भारतीयों की कमी नहीं थी। हां, भारतीय स्त्री शायद ही कोई आती थी। रात को "ताइवान की एक रात" नाटक देखा। वेशभूषा और अभिनय में यहां नाटक सुन्दर होते हैं।

२५ अक्तूबर को पूर्वाह्न में आसमान कुछ मैला हो गया था। हम फू-तान विश्वविद्यालय देखने गये। फ्रेंच विश्वविद्यालय का वर्ताव अनुचित देखकर कुछ चीनी देशभक्तों ने १९०५ में इसकी स्थापना की थी। जापान के शासनकाल में इसे छुङ्-चिङ् में हटा दिया गया। कुओमिन्तांग के शासन काल में यह कालेज नहीं, गुप्तचरों का एक अड्डा था। १९४८ में यहां के २०० विद्यार्थी जेलों में बन्द थे। १९४९ में मुक्ति के बाद शाङ्है के ४० कालेजों को एकत्रित करके इस विश्व-विद्यालय का निर्माण हुआ। फ्रेंच शासकों ने चेन-तान (पूर्व उषा) के नाम से जो कालेज खोला था, उसीके उत्तर में फू-तान (पुनः उषा) कालेज की स्थापना हुई। १९५८ में इस विश्वविद्यालय में ५२९० छात्र (७६० छात्राएं) पढ़ते थे। मजदूर भी ४०० इस विश्वविद्यालय के विद्यार्थी थे।

अध्यापकों की संख्या ६८५ (३० महिलाएं) हैं। प्रोफेसर का वेतन ८८ से १४४ युवान है। ४१२ सहायक अध्यापक हैं। पाठ्यकाल ५ बरस का है। मजदूरों के लिए कुछ रियायतें हैं। वे मैट्रिक पास न होने पर भी किसी विषय में विशेष योग्यता रखने पर दाखिल कर लिये जाते हैं। विश्वविद्यालय में १० विभाग हैं। साइंस में—भौतिकी, रसायन, प्राणिशास्त्र, गणितशास्त्र। कला में—साहित्य, वैदेशिक भाषा, इतिहास, दर्शन, अर्थशास्त्र और पत्रकारिता। गणित, परमाणु, भौतिकी और रसायन के लिए प्रयोगशालाएं हैं। भाषातत्व का भी प्रवेश होने वाला है। शिक्षा में सार्वत्रिक नियम का पालन किया जाता है, अर्थात १२ महीने में १ महीना छुट्टी, ३ महीना शारीरिक उत्पादक श्रम और ८ महीना पढ़ाई। परीक्षा हमारे यहां की तरह स्मृति की परीक्षा नहीं है, इसलिए बहुत कम विद्यार्थियों के फेल होने की गुंजाइश है। प्रोफेसर वू छाङ्-मिन् आधुनिक इतिहास के अध्यापक हैं। उन्होंने विश्वविद्यालय की जानकारी देने में सहायता की। १९५६ के बारे में बतलाया कि उत्तीर्ण ग्रेजुएटों में आधे अनुसंधान में लग गये। पाठ्यक्रम सोवियत के ढंग का है। परीक्षा में पूर्णांक ५ हैं। उत्तीर्ण छात्र को कम-से-कम ३ अंक लाने होते हैं। ५० प्रतिशत छात्र १५ युवान मासिक छात्रवृत्ति पाते हैं। प्रथम वर्ष में ६० प्रतिशत विद्यार्थी मजदूर वर्ग के हैं। अगली क्लासों में वे ३० प्रतिशत हैं। हरेक विभाग के साथ फैक्टरी लगी हुई है। कांच फैक्टरी में मैंने प्रथम वर्ष के छात्रों को कांच बनाते देखा।

छात्रावास के प्रत्येक कमरे में आठ विद्यार्थी रहते हैं। भोजन में चावल या रोटी विद्यार्थी अपने-आप परोस लेते हैं। साग-सब्जी दूसरों के लिए कम न हो जाये, इसलिए रसोइये देते हैं। सपत्नीक अध्यापक अधिकतर अपने घरों में भोजन करते हैं। सिनेमा और रंगमंच के लिए एक विशाल हाल है। अध्यापकों के लिए एक बहुत बड़ा पुस्तकालय है। उसमें भारत सम्बन्धी बहुत से ग्रन्थ थे। हां, भारतीय भाषा में नहीं थे।

अपराहन में हम यहां के द्वितीय मैडिकल कालेज देखने गये। कमला की तबियत खराब हो गयी थी, इसलिए वह जया-जेता के साथ होटल में रहीं। इस कालेज में २५८२ विद्यार्थी पढ़ते हैं। पहले अमरीकी

और फ्रेंच कालेज थे, जिनको मिलाकर १९५२ में इसकी स्थापना हुई। वहां के प्रोफेसर बतला रहे थे कि योरोपियनों के प्रबंध में इन कालेजों में अंधेरगर्दी मची रहती थी। एक फ्रेंच मिशनरी (धर्म प्रचारक) यहां प्राणि-शास्त्र का अध्यापक था, जिसका प्राणिशास्त्र से कोई सम्पर्क नहीं था। वह फ्रेंच जानता था, फ्रेंच भाषा में प्राणिशास्त्र की पुस्तकें हैं, इसलिए वह अध्यापक होने के योग्य था। प्रोफेसर फैन् रूसैन् अंग्रेजी अच्छी बोल लेते थे और बड़े मजाकिया तौर से ये बातें बतला रहे थे।

कालेज में ७१ प्रोफेसर, ९९ लैक्चरर और १२१ सहायक लैक्चरर, अर्थात कुल मिलाकर २९१ अध्यापक हैं। पाठ्यकाल ५ वर्ष का है। नर्सिंग विद्यालय अलग है, जिसमें १००० छात्राएं हैं। अस्पताल में रोगियों के लिए २०१० चारपाइयां हैं। एक पूरा नगर यहां बसा हुआ है। दर्जनों प्रयोगशालाएं हैं। एक ऐसी औषधि इन्होंने निकाली है, जिसे खिलाने से सूअर प्रतिदिन १ किलोग्राम (सवा सेर) बढ़ जाता है। इसकी सफेद गोलियां मशीन से बनाकर डब्बों में बन्द की जा रही थीं। यहां के इस चिकित्सालय की हाल ही में बड़ी ख्याति हुई। छैं-खड़्· एक लौह-कारखाने का मजदूर था। एक दुर्घटना में उसके सारे शरीर का ९८ प्रतिशत चमड़ा जल गया। डाक्टरों ने कह दिया, इसे नहीं बचाया जा सकता। २०-२५ प्रतिशत चमड़ा जला होता, तो उम्मीद थी। चारों ओर से डाक्टरों पर दबाव पड़ा—"पश्चिमी डाक्टरों के फतवे को मत दुहराओ, अगर उन्होंने ऐसे आहत को नहीं बचाया, तो तुम्हें बचाना होगा। उसके लिए जितना भी जिन्दा चमड़ा चाहिए, हम देने के लिए तैयार हैं।" वह अस्पताल की तीसरी मंजिल पर था। हम वहां गये। चेहरा देखने से यह पता नहीं लगता था कि वह इतने खतरनाक तौर से झुलस गया था। लेकिन शरीर के अंगों को देखने से मालूम हुआ कि कैसी भीषण अवस्था थी। अब वह तकिये के सहारे बैठ सकता था और बातें करता था। पहले वह भयंकर पीड़ा में कराहता रहता था। बिना क्लोरोफार्म के पीड़ा-हटाऊ दवाई देकर शल्य-क्रिया की गयी। चमड़े की चकत्तियां बैठायी गयीं। तीसरे दिन उसकी पीड़ा जाती रही। धीरे-धीरे चिकित्सा ने सभी दोषों को हटाया।

शाङ्-है के पास के भी किसी कम्यून को मैंने देखना चाहा। इसके लिए

हम २६ अक्तूबर को पौने ८ बजे सवेरे यहां से ४५ किलोमीतर दूर पमौ कम्यून गये। इस कम्यून के बारे में मैं अपनी पुस्तक "चीन के कम्यून" में विस्तार के साथ लिख चुका हूं। कई घंटे देखने के बाद हम वहां से १९ मील दूर जिले के हैडक्वार्टर यू-शान गये, जिसकी आबादी ७० हजार है। यहां के सार्वजनिक बगीचे में गये। वहां एक असंभव जन्तु देखने में आया—रोयें वाले कछुए। संस्कृत में शशशृंग (खरगोश की सींग) और कूर्मलोम (कछुए का बाल) असंभव कहा गया है। पर यहां हरे रंग के आध-आध सेर के कई कछुए पानी में डोल रहे थे, जिनकी पीठ पर दो-तीन इंच लम्बे हरे बाल थे।

शाम हो आयी और हमें ६३ किलोमीतर चलना था।

शाङ्-है में २३ से २७ अक्तूबर तक हम रहे। जिस चीज को भी हम देखना चाहते थे, उसके देखने का प्रबन्ध आसानी से हो जाता था। २७ अक्तूबर को पूर्वाह्न में एक कपड़ा मिल देखने गये। शाङ्-है अकेला इंगलैंड जितना कपड़ा बनाता है। यहां मिलें बहुत हैं। इस कारखाने को देखने के लिए हमें नदी पार जाना पड़ा। यहां भी नदी को पुल से पार करने की जरूरत नहीं थी। स्टीमर एक साथ कई बसों और कारों को बैठाकर पार कर देता। हम यहां खुली कार में बैठे हुए थे। नदी पार होते वक्त नीचे की ओर विशाल स्टीमर खड़े थे जो दुनिया के कोने-कोने से माल या पैसेंजर लाते फिरते हैं। शाङ्-है से समुद्र कुछ दूर है, पर यहां की नदी पर बड़ा बन्दर बना है।

अनेक मिलों के स्वामी श्री ल्यू इस समय यहां नहीं थे। उपसंचालक श्री फान ने हमें कारखाना दिखलाया। इस कारखाने की स्थापना १९३८ में हुई थी। १९४९ में १२०० कमकर और ३०,००० तकुए थे। उस समय कपड़ा नहीं बुना जाता था। शहर के भीतर अधिक बढ़ने की जगह नहीं थी, इसलिए १९५१ में कारखाने को यहां लाकर स्थापित किया गया। उस समय १९०० कमकर और ३५,००० तकुए और ६१६ कर्घे थे। १९५८ के अक्तूबर में कमकर २,९००, तकुए ४३,२०० और कर्घे १०९८ थे। तीन पाली में काम होता है। हरेक श्रमिक को साढ़े सात घंटा काम करना पड़ता है। शहर के बाहर खेतों में कारखाने और मजदूरों के निवास बने हैं। शहर

अब पास तक चला आया है। ९० प्रतिशत मजदूर यहीं घरों में रहते हैं। काम सीखनेवाले ३४ युवान और बाकी ६४ से ११० युवान (१२८ से २२० रुपया) तक मासिक पाते हैं। फैक्टरी के भीतर शिशु कोठरियां हैं, जहां थोड़े-थोड़े समय पर माताएं आकर दूध पिला जाती हैं। पास ही प्राइमरी पाठशाला, हाईस्कूल और सेकेंडरी स्कूल भी हैं। फैक्टरी के अस्पताल में ४ डाक्टर और २६ नर्सें, २ प्रसूतिगृह हैं। ६० रोगियों के लिए चारपाइयां भी मौजूद हैं। क्लब भवन बहुत विशाल है। इसमें नृत्य, गीत, नाटक और सिनेमा दिखाये जाते हैं।

उत्पादन के बारे में श्री फान ने बतलाया—१९५७ में २५,००० गांठें तैयार हुई थीं। १९५९ में साढ़े ७ लाख गांठें बनायी जायेंगी। कारखाना अत्यन्त उपयोगी सिर्फ चार प्रकार के बहुत मजबूत वस्त्रों को बनाता है। रंगने का अभी इन्तजाम नहीं है, लेकिन जल्द ही वह भी होनेवाला है। रूई की गांठ आने से लेकर कपड़ा तह होकर गांठ में बंद होने तक सभी काम यंत्रों द्वारा होता है। इसलिए उत्पादन अधिक होना स्वाभाविक है। सभी कमरे तापनियंत्रित हैं। हवा में उड़नेवाले रूई के रेशों को चूस लेने वाले यंत्र लगे हैं। चीन कपड़ा उत्पादन में बहुत आगे बढ़ गया है। इन्डोनेशिया, मलाया, बर्मा, इन्डोचायना आदि में चीनी माल के आने के कारण जापान में त्राहि-त्राहि मच गयी है। जापान इन्हें पहले अपना बाजार मानता था। भारत का भी कपड़ा इन देशों में जाता था, जिसे १९५८ में भारी धक्का लगा। चीनी माल का मुकाबला करना पूंजीवादी देशों के लिए बहुत मुश्किल है। चीनी कारखाने बढ़िया कपड़े ही बाहर भेजते हैं। पूंजीवादी देश इसकी तरफ उतना ध्यान नहीं देते। फिर दाम में भी चीनी कपड़ा इतना सस्ता होता है कि उसका मुकाबला करना मुश्किल है।

हम फैक्टरी की विशाल भोजन-शाला देखने गये। यहां १२ युवान (२४ रुपया) मासिक में तीनों जून का पेट भर भोजन मिलता है। अविवाहित मजूर-मजूरिनें यहीं भोजन करते हैं।

श्री ल्यू इस समय किसी काम में व्यस्त थे, इसलिए अपनी फैक्टरी में नहीं मिले; पर शाम को बौद्ध बिहार में हमारा भोज था, वहीं वह आ गये। उम्र ६० वर्ष से ज्यादा होगी। शाङ्-है में इनकी २७ मिलें थीं। वह

आपबीती बतलाने लगे—कम्युनिस्टों के आने पर मैं डर के मारे हाङ्-काङ् भाग गया। वहीं मालूम हुआ कि कम्युनिस्ट कारखानों को उनके मालिकों के ही हाथों में रहने देते हैं। मेरे कारखाने मुझे मिल गये। सरकार ने कहा—प्रबन्ध में सरकार, मजदूर और मिलमालिक तीनों के प्रतिनिधि रहेंगे। मुनाफे की दर निश्चित होगी। पर सरकार उत्पादन के सारे माल को खरीद लेगी, खरीदार ढूंढ़ने की जरूरत नहीं होगी। उन्होंने बतलाया—हमारे कारखानों की बहुत सी मशीनें पुरानी हो गयी थीं, जिनको बदलने की अवश्यकता थी। हम जिन मशीनों को चाहते, उनको मंगाने का इन्तजाम सरकार कर देती। इस प्रकार कुछ ही वर्षों में हमारे कारखाने नये हो गये। उनकी उपज बहुत बढ़ गयी। मैंने पूछा—आप लोगों ने अपने कारखानों को सरकार को क्यों दे दिया। उन्होंने उत्तर दिया—इसमें सबसे ज्यादा जोर हमारे लड़के-लड़कियों का था। वह कहने लगे—हम तो डाक्टर हैं, इंजीनियर हैं, टैक्नीशियन हैं, हमारी अपनी कमाई हमारे लिए पर्याप्त है। हम नहीं चाहते कि हम शोषक वर्ग के माने जायें। हमने स्वयं देखा कि पिछले कुछ ही वर्षों में देश से गरीबी दूर हो गयी। लोग सुखी हैं। इससे हमें प्रेरणा मिली। हम मिल-मालिकों ने भी प्रचार में हाथ लगाया और लोग तैयार हो गये। इस प्रकार १९५४ में सारे कारखाने सरकार के हाथ में दे दिये गये। सरकार ने सभी पूंजीपतियों को उन्हीं कारखानों में काम दिया। मैं अपने कारखानों का महासंचालक हूं और अपने काम के लिए अधिकतम वेतन पाता हूं। पूंजी के लिए भी मालिकों को साल में रुपया बांध दिया गया है। मुझे भी मिल रहा था, लेकिन इस साल से मैंने उसे छोड़ दिया। मेरे नौ बच्चे हैं। छौ लड़के अपने-अपने कामों में लगे हैं। कोई इंजीनियर है, तो कोई डाक्टर है। लड़की का भी ब्याह हो गया है। दो लड़के हाई स्कूल से निकलकर कालेज में पढ़ रहे हैं। दो-चार वर्षों में वे भी काम करने लग जायेंगे। मुझे और पैसे की आवश्यकता नहीं। इसीलिए मैंने मिलों के बदले मिलने वाले पैसों को लेने से इन्कार कर दिया है। श्री ल्यू पार्लिया-मैन्ट के मेम्बर हैं और देश के निर्माण में सक्रिय भाग लेते हैं। शाङ्-है में ५ हजार पूंजीपति थे, जिनमें से बहुत थोड़े देश से भागे।

अपराह्न में हम छू-शिन कारखाना देखने गये, जहां जहाज बनते हैं। हमारे यहां के हरेक कारखाने में सबसे भयंकर चीज है, उच्च कर्मचारियों के वेतन के रूप में लूट, जब कि चीन में बड़े-बड़े विशेषज्ञ भी दो-ढाई सौ युवान मासिक से अधिक नहीं लेते। वहां का मजदूर भी अच्छी तरह रहता है। इन खर्चों के कम होने से बाकी सारा पैसा कारखाने में लगता है। यह जहाजी कारखाना नदी के किनारे है। इसमें २,००० मजदूर काम करते हैं। १९५२ में यह राष्ट्रीय हुआ। उस समय यहां सिर्फ १६० मजदूर काम करते थे। अब तो १३० स्त्रियां ही काम करने लगी हैं। यह ८० दिन में एक स्टीमर तैयार कर देता है। तीन स्टीमरों को हमने बनने की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में देखा। १९५१ में यह कारखाना स्टीमरों की मरम्मत के लिए स्थापित किया गया था। उस समय ४०,००० वर्गमीतर से अधिक इमारतें नहीं थीं, अब लाख वर्गमीतर से भी अधिक हैं। २५० अश्वशक्ति के इंजन यहां तैयार होते हैं। अपना बहुत सा फौलाद कारखाना स्वयं बनाता है। उसके लिए वह देहात के लौह-यज्ञ में उत्पादित कच्चे लोहे को खरीद लेता है। काम सीखने वालों का वेतन २० युवान और दूसरों का ४९ से १२३ युवान है। नदी के किनारे इतनी जमीन नहीं है कि मजदूरों के लिए मकान बनाया जा सके। इसलिए वे शहर में रहते हैं।

रात्रि-भोजन बौद्ध बिहार में था। बौद्धभिक्षु कट्टर निरामिष भोजी होते हैं, इसलिए वहां दस-बारह प्रकार के निरामिष भोजन तैयार थे। सभी स्वादिष्ट थे। छौंकने-बघारने में तेल का उपयोग किया गया था। चर्बी आमिष में गिनी जाती है, इसलिए उसका व्यवहार नहीं हो सकता।

शाङ्-है को मैं १९३५ में देख चुका था। नगर में परिवर्तन अत्यधिक था। पहले के धनियों, भिखमंगों-गरीबों का अब कहीं पता न था। शाङ्-है वेश्याओं, जुआरियों और गुंडों का जबर्दस्त अड्डा था। दुनिया भर की जातियों की—योरोपियन और एशियाई—वेश्याएं यहां कई हजार की तादाद में रहती थीं। अक्तूबर क्रान्ति के समय भागे हुए रूसियों की लड़कियां काफी संख्या में यहां वेश्यावृत्ति करती थीं। वेश्यावृत्ति का उच्छेद केवल साम्यवादी देश ही कर सकते हैं। वेश्याएं तो उसी समय अस्तित्व में आयीं जब कि समाज में अमीर-गरीब का भेद हुआ।

कमला का कहना था कि चीन में सबसे अधिक सुन्दर स्त्रियां यहां देखने में आयीं। यद्यपि अब सर्दी आ चुकी थी, पर यहां स्त्रियों की पोशाक में विविधता थी।

हङचाउ

२८ अक्तूबर को पौने ७ बजे हम रेल से हङ्‌चाउ के लिए रवाना हुए, जो यहां से सवा ४ घंटे के रास्ते पर है। नानकिङ्‌ से शुरु हुआ दृश्य यहां भी दोहराया जा रहा था। यह भी नहरों का प्रदेश है। रास्ते में पटसन और गन्ने के भी बहुत से खेत मिले। ऐसा लगा मानो हम पूर्वी भारत में आ गये हैं। जया के कम्पार्टमैन्ट के पास ही उसी उम्र की एक जर्मन लड़की थी। दोनों एक-दूसरे की भाषा को नहीं समझती थीं, लेकिन खेलते-खेलते दोनों में दोस्ती हो गयी। रास्ते के स्टेशनों पर लौह-यज्ञ सब जगह चल रहे थे।

११ बजे ट्रेन हङ्‌चाउ स्टेशन पहुंची। धार्मिक विभाग के प्रतिनिधि श्री चाङ्‌ स्टेशन पर ही मिल गये। नगर के भीतर से होकर हम हङ्‌चाउ के महासरोवर के किनारे पहुंचे। फिर उसके किनारे होते पंचमंजिले हङ्‌चाउ होटल के ३११ नम्बर के कमरे में गये। होटल पहाड़ की जड़ में है। उसके सामने थोड़ी ही दूरी पर विशाल सरोवर है। शी-हू (पश्चिम सरोवर) और चारों तरफ के हरे-भरे पहाड़ इस शहर को सुन्दरतम बनाते हैं। हङ्‌चाउ की आबादी ११ लाख है। सरोवर को स्वच्छ रखने में कितनी मेहनत करनी पड़ती होगी? सरोवर की पेंदी बहुमूल्य खाद से भरी हुई है। उसे बेकार नहीं रहने दिया गया है। खोदनेवाले यंत्र लगे हैं, जो पेंदी की कीचड़ को खोदकर मोटे पाइपों द्वारा किनारे पर बने बड़े-बड़े क्यारों में भर देते हैं। पानी निथर जाता है। जब कीचड़ सूख जाती है, तो लारियों पर लादकर उन्हें खेतों में डाल दिया जाता है। हङ्‌चाउ कभी चीन की राजधानी था। नवीं शताब्दी में यह हू वंश की राजधानी था। ११वीं-१२वीं शताब्दी में उत्तरी चीन पर तातारों का अधिकार रहा। उस समय स्वतन्त्र चीन के सुङ्‌-वंश की यही राजधानी था। नगर २१०० वर्ष पुराना है, पर उसकी प्रसिद्धि ७वीं सदी से हुई। आजकल यह २ करोड़ ४० लाख आबादी वाले चे-चाङ्‌

प्रदेश की राजधानी है। दस्तकारी में यह नानकिङ् की तरह ही विख्यात है। अब तो बहुत से नये-नये कल-कारखाने यहां खुल रहे हैं।

होटल बहुत ही सुन्दर है। थोड़े ही नीचे उतरकर पक्का घाट आ जाता है, जहां नौका-विहार के लिए नावें मिल जाती हैं। हम तीन बजे नाव पर चढ़े। जया-जेता बड़े कौतूहल के साथ देख रहे थे। शाङ्‌है और नानकिङ् में वे स्टीमर से नदी पार हुए थे, उसमें पानी का स्पर्श सीधे नहीं हो सकता था। पेकिङ् के ग्रीष्म-प्रासाद में जलस्पर्श अवश्य हुआ था। पर वहां शी-हू की तरह का आकर्षण नहीं था। चारों तरफ मकान हैं। यद्यपि उनका क्रम लगातार नहीं है। सरोवर में अनेक द्वीप हैं। कहीं-कहीं सौन्दर्य बढ़ाने के लिए पत्थर के दीपस्तम्भ भी स्थापित हैं। हम घूमते-घामते पीतनाग गुहा देखने गये। चीन में नागों की बहुत सी कहानियां प्रसिद्ध हैं। नागमूर्ति वहां की कला में प्रधानता रखती है। कालीन और सुई के काम में भी नाग अंकित होते हैं। चीनी सम्राटों का लांछन नाग था। हमारे हिमाचल की तरह चीन में भी नाग जल के रक्षक देवता हैं। गुहा देखते हम सरोवर के किनारे गये। वहां बांस की छत, बांस के खंभे, और बांस की ही सब चीजों की खुली बारादरी थी। वहां मेज और कुर्सियां भी बांस ही के थे। सैंकड़ों आदमी बैठे सरोवर और पर्वतस्थली के मनोरम दृश्य को देखते चाय, सोडा, मदिरा आदि पी सकते थे। बांस के शिल्प में चीन का कोई मुकाबला नहीं कर सकता। हमारे यहां भी बांस बहुत होता है। बंगाल में उसका व्यवहार मकान बनाने में काफी किया जाता है। कितने ही मकानों की दीवारें भी बांस के चांचर की होती हैं। पर, यहां तो वह किसी भी मूल्यवान काष्ठ का स्थान ग्रहण करता है। हजारों प्रकार की चीजें इससे बनती हैं।

२६ अक्तूबर को मौसम बहुत अनुकूल था। गर्मी का कहीं पता नहीं था। हम नाश्ते के बाद यहां के सबसे पुराने और सबसे बड़े विहार लिन्-यिन्-स्सा को देखने गये जिसकी स्थापना ३२६ ईसवी में भारतीय भिक्षु हुइ-लिन् ने की थी। सरोवर से थोड़ा पहाड़ के भीतर जाने पर वह मनोरम स्थान आता है, जहां विहार अवस्थित हैं। बंगाल के पहाड़ के पत्थरों में अनेक मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। कुछ खुदी हुई गुफाएं भी हैं। पुराने विशाल वृक्ष इसकी शोभा बढ़ाते हैं।

पिछले १६०० वर्षों में अनेक बार बिहार की मरम्मत हुई। सबसे पिछली बार १९५२ में वह आरंभ हुई। विशाल बुद्ध प्रतिमा जीर्ण-शीर्ण होकर टूट-फूट गयी थी। कम्युनिस्ट सरकार ने चीनी संस्कृति के इस महान् प्रतीक को ऐसी अवस्था में रहने देना नहीं पसन्द किया और ७ लाख युवान (१४ लाख रुपया) इसकी मरम्मत पर खर्च हुए। बैठी प्रतिमा साढ़े सोलह मीतर ऊंची है। चीन के चोटी के मूर्तिकारों ने इसका पुनर्निर्माण किया। अंग-अंग के सौन्दर्य के बारे में क्या कहना? पर चेहरे पर सांवला रंग लाने के लिए काफी रंग पोत दिया गया। मैंने पूछा—यह क्यों? जवाब मिला—भारतीय सांवले होते हैं। उन्हें यह मालूम नहीं कि भारत में कोयले से काले आदमी भी होते हैं और नीली आंखों, पीले बालों वाले स्त्री-पुरुष भी कश्मीर और गंधार में मिल जाते हैं। चीनी भाषा में अनुवादित बौद्ध ग्रन्थों के देखने से मालूम हो जाता कि बुद्ध नीली आंखों वाले और अत्यन्त गौर वर्ण के थे। बिहार के नायक ६८ वर्ष के बहुत ही पंडित पुरुष हैं। वह पार्लियामेन्ट के सदस्य भी हैं। उनके बिहार में १९ से ८० वर्ष तक के ५० भिक्षु रहते हैं। मैंने पूछा—अक्सर बिहारों में तरुण भिक्षु नहीं मिलते, इसका क्या कारण है? उन्होंने अपनी राय प्रकट करते हुए कहा—"तरुण भिक्षु बनाना अच्छा नहीं है। उनको शिक्षा-दीक्षा देकर जब ५-६ वर्ष में हम तैयार करते हैं, तो वे चीवर छोड़कर घरबारी बन जाते हैं। मेरा तो मत है कि प्रौढ़ों को ही भिक्षु बनाया जाय, जो गृहस्थी की लालसा पूरी कर चुके हों और बुद्ध की शिक्षा में श्रद्धा रखते हों।" यह बिहार ध्यान सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता है। स्थविर ने हमारी बड़ी अभ्यर्थना की और चलते समय जया-जेता को बहुत सी मिठाइयां दे दीं। कमला ने एक बात को विशेष तौर से मार्क किया। उन्होंने सिर्फ इसी बिहार में एक व्यक्ति को बुद्ध के सामने धूपबत्ती जला माथा झुकाकर वन्दना करते देखा। वह २४-२५ बरस की तरुणी थी। ऐतिहासिक बिहार में दर्शकों का तांता लगा रहता है। स्कूलों-कालेजों के सैकड़ों लड़के-लड़कियां यहां आते हैं। उनके अध्यापक तथा बिहार के पथ-प्रदर्शक वहां की हरेक मूर्ति, हरेक वस्तु पर लेक्चर देते हैं। उस भीड़ में वह लड़की घुटना टेके पूजा कर रही थी। यह सचमुच बड़े हिम्मत की बात थी।

वहां से हम यू-छेन्-स्स (स्फटिक जलविहार) देखने गये। विहार में आगे की ओर बुद्ध और पीछे अमिताभ की मूर्ति थी। सरकार ने इस मन्दिर की भी मरम्मत करवायी। कुंड में मछलियां थीं। इसे स्फटिक जल तो नहीं कहा जा सकता, पर जल परिशुद्ध था। दर्शकों के लिए चाय और पेय का प्रबन्ध था। धार्मिक भावना अब सांस्कृतिक भावना में परिवर्तित हो लोगों को यहां खींच लाती है।

सैनीटोरियम

हङ्-चाउ वस्तुतः बहुत रमणीक और स्वास्थ्यप्रद स्थान है। यहां आदर्श सैनीटोरियम स्थापित किये जा सकते हैं और वह स्थापित हो भी रहे हैं। सरोवर की तरफ के पर्वतपृष्ठों पर तो उन्हें नहीं रखा गया है, किन्तु छेन्-थाङ् नदी की तरफ के पहाड़ों में अनेक सैनीटोरियम बनाये जा चुके हैं। सहस्राब्दियों पहले सरोवर का सम्बन्ध नदी से रहा होगा, पर अब नहीं है। शायद उसी पुराने जलमार्ग पर रेल की सड़क बन गयी है। हम भी उसी के ऊपर से निकाली सड़क से सैनीटोरियम की तरफ चले और पहाड़ों के घेरे को पारकर विशाल नदी के किनारे आये। रेल और सड़क के पुल को पास में छोड़ हम दाहिनी तरफ मुड़े और नदी के किनारे-किनारे ऊपर की ओर चले। शांति स्तूप को लौटते वक्त के लिए छोड़ हम कुछ किलोमीतर आगे जा पहाड़ पर चढ़ने लगे। फिम्-कुङ्-शान् सैनीटोरियम का निर्माण शाङ्-है के मजदूर सभा ने किया है। सभी इमारतें नयी हैं और कई-मंजिला हैं। इसमें २५० रोगियों के लिए स्थान है। अभी २०० (७० स्त्रियां) रोगी यहां थे। संचालिका ने अपनी संस्था का परिचय देते हुए बताया कि यहां १० डाक्टर, १६ नर्सें और बहुत से परिचारक हैं। सभी प्रकार की चिकित्सा-विधियां उपयोग में लायी जाती हैं। कहीं सूर्यस्नान का प्रबन्ध था, तो कहीं अतिकासिनी और रोंतगेन किरणों से चिकित्सा की जाती थी। उन्होंने कहा कि ध्यान से भी चिकित्सा की जाती है। मेरे कान खड़े हो गये—ध्यान से चिकित्सा? उन्होंने बतलाया—मानसिक रोगवालों के लिए ध्यान-चिकित्सा बड़ी लाभदायक सिद्ध होती है। ध्यान करने के लिए

विशेष प्रकार की कुर्सी और पैर रखने के लिए पीढ़े भी उन्होंने दिखलाये। ध्यान से उनका मतलब मन को निर्विषय (विचारों से शून्य) करना होता है। मुझे चीनी बौद्ध संघ के उपाध्यक्ष श्री चाउ फू-छू की बात याद आ गयी। उन्होंने कहा था—ध्यान, बौद्ध धर्म की एक महत्वपूर्ण देन है, जो चीन से विसर्जित नहीं होगा। रोगियों के लिए क्रीड़ा-विनोद के बहुत से साधन हैं। छोटा सा रंगमंच भी है, जहां नाटक होते हैं। कमरे बहुत साफ-सुथरे थे। हरेक में तीन चारपाइयां लगी हुई थीं। आसपास कुछ दूर हटकर बहुत से सैनीटोरियम थे। ये सभी पिछले चार-पांच वर्षों में बनाये गये हैं।

उसी रास्ते से हम फिर लौटे। रास्ते में ही ल्यो-हो-था (षट् शांतिस्तूप) मिला। पर्वत की जड़ में रास्ते से ज़रा ऊपर यह चीन का सबसे ऊंचा स्तूप है, जिसकी ऊंचाई १५.८ मीतर (प्रायः २०० फुट) है। बाहर से यह १३ मंजिला दिखाई पड़ता है, पर भीतर से ७ मंजिला है। कम्युनिस्ट शासन के बाद उसकी सांगोपांग मरम्मत की गयी। स्तूप का निर्माण सन ६७० में हुआ था। ११३२ में पास ही छोटी पाषाण इमारत बनायी गयी थी। ११५६ में बौद्ध सूत्र उत्कीर्ण किये गये। इसका नाम षट् शांति स्तूप क्यों पड़ा? छै शांतियां हैं: मन की शांति, वचन की शांति, कर्म की शांति, लोभ, द्वेष और धन में शांति। पास में कै-ह्वा-स्स विहार है, जिसमें भिक्षु रहते हैं। शी-हू (महासरोवर) के पास न बनाकर उसे यहां बनाने का कारण था। सामने छेन्-थाङ् नदी की विशाल धारा बहती है और परले पार दूर तक समतल भूमि थी। वहां से स्तूप को देखा जा सकता था। यह नदी १२ किलोमीतर से कुछ अधिक जा कर समुद्र में मिल जाती है। होटल तक पहुंचते-पहुंचते शाम हो गयी।

३० अक्तूबर को भी दिन साफ था। पूर्वाह्न में हम तु-जिन्-सन् फैक्टरी देखने गये जिसमें महार्घ रेशम के कपड़े बनते हैं। १९४४ में स्वर्गवासी हुए तू-जिन्-सन् ने इसकी स्थापना १९२२ में की थी। उनके बाद उनकी पत्नी और भतीजे इसके स्वामी थे। १९५४ में चीन के सभी कारखानों की तरह यह कारखाना भी राज्य के संयुक्त प्रबन्ध में आ गया। पहले यह कारखाना नगर से बाहर था। इस स्थान पर एक कपड़े की मिल थी, जिसे स्थानान्तरित कर रेशम का यह कारखाना १९५६ में यहां लाया

गया। तब सिर्फ १२० कमकर काम करते थे, १९५८ में १९०० हो गये, जिनमें आधी से अधिक स्त्रियां हैं। १९५७ में ४६४ मशीनें बुनाई और फूलकारी का काम करती थीं। प्रायः सभी मशीनें बिजली से चलती हैं। २६ प्रकार के रंग-बिरंगे फूल बुनाई के साथ-साथ कपड़े में बनते चले जाते हैं। ज्यादातर असली रेशम का ही व्यवहार होता है। वेतन ४० से १५० युवान मासिक है। कारखाने के भीतर पहले वह कमरा आया, जहां कलाकार फूलों और दूसरी चीजों की आकृति (डिजाइन) तैयार करते हैं। फिर मोटे कार्डबोर्डों पर छिद्र तैयार किये जाते हैं। उसे यंत्र में लगाया जाता और अन्त में बुनाई होती है। सात प्रकार के रंगों से बिजलीचालित मशीनें रंगने का काम करती हैं। यंत्रों में २६ दूसरे देशों के और बाकी सब जापान के बने हुए थे। अब ये यंत्र देश में बनाये जाने लगे हैं। जून १९५९ में ५०० मशीनें तैयार होकर कारखानों में आयेंगी। हङ्-चाउ अपने सुई के काम वाले बेल-बूटों, प्राकृतिक दृश्यों या शबीहों के लिए प्रख्यात है। इस कारखाने में ये सब चीजें बनायी जाती हैं। प्रदर्शनी के कमरे में चीजें सजाकर रखी गयी थीं। कमला ने २५ युवान (५० रुपये) की चीजें खरीदीं, जिनमें हङ्-चाउ का प्राकृतिक दृश्य भी था। १० युवान की रेशमी छतरी की नफासत के बारे में क्या कहना। चीनी शिल्प या कला के महत्व को हम तब समझेंगे, जब दुनिया के किसी सुन्दर नमूने को उसके पास लाकर रखें। कमला ने कश्मीर में सुई के काम का लाल ऊनी हाफ-कोट खरीदा था। यहां उसके पहनने का मौसम था, लेकिन जब वह हाङ्-चाउ की चीजों के सामने आया, तो सचमुच उसकी फूल-पत्तियां अनाड़ियों के हाथों बनी जान पड़ रही थीं।

म्यूजियम चीन के हरेक नगर के लिए अत्यावश्यक चीज है। वहां के शिक्षाशास्त्री जानते हैं कि जो इतिहास का ज्ञान ५० पोथों से नहीं हो सकता, वह म्यूजियम में २ घंटे घूमने से हो जाता है। पुरातत्व सम्बन्धी सामग्री ढेर की ढेर जमीन के भीतर से आजकल निकल रही है। जहां कहीं भी कोई इमारत खड़ी की जाती है, नहर या जलाशय तैयार किया जाता है, वहां जमीन के भीतर से सामग्री बाहर निकल आती है। वस्तुओं को नव-पाषाणयुग, ताम्रयुग, लौहयुग आदि के क्रम से सजाया गया है।

शाम को हम यहां का चुङ्-शान उद्योग विश्वविद्यालय देखने गये। इसका आरंभ १९१७ में छ्यू-शो-था विद्यालय के रूप में हुआ था। १९२७ में नार्मल स्कूल, कृषि कालेज और मैडिकल कालेज को मिलाकर इसे चुङ्-शान् (सुन यात-सेन) विश्वविद्यालय का रूप दिया गया। पहले यह नगर में था। अब उससे कई किलोमीतर दूर हटाकर इसे यहां पहाड़ की ओट में लाया गया है, जहां पहले जंगल था। अभी यहां ६,१५१ छात्र (१,११४ लड़कियां) और ७१५ अध्यापक हैं। १९४६ में यहां छात्र और अध्यापक कुल मिलाकर २,००० ही थे। आजकल इसमें ये आठ विभाग हैं: यंत्र, बिजली यंत्र, औद्योगिक रसायन, सिविल इंजीनियरिंग, धातु कर्म, रसायन, भौतिकी और गणित। सब मिलाकर २५ विषयों की शिक्षा दी जाती है। सभी जगहों की तरह यहां भी पढ़ाई पांच साल की है। विश्वविद्यालय में ६२ प्रयोगशालाएं हैं। चीनी भाषा में सभी विषयों की पुस्तकें तैयार हैं। पर विज्ञान के लिए कोई भाषा पूर्ण नहीं हो सकती, इसलिए रूसी, जर्मन, फ्रैंच और अंग्रेजी भाषा की बहुत सी पुस्तकें पुस्तकालय में हैं। पुस्तकों की संख्या ३ लाख है। विदेशी भाषाओं में रूसी भाषा अधिक प्रचलित है। देश-विदेश से १,५०० पत्र-पत्रिकाएं इस विश्वविद्यालय में आती हैं। जिस पुस्तक को आवश्यक समझा जाता है, उसके अनुवाद के लिए अनुवाद-ब्यूरो है, जो कुछ ही सप्ताहों में पुस्तक का अनुवाद साइक्लोस्टाइल करके यथेष्ट संख्या में दे देता है। छात्रों में ७० प्रतिशत छात्रवृत्ति पाते हैं।

१९५८ से शिक्षा में जो परिवर्तन हुआ है, उसके अनुसार विश्वविद्यालय या कालेज के हरेक विभाग के साथ एक फैक्टरी का होना आवश्यक है। इस विद्यालय में पहले एक बड़ी फैक्टरी थी, जिसमें सभी विद्यार्थी काम कर सकते थे। अब उससे काम नहीं चल सकता। हरेक विभाग के लिए अलग-अलग फैक्टरी चाहिए। पहले की बड़ी फैक्टरी भी अब विशेष फैक्टरी का रूप ले रही थी। वहां की अनावश्यक मशीनें स्थानान्तरित की जा रही थीं। दस-बीस मन तक भारी मशीनों को ढोने के लिए बाहर से कुली नहीं बुलाये गये। सभी छात्र-छात्राएं रबर-टायर की गाड़ियों में रख उन्हें कन्धे में तस्मा डाले खींचे लिये जा रहे थे। विश्वविद्यालय ६,००० से अधिक विद्यार्थियों का होने पर भी अभी आरंभिक अवस्था में है।

३० अक्तूबर को ही हमें क्वान्-चाउ (कान्तन) के लिए रवाना होना था। पर किसी कारण से रेल का टिकट नहीं मिला, इसलिए एक दिन और ठहरना आवश्यक हो गया जिसका उपयोग हमने फुड्-चाउ कम्यून देखने में किया।

शाम होने को आयी, लेकिन कम्यून देखने से मन नहीं भर रहा था, पर हमें सौ किलोमीतर वापिस जाना था। कुछ रात गये हम अपने होटल में पहुंचे।

पहली नवम्बर को होटल के पास यों-फे (११०३-४२ ई०) का मन्दिर देखने गये। यों-फे वीर (राजभक्त) था। प्रधान मंत्री ने विश्वासघात करके शत्रुओं के सामने पराजय स्वीकार की। वीर यों-फे इसे मानने के लिए तैयार नहीं हुआ। प्रधान मन्त्री ने सम्राट को समझाकर यों-फे और उसके पुत्र को मरवा दिया। उस समय तो यह विश्वासघात सफल हो गया, पर इतिहास ने उसके साथ न्याय किया। इस मन्दिर में पिता-पुत्र दोनों की मूर्तियां देवता की तरह पूजी जाती हैं और प्रधान मन्त्री तथा उसके परिवार की मूर्तियों को लोग पीटते हैं। वहां से हम ताउ-ची बिहार देखने गये। दक्षिण सुङ् काल (११-१२ सदी) में ताउ-ची नामक बौद्ध सिद्ध ने यहां अपनी सिद्धि प्रदर्शित की। एक कुएं के भीतर से उसने इतनी लकड़ी निकाली कि उससे पूरा बिहार बन गया। अभी भी कुआं मौजूद है और उसमें लकड़ी का टुकड़ा भी तैरता है। लेकिन अब पहले जैसा विश्वास लोगों में नहीं रहा। लोग सिर्फ कौतूहलवश कुएं में झांकते हैं। कहते हैं—इसका क्या सबूत कि यह लकड़ी बाद में कुएं में नहीं डाल दी गयी। ताउ-ची ख्यातिप्राप्त सिद्ध जरूर थे। एक भिक्षु ने उनका चित्र बनाया जो आज भी बिहार में मौजूद है। कहीं से खड़ा होकर देखने पर मालूम होता है कि सिद्ध हमारी ही ओर देख रहे हैं। सैकड़ों स्कूलों के छात्र यहां आते हैं और उन्हें यह कथा सुनायी जाती है। शाम को तीन बजे हम "मुकोयाना" का फिल्म लिया हुआ ओपेरा देखने गये। शायद चीन ही एक ऐसा देश है जहां की स्त्रियां बाकायदा महा-सेनापति नियुक्त होती रहीं और उन्होंने पुरुषों से ज्यादा युद्धक्षेत्र में सफलता प्राप्त की। वीरांगना मुकोयाना आठवीं सदी में पैदा हुई। उसने

बाकायदा सैनिक शिक्षा प्राप्त की। देश के ऊपर शत्रुओं का भय उत्पन्न हो गया। दूसरे सेनापति जब स्थिति संभाल नहीं सके, तो अन्त में सम्राट ने मुकोयाना को सेनापति बनाया। स्त्री हो या पुरुष, उनकी पोशाक चीन में बहुत भव्य हुआ करती थी। महार्घ फूल-पत्ती वाले रेशमी वस्त्र का सारा परिधान होता था। जूते भी बड़े कलापूर्ण होते थे। वीरता सूचक चिह्न सिर पर बारहसिंहे की तरह की पतली लम्बी दो सींगें हुआ करती थीं। सींगें लचकदार किंतु मजबूत होती थीं। चीन में मूंछें इतनी बड़ी नहीं होतीं कि उन्हें मरोड़कर खड़ा किया जा सके। मूंछ मरोड़ने का काम वीर अपनी सींगों को मरोड़कर करते। जेता को चीन के आपेरा और नाटक बहुत पसन्द थे। चीन के सेनापति का अभिनय सींगों के बिना बेचारा कैसे कर सकता? वह वहां से सींग ला नहीं सका और भारत में वह मिलता नहीं। तो भी काल्पनिक निराकार सींगों पर अब भी उसका हाथ चला जाता है।

क्वान्-चाउ (कान्तन) जाने वाली गाड़ी दिन में एक ही बार यहां से जाती है। शाङ्-हैं से चलकर वह रात के डेढ़ बजे पहुंचती। यह समय यात्रा के लिए अनुकूल नहीं है। हम उसी समय स्टेशन पर गये। हम दो पूरे और दो आधी-आधी सीटों के अधिकारी थे, लेकिन जो कम्पार्टमेन्ट हमें मिला, उसमें दो ही सीटें थीं। और जगह जाने की बजाय चारों ने यहीं गुजारा किया।

सबेरे के समय हम च्यांङ्-शी प्रदेश में थे, जो अधिकतर पहाड़ी है। यहां की मिट्टी मद्रास के कुछ भागों की तरह नारंगी रंग की है। यदि खाद-सिचाई का पूरा प्रबन्ध न हो, तो ऐसी भूमि अधिक उर्वर नहीं हो सकती है। गांवों को देखने से मालूम होता था कि यहां के लोग ज्यादा गरीब थे। यद्यपि अब भुखमरी नहीं है, पर कहावत है, "जिन्दगी भर का कोढ़ एक इतवार से थोड़े ही मिटता है"। मकानों को नया कलेवर धारण करने में बरसों लगते हैं, लेकिन अब कम्यून के लिए उतने समय की आवश्यकता नहीं रही। सारा दिन हमें ट्रेन में जाना था। हमारे डब्बे के बहुत से यात्री भी क्वान्-चाउ जाने वाले थे। जया-जेता मुसाफिरों के लिए खिलौने हो गये थे। इन्दू (हिन्दू) नाम में जादू का असर था।

खेत सभी धान के थे। पहाड़ अनेक प्रकार की धातुओं से भरे हैं। आदमी का हाथ करामात दिखलाने के लिए तैयार है, इसलिए च्याङ्-शी प्रदेश के कलेवर बदलने में देर नहीं लगेगी।

क्वानचाउ (कान्तन)

३ नवम्बर को सबेरे हम क्वान-तुन प्रदेश में जा रहे थे, जिसकी आबादी साढ़े ३ करोड़ के लगभग है। राजधानी क्वान-चाउ कान्तन के नाम से प्रसिद्ध है। अब जिन पहाड़ों के बीच से हम जा रहे थे, वे अधिक ऊंचे और हरियाली से ढंके थे। ऐसा सन्देह होता था मानो यह पूर्वी हिमालय का बढ़ा हुआ भाग है। अब लीची, पपीते और केले के पेड़ भी दिखाई पड़ रहे थे, अर्थात हम ऐसे प्रदेश में थे, जहां तापमान हिमबिन्दु से नीचे नहीं जाता, बर्फ नहीं पड़ती। यहां सर्दी उतनी ही होती होगी, जितनी बनारस या प्रयाग में। लीची इसी प्रदेश से हमारे देश में गयी, उसके साथ उसका चीनी नाम भी गया।

दोहपर से कुछ पहले हमारी ट्रेन क्वान-चाउ स्टेशन पहुंची। धर्म-विभाग के दो अधिकारी तथा कुछ भिक्षु-भिक्षुणियां स्वागत के लिए स्टेशन आये थे।

क्वाङ्-तुङ् प्रदेश की राजधानी क्वान-चाउ चीन के आधे दर्जन सबसे बड़े नगरों में है। हाङ्-काङ् इसी प्रदेश का अंग था, जिसे अंग्रेजों ने जबर्दस्ती एक सदी पहले से अपने हाथ में ले रखा है। वह यहां से बहुत दूर नहीं है। यहां काफी गर्मी थी। शहर के बीचोंबीच जाती मोती नदी हाङ्-काङ् के पास समुद्र में मिलती है। किसी समय अंग्रेजी गन-बोट इससे ऊपर बढ़कर चीनियों को आतंकित करते थे। हाङ्-काङ् अब भी अंग्रेजों के हाथों में है। अमरीका के लिए वह फौजी अड्डा सा है, इसे सुनकर कोई चीनी क्षुब्ध हुए बिना नहीं रहता। पर चीन के नेता जानते हैं कि शाङ्-है, ध्यानचिन, दैरन जब साम्राज्यवादियों के हाथ से निकल गये, तो इसे भी निकलने में बहुत देर नहीं लगेगी।

४ नवम्बर को पूर्वाह्न में नदी पार कर हम चुङ्-शाङ्-दाशो

(सन-यात-सेन विश्वविद्यालय) देखने गये। यह शहर से बाहर है। डाक्टर सन यात-सेन ने नगर के भीतर क्वाङ्-तुङ् विश्वविद्यालय स्थापित किया था, जिसे यहां लाकर उन्हीं का नाम दिया गया। इस विश्वविद्यालय में ७ कालेज हैं, जिनमें साहित्य, कृषि, विज्ञान आदि की शिक्षा दी जाती है। मुक्ति के बाद ९ विभाग संगठित किये गये। वे हैं: भौतिकी, रसायन, गणित, प्राणिशास्त्र, साहित्य, इतिहास आदि। विद्यार्थियों की संख्या ३,२०० है जिनमें १५ प्रतिशत लड़कियां हैं। अगले दो वर्षों में ८,००० विद्यार्थी हो जायेंगे। अध्यापक ५१० हैं, जिनमें ८ प्रोफेसर, ५० सहायक प्रोफेसर, ८० लेक्चरर और २०० दूसरे अध्यापक हैं। १० लाख वर्ग-मीतर भूमि विश्वविद्यालय के पास है। पहले अमरीकी मिशनरियों ने इस भूमि को खरीदकर यहां शिक्षण संस्थान बनाया था। पर उस समय उसका पूरा उपयोग कहां से हो सकता था। विद्यार्थियों में ७० प्रतिशत विज्ञान के पढ़ने वाले हैं। मजूर-किसान बच्चों की प्रतिशत संख्या निम्न प्रकार थी:

१९५२	१७ प्रतिशत
१९५८	४७.५ "
१९६२	६० " होगी

अध्यापकों का वेतन ६८ से २८१ युवान तक है और कमकरों का ४० से ६८ तक। क्लर्क ४० से १०० युवान पाते हैं। पुस्तकालय में १२ लाख पुस्तकें हैं। तीस प्रयोगशालाएं हैं। अभी एक ही बड़ी फैक्टरी है। जल्द ही हर विभाग में अलग-अलग फैक्टरी हो जायगी। विश्वविद्यालय में ३४० इमारतें हैं। विश्वविद्यालय के अध्यापकों और कमकरों के बच्चों के लिए २०० शिशुशालाएं, बालोद्यान और ३० प्रारंभिक स्कूल हैं। विश्वविद्यालय की भूमि में १ हजार प्रकार के वृक्ष हैं, अर्थात यह एक विशाल वनस्पति उद्यान है। गरम देशों के सभी तरह के वृक्ष और लताएं यहां देखी जा सकती हैं। आजकल विद्यार्थी रेल की सड़क बनाने गये हुए थे, केवल ८०० यहां मौजूद थे।

विश्वविद्यालय का इतिहास बताते हुए हमारे मेहरबान प्रोफेसर कहने

लगे—१९५२ में नगर के भीतर से यह विद्यालय यहां लाया गया। अमरीकनों ने लिन-नान विश्वविद्यालय के नाम से ईसाई धर्म के प्रचार के लिए इसकी स्थापना की थी। विश्वविद्यालय में रूसी, अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन भाषाएं पढ़ाई जाती हैं, जिनमें रूसी अधिक प्रिय है। रूसी पुस्तकें भी यहां भारी संख्या में मौजूद हैं।

अपराह्न में हम फिर मोती नदी पार हो कागज फैक्टरी देखने गये। १९३३ में इसकी स्थापना हुई थी। १९३८ में जापानी इसकी मशीनों को उठा ले गये। जापान की हार के बाद १९४५ में कुओमिन्तांग ने अधिकार किया। १९४९ तक लूट-खसोट के सिवा अधिकारियों को कोई काम नहीं था। १९३३-४० के बीच कारखाने का उत्पादन ६,००० टन प्रति वर्ष था। १९४९ में कुल मशीनों का २२ प्रतिशत ही चालू था। च्यांग काई-शेक के भागते समय (१९४९) ९० मजूर यहां काम करते थे। १९५७ में २,००० मजदूर काम करने वाले थे, जिन्होंने साल भर में ७०,००० टन कागज बनाया। १९५८ में ६०,००० टन उत्पादन होने वाला था।

यहां अधिकतर न्यूज प्रिन्ट कागज बनाया जाता है, जिसके कच्चे माल वृक्ष, बांस, घास, गन्ने की सीठें आदि यहां बहुत सुलभ हैं। आठ कागज फैक्टरियां चीन में हैं, जो देश की आवश्यकता से अधिक कागज बनाती हैं। चीन का न्यूजप्रिन्ट इतना अच्छा होता है कि भारत के प्रकाशक उसे पुस्तक प्रकाशन में लगाते हैं। मजूरों का वेतन ४० से १२० युवान और विशेषज्ञों का १०० से २०० युवान तक है। फैक्टरी के पास ही सबके रहने के घर बने हैं। प्रति दिन ४,००० मीतर लम्बे, ४,००० मीतर चौड़े, ४,००० मीतर मोटे (४,००० घन मीतर) काष्ठ की खपत इस मिल में है। हमें लकड़ी के छोटे-छोटे टुकड़े करने, उबालकर लेई बनाने, सफाई करने, कागज की पर्त बनाने से लेकर अन्त में चार-चार मन के गोले के रूप में बाहर भेजने लायक कागज की सारी प्रक्रिया दिखलायी गयी। कागज बनाने की मशीनों को अब बाहर से मंगाने की जरूरत नहीं होती। चीन में कागज के कच्चे माल की बहुतायत है, इसलिए वहां जितना चाहे उतना कागज बन सकता है। चीन ने सबसे पहले कागज का आविष्कार किया और आज वह सबसे अच्छे किस्म के कागज बना रहा है।

५ नवम्बर को पूर्वाह्न में हम किसान-आन्दोलन स्कूल देखने गये, जिसमें १९२६ में माओ त्से-तुंग प्रिंसिपल थे। इस स्कूल का नाम लोङ्-मिन-बिन-दुङ्-च्याङ्-शी-शो था। यहां किसान आन्दोलन के लिए कार्यकर्ता तैयार किये जाते थे। १९२३ में देश के टुकड़े-टुकड़े करने वाले सेनापतियों को दबाकर एकताबद्ध करने का काम हो रहा था, जिसमें कम्युनिस्ट और कुओमिन्तांग दोनों दल मिलकर काम कर रहे थे। डाक्टर सन यात-सेन अच्छी तरह समझते थे कि देश की एकता बिना कम्युनिस्टों के सहयोग के नहीं हो सकती। उसी समय क्वाङ्-तुङ् प्रदेश में क्रान्तिकारी शासन स्थापित हुआ। सैनिक शिक्षा के लिए ह्वम्पो सैनिक विद्यालय कायम हुआ। कृषक स्कूल की स्थापना १९२४ में एक कनफूशी मन्दिर में हुई थी। १९२६ में इसका प्रधान पद माओ को दिया गया। इसके बाद ही च्यांग काई-शेक ने देश के साथ गद्दारी की और कम्युनिस्टों के उच्छेद का संकल्प किया। फलस्वरूप यह विद्यालय बन्द हो गया। पर यह एक ऐतिहासिक संस्था थी। इसलिए अब इसे राष्ट्रीय संग्रहालय का रूप दे दिया गया है। आज के प्रधान-मन्त्री चाउ एन-लाई और महान साहित्यकार को मो-जो इस स्कूल में अध्यापक थे। माओ के सहकारी १२ अध्यापकों में से ७ कुओमिन्तांग के हाथों शहीद हुए। ५ आज चीनी शासन के स्तंभ हैं। बारहो के चित्र यहां दीवार पर टंगे हुए हैं। एक शहीद का फोटो चीन में नहीं मिल सका। संयोगवश किसी रूसी विशेषज्ञ ने उसे उतार लिया था। वहां से उसे लाया गया। इस विद्यालय की इमारत और फर्नीचर को बिल्कुल पहले की तरह रखने की कोशिश की गयी है। वही कुर्सियां, वही मेज और वही लेटने के तख्त हैं। सब जगह सादगी का साम्राज्य है। छात्रों के रहने के घरों में भी वही बात है। उनकी बन्दूकें, टोपियां, तिनके के जूते, सभी रखे हुए हैं। किसान आन्दोलन के लिए तैयार किये जानेवाले छात्र यहां सीधा-सादा सैनिक जीवन बिताते थे। माओ की बिल्कुल मामूली कुर्सी और चारपाई भी मौजूद है। भोजनशाला में हुई (चीनी मुसलमान) और बौद्ध भिक्षुओं के लिए खाने-पीने का विशेष प्रबंध था। हुई सुअर नहीं खाते और न बिना हलाल किये हुए जानवर का मांस खाते हैं। बौद्ध भिक्षु किसी प्रकार के मांस या चर्बी को छू भी

नहीं सकते थे। इस नियम का उनके भोजन बनाने में पूरा अनुसरण किया जाता था। कनफूशी मन्दिर की इमारत पहले भी पुरानी थी। बाहर फुलवारी और भीतर काफी विस्तृत आंगन था। बहुत से कमरे थे जिनको संग्रहालय का रूप दिया गया है।

वहां से शहीद स्मारक बाग में गये। १६११ में मंचू वंश को हटाकर चीन में प्रजातन्त्र की स्थापना हुई। मंचू शासकों ने बिना खून से हाथ रंगे अधिकार नहीं छोड़ा। बहुत से प्रजातंत्रवादी क्वानचाउ में मारे गये। उनका स्मारक एक गोलाकार समाधि है, जिसका ऊपरी भाग पत्थर से ढंका हुआ है।

इससे बहुत बड़ी और गोलाकार समाधि १६२७ के कम्युनिस्ट शहीदों की है। इसका ऊपरी भाग हरी घास से ढंका हुआ है। च्यांग काई-शेक ने ६,००० वीरों को मरवाया, जिनमें सोवियत का उपकौंसल भी था। यह स्मारक १६५४ में बनाया गया। शहीदों का बगीचा बहुत विशाल है। वीरों के अनुरूप उसे सजाने की कोशिश की गयी है।

वहां से हम निर्यात प्रदर्शनी देखने गये, जो दूध जैसी सफेद पंचमंजिला इमारत में हो रही थी। चीन में बनी २०,००० वस्तुएं यहां प्रदर्शित की गयी थीं। बर्मा, जावा, तथा पश्चिमी एशिया और योरप के बहुत से सौदागर प्रदर्शनी देखने आये थे। वे एक-एक दिन में कई लाख का आर्डर दे रहे थे। बिजली के हर तरह के यंत्र, छपाई के प्रेस, रेडियो, भारी मशीनें, सभी चीजें वहां मौजूद थीं। बाहर हर तरह की चीनी कारों, ट्रकों और बसों को रखा गया था।

अपराह्न में हम सिलाई मशीन का कारखाना देखने गये, जिसका नाम है दक्षिणी चीन सिलाई मशीन फैक्टरी। बाहर से देखने पर कोई नहीं कह सकता कि यहां ३,००० मजूर (२५ प्रतिशत स्त्रियां) काम करते हैं। अब भी भीतर की इमारतें टिन की छतों वाली और देखने में झोंपड़ियों जैसी मालूम होती हैं। पहले ४४ छोटी-छोटी फैक्टरियां थीं, जिनको मिलाकर तीन बड़े कारखाने बना दिये गये। १६५७ में यहां ४५,००० सिलाई मशीनें बनायी गयी थीं और १६५८ में १ लाख। चीन में २० ऐसे कारखाने हैं। बहुत सारी सिलाई मशीनें बाहर भेजी जाती हैं। भारत की उषा

और दूसरी सिलाई मशीनें भी बाहर जाती हैं। हमारी मशीनें अधिक भारी होती हैं, क्योंकि उनमें अच्छे किस्म का फौलाद नहीं इस्तेमाल होता। चीनी मशीनें पश्चिमी योरप की मशीनों की तरह हल्की और मजबूत होती हैं। बाजार में भारतीय, चीन और जापानी मशीनों का मुकाबला है। योरोपीय मशीनें इस क्षेत्र में बहुत प्रभाव नहीं रखतीं। चीनी मशीनों से मुकाबला करना बहुत मुश्किल है। पूंजीवादी देशों के माल में स्टैन्डर्ड (स्तर) के लिए कोई गारंटी नहीं। दिखाया कुछ जाता है, दिया कुछ जाता है। भारत में तो यह हालत और भी बुरी हो गयी है। चोरबाजारी और रिश्वतखोरी किसी स्टैंडर्ड को कायम रखने में भारी बाधक है। सरकार कोशिश कर रही है, पर जब नीचे से ऊपर तक नौकरशाही और थैलीशाही का बोलबाला है, तो क्या सुधार हो सकता है। इसके मुकाबले में चीनी माल में स्तर निश्चित है। आदमी जिस माल को निर्यात प्रदर्शनी में देखता है, वही ग्राहक को मिलता है। साथ ही उसके दाम में कोई मुकाबला नहीं कर सकता। मुझे उस दिन शाङ्-है के एक डिपार्ट-मैन्ट स्टोर में अपने यहां का बना "भारत" ब्लैड देखकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। हमारे यहां अमीरी दिखानेवाले कितने ही लोग "भारत" पर नाक-भौं सिकोड़ते हैं। उसका अपराध यही है कि एक रुपया वाले सेविन-ओ-क्लाक की जगह वह चार आने में सेवा करने को तैयार है। जो माल जितना सस्ता होगा, उतना ही उसका दूर तक प्रवेश होगा।

वेतन के बारे में मालूम हुआ कि मजूर ४१ से १२६ युवान और विशेषज्ञ ८२ से २०० युवान मासिक पाते हैं। फैक्टरी घनी आबादीवाले मुहल्ले में है। वहां श्रमिकों के घरों के लिए स्थान नहीं है। केवल आधे कमकर कारखाने के आस-पास रहते हैं, बाकी नगर में। इस कारखाने में फौलाद का खर्च बहुत है। प्रति मास १,५०० टन फौलाद लगता है। १९५९ में वह २,००० टन हो जायगा। कच्चा लोहा मंगाकर फौलाद यहीं बनाया जाता है।

क्वान-चाउ में तीन दिन रहे। वह २० लाख से अधिक आबादी वाले नगर के लिए अपर्याप्त था। वहां के कुछ बौद्ध मन्दिरों को भी देखा। संग्रहालय भी सुन्दर और दर्शनीय था।



भारत की ओर

कान्तन से हांगकांग कुछ घन्टों ही का रेल का रास्ता है। वहां से भारतीय विमान मिल सकता था। पर हमें कुनमिङ् से चीनी विमान द्वारा रंगून पहुंचना था। कुनमिङ् के लिए अभी कोई रेल नहीं है। हां, बहुत टेढ़ा-मेढ़ा और कई दिनों का एक रेल मार्ग है। सबसे अच्छा है विमान से कुनमिङ् जाना, जिसमें तीन घंटे से कुछ अधिक समय लगता है। ६ नवम्बर को ७ बजकर २० मिनट पर हमारा विमान उड़ा। नीचे सारी भूमि पहाड़ी थी। सड़कें और नहरें हर जगह जाती दिखाई पड़ती थीं। ३,१०० मीटर (प्रायः १०,००० फुट) के ऊपर विमान उड़ रहा था। सवा घंटे की उड़ान के बाद हम नननिङ् के अड्डे पर उतरे। यह च्वाङ् स्वायत्त प्रदेश की राजधानी है और आबादी २ लाख होने से छोटी नगरी नहीं कही जा सकती। हमें नगर के भीतर जाना नहीं था, पर इतना मालूम था कि च्वाङ् लोग हान-भिन्न जाति के हैं। इनकी भाषा थाई (स्यामी) भाषा से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। सारे च्वाङ् प्रदेश की आबादी २ करोड़ के करीब है, जिसमें च्वाङ् लोगों की संख्या ६६ लाख है। चीन में अल्पमत जातियों में इनकी संख्या सबसे अधिक है। हाल में ही इस प्रदेश को स्वायत्त-शासित प्रदेश बना दिया गया।

कुनमिङ

आध घंटा ठहरने के बाद फिर साढ़े ६ बजे विमान उड़ा और साढ़े ११ बजे हम कुनमिङ् में उतरे। कुनमिङ् की ऊंचाई १९०० मीतर है, अर्थात मसूरी से कुछ ऊंची। अड्डे से कई किलोमीतर की यात्रा करके कुनमिङ् सरोवर होटल में पहुंचे। यह वह होटल नहीं था, जिसमें आते वक्त हम ठहरे थे। यह बिल्कुल नया तथा बहुत ही नफीस होटल था, जिसके फर्श पर युन्नान प्रदेश में मिलने वाले अच्छे संगमरमर लगाये गये थे। सामने से एक चौड़ी सड़क शहर से बाहर की ओर जा रही थी। कुनमिङ् नगर की जनसंख्या ८ लाख है—मुक्ति के बाद वह तेजी से बढ़ी है। शहर के बाहर की ओर विशाल मकान बढ़ते जा रहे हैं। वैसे होता तो कुनमिङ् को जंगली बस्ती कहा जाता, क्योंकि उसका कहीं से रेल का सम्बन्ध नहीं है। लेकिन विमान चारों दिशाओं से यहां आते-जाते हैं। बसें और लारियां भी हर पहाड़ी को लांघती चुङ्किङ्, नननिङ्, आदि ही नहीं, बल्कि रंगून तक जाती हैं। द्वितीय महायुद्ध में बर्मा से कुनमिङ् को मिलाने वाली सैनिक सड़क विशेष तौर से बनायी गयी थी, जिसका उपयोग जापान ने किया। युन्नान चीन के सबसे बड़े प्रदेशों में है, पर आबादी पौने २ करोड़ ही है। यदि आबादी चौगुनी कर दी जाय, तब भी यह घनी आबादी का प्रदेश न होगा। हान (चीनी) के अतिरिक्त यी, तिब्बती, थाई आदि बीस से अधिक जातियां इस परम रम्य पार्वत्य प्रदेश में रहती हैं। आशा तो यह थी कि हम अगले ही दिन यहां चल पड़ेंगे, पर मौसम ने सहायता न की और ७ नवम्बर की जगह हम ६ नवम्बर को कुनमिङ् छोड़ सके। शाम को ही मालूम हो गया कि सिआन से विमान नहीं आया, इसलिए अगला दिन यहीं बिताना होगा।

उस दिन शाम को हम ताक्वन्-नाउ उद्यान और उसके सरोवर को देखने गये। यह कुनमिङ् महासरोवर के अंगभूत कई छोटे-छोटे तालाबों वाला उद्यान है। एक पुराने चीनी जनरल की अश्वारूढ़ मूर्ति उद्यान में स्थापित है। उसे देखकर कुछ आश्चर्य हुआ, क्योंकि पुराने जनरलों ने चीन के साथ बराबर विश्वासघात किया है। पर यह जनरल युवानशिकाई

का विरोधी था, जिसने प्रथम विश्व युद्ध में अपने को चीन का सम्राट घोषित किया था। इसी नेक काम के लिए इसकी मूर्ति यथास्थान रखी गयी है।

कृषि प्रदर्शनी की बात सुनकर हम उसे देखने गये। चीन में प्रदर्शनी सिर्फ शौक के लिए नहीं की जाती, बल्कि उससे लोगों को नकद नफा होता है। केवल युन्नान प्रदेश के आर्थिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली यह प्रदर्शनी थी। प्रदर्शनी का स्थायी महत्व है, यद्यपि जिन कमरों और झोपड़ियों में वह हो रही थी, वे स्थायी नहीं थे। युन्नान में बहुत सी अल्पमत जातियों के स्वायत्त जिलों और दूसरे जिलों के फल, अनाज, जंगल या खनिज उपज को यहां दिखलाया गया था। दीवारों में बहुत तरह की तस्वीरें थीं, जिनसे जनजीवन की झांकी मिलती थी। मन भर से अधिक के कुम्हड़े और सेर भर से ऊपर के आलू रखे हुए थे। जल्दी-जल्दी देखने की प्रदर्शनी नहीं थी, पर गंभीरता का पता दो-चार कमरों के देखने के बाद मुझे लगा।

युन्नान प्रदेश में दो टुकड़े थाई (स्यामी) लोगों के हैं। तेरहवीं सदी के उत्तरार्ध में कई बार असफल होने के बाद कुबलेखां ने इस वीर जाति पर जबर्दस्त आक्रमण किया, जिसका प्रतिरोध करने के बाद भी असफल हो बहुत से थाई वर्तमान थाईभूमि (स्याम), बर्मा और आसाम में भाग गये। आसाम में उन्हें अहोम या असोम कहा जाता था। उन्हीं के कारण इसका पुराना नाम कामरूप बदलकर असम हो गया। थाई कमरे को देखते समय हमें पीले चीवरवाले एक वृद्ध भिक्षु मिले। परिचय कराया गया। वह बौद्ध संघ के उपाध्यक्ष हैं और एक बार चीनी बौद्ध प्रतिनिधि मंडल की बर्मा यात्रा में उनके नेता हुए थे। पालि समझते थे। बतला रहे थे—हमारे यहां स्थविर (हीनयान) निकाय के बहुत से विहार हैं। हम उनमें नई जागृति ला रहे हैं।

मोटे-मोटे गेंडे, केले तथा दूसरी तरह के उत्तरी भारत के फल जहां मौजूद थे, वहां साथ ही कश्मीर के फल भी युन्नान के कुछ भागों में पैदा होते हैं। आधी प्रदर्शनी देख चुके थे कि संचालक को मालूम हुआ। उन्होंने आकर बाकी को दिखलाया। चीनी शिष्टाचार के अनुरूप उन्होंने

कुछ सुझाव देने के लिए कहा। मैंने कहा—हर कमरे के दरवाजे पर जातीय पोशाक में उस इलाके के स्त्री-पुरुष का चित्र होना चाहिए।

उन्होंने बाहर निकलने पर कुछ फल भोज के लिए निमन्त्रित किया। प्रदर्शनी में मैंने फलों को देखकर समझ तो लिया था कि इस प्रदेश में बहुत स्वादिष्ट मेवे पैदा होते हैं। पर यह नहीं मालूम था कि वे ढेर के ढेर हमारी मेज पर रखे जायेंगे। नासपाती सेर-सेर भर की थी। उसके स्वाद के सामने कश्मीर की नाखें भी झक मारती थीं। अजब कोमल मिठास थी। मैंने सोचा, कहीं दूर-दराज स्थान से आयी होगी। पर अगले दिन हम उस इलाके में पहुंचे, जहां इस स्वर्गीय फल का बाजारी मूल्य नाम के बराबर है। अनार भी कंधारी अनार की तरह लाल, बड़े और मीठे थे। जया-जेता ने निःसंकोच हो हाथ साफ किया। पांच-सात नासपातियां कार पर भी पहुंच गईं। कार पर बैठने के बाद जेता ने रोना-धोना शुरू किया—मुझे तो अनार चाहिए। पहले कहा होता, तो अनार भी चार-पांच पहुंच गये होते, लेकिन अब तो हम आफिस से कुछ दूर थे। किसी तरह मनाया गया।

शान-सन्-त्वन्छी

७ नवम्बर का अच्छे से अच्छा इस्तेमाल था, किसी कम्यून को देखना। दिन साफ नहीं था, इसलिए भी हम १० बजे होटल से रवाना हुए। हमारे मित्र श्री चेङ् यहां के लिए मेरी ही तरह नवागन्तुक थे। जिस स्थानीय सज्जन को लिया गया, वह हमें एक दूसरे गांव में ले गये। पहले से खबर नहीं थी, इसलिए संचालक वहां नहीं मिले। फिर सोचा गया, जिले के हैडक्वार्टर चीनिङ् चलें, वहां से किसी कम्यून को देखने चलेंगे। प्रायः २०-२५ मील चलकर हम मुड़े थे। चीनिङ् जिले की आबादी दो लाख है, जो ६ कम्यूनों में बंटी है। यह सभी कम्यून १६ सितम्बर (१६५८) को स्थापित हुए, अर्थात जिस दिन हम गये उससे डेढ़ महीना पहले। जिले के अध्यक्ष श्री ली लिन् ४१ वर्ष के एक कर्मठ कम्युनिस्ट हैं। कुछ ही वर्षों पहले वह निरक्षर किसान थे। लेकिन काम करने में सबसे आगे

रहते थे। काम करते-करते ही उन्होंने अक्षर सीखा, पुस्तकें पढ़ीं, अपनी योग्यता का परिचय दिया और अब गांव के नहीं, बल्कि जिले के निर्वाचित सर्वोच्च अधिकारी हैं। उन्होंने बतलाया कि चीनिङ् नगर की आबादी ८ हजार है। यह कुन-मिङ् से ५१ किलोमीतर दक्षिण में है। इस जिले में यी जैसी अल्पमत जातियां रहती हैं। चीन का यह सबसे दरिद्र इलाका था, यद्यपि इसके पहाड़ों में अपार धन छिपा था। जिले और तान-छी कम्यून के बारे में मैं **चीन के कम्यून** में विस्तार से लिख चुका हूं। उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं। संक्षेप में बात यह है: जिले में ६६.२७८ एकड़ खेती की जमीन है, जिसमें ३६,४१५ एकड़ धान की है। सर्द और पहाड़ी इलाका होने से दूसरे अनाज भी यहां होते हैं। जिले में ५३० शिशुशाला-बालोद्यान, २६५ प्राइमरी स्कूल, ३ साधारण हाई स्कूल हैं। कृषि विद्यालय कई हैं। छुट्टी के समय निरक्षरों को साक्षर और अल्प-पठितों को बहुपठित बनाने के लिए ४०० स्कूल हैं। निरक्षरता यहां से समाप्त हो चुकी है। शायद बहुत बूढ़े-बूढ़ियों में कोई निरक्षर मिले। लौह-यज्ञ यहां भी अखंड चल रहा है। कम्यून सारे जिले में भोजन और वस्त्र मुफ्त देते हैं। शिक्षा, सिनेमा, चिकित्सा, ब्याह, हजामत आदि का खर्च भी कम्यून के ऊपर है।

मध्याह्न भोजन वहीं जिला आफिस में करना पड़ा। फिर एक तरुणी हमारी पथप्रदर्शिका बन शानसन-तानची कम्यून की ओर चली। पहाड़ी रास्ता टेढ़ा-मेढ़ा और बहुत जगह संकरा भी था। आदमी के हाथों ने इसे बनाया था। पत्थर की गिट्टियों को जमाकर पक्का बनाने का प्रयास नहीं किया गया था। हम कम्यून के मुख्य ग्राम तान्-छी में पहुंचे। गांव की आबादी १,२०० है और कम्यून की २३,६७८ (परिवार ६३२०)। इसमें २३ गांव हैं। चीन में सारा हिसाब आपको एक मिनट में मिल सकता है, क्योंकि कम्यून के आफिस में लेखा-जोखा हर वक्त तैयार रहता है। वहां दीवारों पर नक्शों, ग्रामों के नाम ही नहीं, बल्कि कहां कौन चीज पैदा होती है, इसका भी नक्शा टंगा रहता है। उपज किस तरह तरक्की कर रही है, इसका पता देखते ही चल जाता है। संचालक ने बतलाया कि हमारे लोगों में एक हजार यी जाति के भी हैं। सचमुच सारा गांव एक

परिवार जैसा है—जहां प्रति दिन तीन बार पूर्ण भोजन मिलता है। यह मीठी नासपातियों का जिला है। जिला अध्यक्ष ने शिकायत की कि हमारी नासपातियों का खाने के सिवा दूसरा कोई उपयोग नहीं है। बाजार के नाम पर सिर्फ कुनमिङ् शहर है। ८ लाख की आबादी का होने पर भी हमारी सारी नासपातियां वह खरीद नहीं सकता। कोई भी पेड़ से तोड़कर नासपातियां खा सकता है। अब सर्दी का मौसम आ चला था। पत्ते पीले हो गये थे, कुछ गिरने भी लगे थे। छोटे-छोटे नासपाती के पेड़ों में पत्तों की अपेक्षा फल ही ज्यादा दिखाई देते थे। अध्यक्ष ने बतलाया था कि लारी पर बाहर भेजने के लिए चार-पांच दिन चाहिएं। उसमें एक तो किराया बहुत लगता है और बहुत से फलों के सड़ जाने की भी संभावना है। तान्-छी कम्यून के संचालक भी वही शिकायत कर रहे थे। लेकिन कह रहे थे, चुङ्-किङ् से कुनमिङ् रेलवे लाइन आ रही है। हमारे कम्यून से वह ६ किलोमीतर दूर पड़ेगी। हमने सड़क बनाने का निश्चय कर लिया है। जैसे ही खबर आयेगी, तान-छी कम्यून के ११,६६१ कमकर (६० प्रतिशत स्त्रियां) फावड़ा और बेलचा लेकर जुट जायेंगे। आमदनी के बारे में संचालक ने बताया: १९५७ में प्रति परिवार ३२० युवान वार्षिक आमदनी हुई थी, १९५८ में वह ११०० युवान हुई, अर्थात तिगुनी।

चीन में सांवले लोग शायद ही कोई दक्षिण चीन में मिलें। सभी उस रंग के हैं, जिसको भारत में गोरा कहा जाता है। इस पहाड़ी इलाके में लोगों का रंग और भी निखरा हुआ है। हमारे स्टैन्डर्ड से चीन में हजार में एक को ही सुरूप कहा जा सकता है, पर यहां बहुत अधिक सुन्दरता थी, हालांकि यह लोग भी हान (चीनी) जाति के ही हैं। तान-छी गांव के बालोद्यान को देखने गये। ३०-४० लड़के एक बड़े से कमरे में बैठे शाम का भोजन कर रहे थे। सभी के प्याले में भात, सब्जी और सब के दाहिने हाथ में खाने की दो-दो लकड़ियां थीं। तीन बरस के बच्चे भी लकड़ी के इस्तेमाल में होशियार हो जाते हैं। हमें देखते ही एक ओर से आवाज आई—"आओ चाचा खाना खाओ।" मेरा ध्यान कहीं दूसरी ओर था। यह चीन का सबसे गरीब इलाका कहा जाता था, जैसा हमारे यहां गढ़वाल का इलाका है। यद्यपि ये लड़के उतने साफ-सुथरे नहीं थे, जितने

चीन के दूसरे स्थानों में मैंने देखे थे। सर्दी भी यहां अधिक है, शायद गढ़वाल से भी ज्यादा। इसलिए भी कपड़े मैले थे। कुछ के कपड़ों में पैबन्द भी लगी थी। पर जहां तक उनके शरीर और स्वास्थ्य का सम्बन्ध था, देखकर ईर्षा होती थी। यही लड़के अगर आज से नौ-दस बरस पहले होते, तो क्या कभी उनको यह खाना मिलता, जो वह खा रहे थे? २ जून तो अलग रहा, क्या १ जून भी इन्हें पेट भर खाना मिलता? हमारे यहां के गरीब देहातों की तरह इनकी पचासों पीढ़ियां भुखमरी की शिकार हुईं। आज वे बिल्कुल दूसरी अवस्था में हैं। गांव में एक रसोईखाना और एक धोबीखाना कायम हो चुका है। सिलाईखाने में स्त्रियां कपड़े सी रही हैं। दो-चार बरस बाद ही यहां गरम पानी के हम्माम कायम हो जायेंगे। साफ कपड़े बच्चों को मिलेंगे। उस समय ये बच्चे स्वर्गीशिशु जैसे दिखाई पड़ेंगे।

गांव की इमारतें सभी पुरानी थीं। पर अमीरों-गरीबों का अन्तर मिट जाने से किसी को सूअर की खोभार में रहने की आवश्यकता नहीं थी। अभी पुरानी दुनिया की बहुत सी चीजें यहां मौजूद थीं। पर नरनारी सभी काम में लगे हुए थे। १ अस्पताल, ५ डिस्पेंसरी, ३५ डाक्टर और नर्स स्वास्थ्य के लिए कम नहीं होते। हरेक डिस्पेंसरी में तीन रोगियों के रहने का स्थान था। अस्पताल का घर आजकल बन रहा था। तान-छी कम्यून के पहाड़ों में बहुत प्रकार की धातुएं मौजूद हैं। लौह-यज्ञ से लोहा बनाने का काम हो रहा था। अक्तूबर में १०४० टन लोहा और ७० टन फौलाद बना था। तांबा बनाने का काम भी शुरू हो गया, और एक महीने में १ टन बनाया गया। कोयला ७,२०० टन निकाला गया। हमारे जाने के थोड़ी ही देर बाद एक ट्रक लौह-चूल्हे के पंखों को लादे आयी। यह लौह के हजारों चूल्हों के लिए थे। अभी यहां बिजली के पंखे नहीं लगे थे, इसलिए सुधरे हुए हाथ के पंखे लाये गये थे।

वन-महोत्सव का प्रभाव यहां देखने में आया। पहाड़ों के जंगल बहुत कुछ उच्छिन्न हो गये थे, पर अब उन्हें फिर से आबाद किया जा रहा है। एक सुफल यह हुआ कि टेढ़ी-मेढ़ी पहाड़ी सड़कों से होते हमने अजगर के आकार की एक विशाल जलनिधि देखी, जिसको एक ही साल पहले बनाकर

समाप्त किया गया था। जहां पहले नाम मात्र सिंचाई वाले खेत थे, वहां अब ६४.८ प्रतिशत खेत सिंचाई वाले हो गये हैं। जलनिधि एक प्राकृतिक विशाल झील सी मालूम होती थी। उसके किनारे के कुछ गांव पानी में डूब गये, क्योंकि वह निचली भूमि में बसे थे। पर गांववालों को उसकी कोई चिन्ता नहीं हो सकती थी, क्योंकि उन्हें नये मकान मिल गये थे। यह बताया गया कि तीन साल में सभी गांव की इमारतें नयी हो जायेंगी।

लौटते समय दो ही तीन मील चलने पर अंधेरा हो गया और हमें ५० किलोमीतर से अधिक रास्ता अंधेरे में चलकर कुनमिङ् पहुंचना पड़ा।

८ नवम्बर को आकाश बादलों से खूब ढंका हूआ था। विमान कल ही आ गया था। पर सवा ६ बजे सूचित किया गया कि आज उड़ान नहीं होगी। कमला के सिर में दर्द था। अपराह्न में जेता को ज्वर हो गया।

रंगून

६ तारीख को ६ बजे विमान बर्मा के लिए रवाना हुआ। पिछले साढ़े चार महीने की यात्रा में चीन की प्रगति को देखकर जहां आश्चर्य व आनन्द हो रहा था, वहां साथ ही हर जगह ऐसी आत्मीयता मिली थी कि मित्रों को छोड़ना दुखद मालूम होता था।

श्री चेङ् तुङ्-ह्वान की यात्रा छोड़ बराबर मेरे साथ रहे। जया-जेता के लिए वे चेङ् चाचा थे। भाषा न समझने पर भी उनके स्नेह में कोई अन्तर नहीं आता था। जेता का बुखार हल्का था, इसलिए यात्रा स्थगित करने की आवश्यकता नहीं थी। अनेक मित्र हवाई अड्डे तक पहुंचाने आये। साढ़े चार घंटे बाद हमारा विमान रंगून के अड्डे पर उतरा। श्री सत्यनारायण गोयनका और दूसरे मित्र आये हुए थे, पर पहले तो हमें कस्टम से भुगतना था। यह चीन नहीं था कि चुटकी बजाते काम बन जाता। गर्मी भी बड़ी बुरी तरह से सता रही थी। कस्टम के अधिकारियों ने जांच-पड़ताल शुरू की। हमारे टीके के प्रमाणपत्र की मियाद बीत गयी थी। इसलिए उन्होंने रोका। पर पहले ही कलकत्ता के लिए हमारे टिकट खरीद लिये जाने की सूचना मुझे मिल चुकी थी। यह अच्छा

तो नहीं मालूम होता था कि रंगून के एक सप्ताह के निवास को एक-दो घंटे में समाप्त कर दिया जाये, पर टिकट बुक करने की बात सुनकर हमने हां कर दिया। जिस सज्जन ने टीके की बात करके हमें रोकना चाहा, उनसे मैंने कहा कि "हमारा टिकट कलकत्ता का बुक हो चुका है।" फिर तो उन्होंने बड़ी भद्रता से हमें मुक्त कर दिया। कमला के पास थोड़े ही जेवर थे, लेकिन वह भी कवाहत के कारण थे। बहुत पूछताछ और प्रमाणपत्र दिखलाने पर मुक्ति मिली।

खैर, हमने अपने सामान का बहुत सा भाग वहीं छोड़ा और थोड़ा सा लेकर बाहर आये। गोयनकाजी मिले। उनको यह सुनकर दुख होना ही था कि हम दो-ढाई घंटे के ही मेहमान हैं। अपनी कार पर बैठाकर हमें घर ले गये। घर में हमारे लिए भोजन तैयार था। मैंने साढ़े चार महीने और कमला ने एक महीने बाद भारतीय भोजन किया। जेता को सबेरे बुखार था, लेकिन उसने कोई परहेज नहीं किया। श्री पारगू और दूसरे मित्र इस भरोसे में रहे कि मैं यहां हफ्ते भर जरूर रहूंगा, इसलिए वे नहीं मिल सके। गर्मी के मारे तबीयत इतनी परेशान थी कि कहीं जाने-आने को मन नहीं करता था। भोजन के बाद थोड़ा विश्राम करके हम चार बजे से पहले ही हवाई अड्डे पर पहुंचे। फिर कस्टम से उलझना पड़ा। इस वक्त तो कस्टम वाले और भी ज्यादा जागरूक होते हैं, क्योंकि मुसाफिर सैकड़ों तोला सोना या दूसरी चीजें देश से ले जा सकते हैं। वहां देखा भी कि बहुत से भारतीय स्त्री-पुरुष सोने से लदे हुए भारत की यात्रा के लिए तैयार थे। पुरुषों के हाथों में मोटी-मोटी अंगूठियां, सुनहले चेन आदि थे, स्त्रियों के जेवरों के बारे में तो कुछ कहना ही नहीं। शायद पहने हुए जेवर का ख्याल नहीं किया जाता। मुझे याद आयी १४ साल पहले की अपनी यात्रा। लड़ाई के समय १६४४ में मैं सोवियत संघ जाने के लिए कोयटा से रेल पर ईरान के लिए रवाना हुआ। उस समय कपड़े-जूते बहुत महंगे हो रहे थे। ईरान में तो उनका मिलना भी मुश्किल था। कोयटा बिलोचिस्तान में है और पास के ईरानी इलाके में भी बलोचों की बहुत सी बस्तियां हैं। ईरानी और बलोची दोनों फटे चीथड़ों में कोयटा पहुंचते और वहां से खूब बढ़िया सूट एक नहीं दो-दो, कमीज, पाजामे, बूट सारी चीजें

पहनकर लौटते। अधिकारियों को मालूम था, लेकिन शरीर के कपड़े को छीन नहीं सकते थे। वही दृश्य यहां था। इसलिए हमारे जैसे भले मानस की भी नंगाझोरी ली जाये, तो क्या आश्चर्य?

४ बजे विमान ने बर्मा की धरती छोड़ी। बादलों के भीतर से समुद्र और नीचे की भूमि का कोई पता नहीं लगता था। जेता कह रहे थे—"अम्मा, चीन जैसी मौसी यहां क्यों नहीं होतीं"। जेता-जया को चीन में हर जगह मौसियां मिल जाती थीं। विमान पर भी चाकलेट और दूसरी चीजें लेकर पहुंच जातीं। गोद में उठा और चूम कर आत्मीयता स्थापित कर लेतीं। होटलों और कम्यूनों के बारे में तो कहना ही नहीं। वहां सभी जगह मौसियां हाथ बांधे इनके सामने खड़ी रहतीं। बाजारों में जाने पर तो "इन्दू" बच्चों को देखने के लिए भीड़ लग जाती। कुनमिङ् में एक बार इतनी भीड़ लग गयी कि जेता रोने लगे। चीन में सर्वत्र आत्मीयता मिली। भारतीय हवाई जहाज में रूखापन था। यह नहीं कि एयर-होस्टेज ने चाकलेट, टाफी नहीं दी, पर वह देना इस तरह का था जिसे बच्चे पसन्द नहीं करते।

कलकत्ता

६ बजे हमारा विमान दमदम के अड्डे पर उतरा। सामान कस्टम के पास पहुंचा। हमें तो डर लगने लगा कि विधिपूर्वक सारी कार्रवाई होगी, तो इसमें बहुत समय लग जायेगा। उधर गर्मी के मारे तबीयत परेशान थी। श्री अशोक कुमार बर्मन के मकान पर टेलीफोन करना चाहा, लेकिन उसमें सफलता नहीं मिली। अथाह में पड़े हुए थे, पर कस्टम के जिस अफसर के सामने हमारा सामान आया था, वह राहुल सांकृत्यायन के नाम से पूरी तरह परीचित था। सारी दिक्कतें दूर हो गयीं। अशोक जी पर्वतारोहन के लिए कुमाऊं गये हुए थे, लेकिन हमें एक अच्छा कमरा दुमंजिले पर मिल गया। वैसे कलकत्ता आने पर मैं साहु श्री मणिहर्ष ज्योति के यहां ठहरा करता था। पर वहां पंचमंजिले पर जाना पड़ता, जो मेरे स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं था। इसीलिए अबकी स्थान बदलना पड़ा।

रात को बड़े आराम से सोये। कल की कोई चिन्ता नहीं थी, लेकिन